हमारे लेखक

[हिन्दी के तीस प्रसिद्ध लेखकों के जीवन और कृतित्व की आलोचना]

गजेन्द्रसिंह गौड़, एम० ए०

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण सं० २०१३

पाँच रुपया

मुद्रक : रामआसरे कक्कड़, हिन्दी-साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

निवेदन

'Whoever thinks a faultess piece to see, thinks ne'er was, nor is, nor e'er shall be'.

—A Pope Essay on Criticism

'जो कोई भी दोष-रहित रचना देखने की कल्पना करता है वह ऐसी वस्तु की कल्पना करता है जिसका अस्तित्व न था, न है और न कभी होगा।'

—ए० पोप । एसे आन क्रिटिसिज़्म

'प्राचीन कवियों की काव्य-साधना', 'आधुनिक कवियों की काव्य-साधना' तथा 'हमारे कवि' के पश्चात् 'हमारे लेखक' मेरी चौथी आलोचना-पुस्तक है। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण आगरा के श्रीराम मेहरा ने सं० २००७ में प्रकाशित किया था। लगभग दो ही वर्ष में यह संस्करण समाप्त हो गया। हिन्दी-जनता ने इसका जैसा स्वागत किया उससे प्रोत्साहित होकर मैंने इसमें यथोचित संशोधन और परिवर्द्धन किया। अब यह साहित्य भवन, प्रयाग-द्वारा अपने नये रूप में प्रकाशित हो रही है। इसमें विषय की गम्भीरता तथा स्थानाभाव के कारण लेखकों के चित्र नहीं दिए गए हैं। पहले संस्करण में चित्रों ने जो स्थान घेर लिया था उसका उपयोग विषय को कुछ विस्तार देकर कर लिया गया है। इस प्रकार यह पुस्तक पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो गयी है। इसमें हिन्दी के ३० प्रमुख गद्यकारों के जीवन और कृतित्व पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार [illegible]या गया है। जहाँ तक हो सका है, प्रत्येक लेखक की रचनाओं के प्रथम [illegible]शन का समय दे दिया गया है और आज तक की उनकी सभी रचनाओं [illegible] सम्मिलित कर दिया गया है। इसके साथ ही लेखक के जीवन और [illegible]त्व के सम्बन्ध में जो भी नयी बातें ज्ञात हुई हैं उनका भी समावेश कर [illegible] गया है। इस प्रकार प्रस्तुत संस्करण को सर्वाङ्ग सुन्दर, उपयोगी [illegible] सफल बनाने की भरसक चेष्टा की गयी है।

उक्त विशेषताओं के साथ इस पुस्तक का प्रणयन करने पर भी मैं यह दावा नहीं कर सकता कि विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से यह सर्वथा मौलिक रचना है। वस्तुतः यह मेरे कई वर्षों के अध्ययन का परिणाम है। इस सम्बन्ध में मैंने अपने अध्ययन के क्षणों में जिन आलोचकों की रचनाओं से हिन्दी-लेखकों के समझने-बूझने की चेष्टा की है उनका मैंने स्वतन्त्रता-पूर्वक उपयोग किया है। इसलिए उनका मैं हृदय से आभारी हूँ। वास्तव में मैं उन्हीं के अप्रत्यक्ष सहयोग से इस पुस्तक को यह रूप देने में समर्थ हो सका हूँ।

अन्त में मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक से हमारे विद्यार्थियों को हिंदी के प्रमुख लेखकों की रचनाओं को समझने में अवश्य पूरी सहायता मिलेगी।

२४७, मीरापुर
इलाहाबाद—३
वैशाख पूर्णिमा सं० २०११

राजेन्द्रसिंह गौड़

विषय-सूची

हिन्दी गद्य का विकास

: १ :

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द'

जन्म सं० १८८० : मृत्यु सं० १९५२

जीवन-परिचय

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में राजस्थान के प्रसिद्ध रणथम्भौरगढ़ में जैन-धर्मावलम्बी धांधाल नाम का एक प्रमार राजा राज करता था। उसके पुत्र गोसरू ने अपना गोसरू-गोत्र चलाया। सितारेहिन्द का जन्म इसी गोत्र में हुआ था। उनके पूर्वज अमरदत्त शाही समय में दिल्ली में जौहरी का व्यवसाय करते थे। नादिरशाह (सं० १७६३-१८०४) का आक्रमण (सं० १७९५) होने पर जब वहाँ अत्यधिक अत्याचार बढ़ गया तब वह भागकर मुर्शिदाबाद चले गये, पर वहाँ भी उनका रहना न हो सका। नवाब मीर क़ासिम के समय (सं० १८०७-११) में मुर्शिदाबाद में भी अत्याचार होने लगे। अमरदत्त के वंशज राय डालचन्द और जगतसेठ मेहताब राय पकड़ लिए गये। राय डालचन्द अपने पिता के एक मात्र पुत्र थे, इसलिए उनके चचेरे भाई स्वरूपचन्द ने उन्हें छुड़ाकर स्वयं उनका स्थान ले लिया। बादको वह जगतसेठ के साथ मारे गये। इन अत्याचारों से ऊबकर राय डालचन्द काशी में आ बसे। राय डालचन्द के पुत्रका नाम था उत्तमचन्द। ...चंद सन्तानहीन थे। अतः उन्होंने अपनी बहिन बीबी रतनकुँवर के पुत्र ...चन्द को गोद ले लिया। सितारेहिन्द उन्हीं गोपीचन्द के पुत्र थे।

राजा साहब का जन्म मिती माघ सुदी २, सं० १८८० को काशी में हुआ ...। उनके परिवार की सब स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी थीं। इसीलिए पाँच वर्ष की ...वस्था में ही उनकी शिक्षा आरम्भ हो गयी। पहले उन्होंने घर पर ही हिन्दी ...र उर्दू पढ़ी, फिर बीबीहटिया के स्कूल में फारसी पढ़ने लगे। इसके बाद ...होंने संस्कृत का अभ्यास किया। १३-१४ वर्ष की अवस्था में उन्होंने

अँगरेजी और बँगला का अध्ययन किया। इस प्रकार १९ वर्ष की अवस्था होने तक उन्होंने संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, अँगरेजी, बँगला, हिन्दी और उर्दू की अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

सं० १८९७ में शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् सितारेहिन्द ने भरतपुर राज्य में नौकरी कर ली। वह प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। इसलिए थोड़े ही दिनों में उन्होंने भरतपुर-नरेश के हृदय पर अपनी योग्यता की छाप लगा दी, पर अधिक दिनों तक वह वहाँ न टिक सके। सं० १९०० में भरतपुर से नौकरी छोड़कर वह काशी चले आये। सं० १९०२ में उन्हें सरकारी नौकरी मिल गयी। सिक्ख-युद्ध (सं० १९०२) में उन्होंने अँगरेजों की बहुत सहायता की। इसलिए वह शीघ्र ही अँगरेजों के कृपा-पात्र हो गये। लार्ड डलहौजी (सं० १९०५-१३) की उन पर विशेष कृपा थी। उसने उन्हें एक पद-विशेष पर शिमला में नियुक्त किया। कुछ दिनों तक शिमला में रहने के पश्चात् सं० १९११ में वह बनारस-एजेंसी के मीरमुंशी हो गये। इसके डेढ़ वर्ष पश्चात् पहले वह बनारस कमिश्नरी के इंस्पेक्टर तथा फिर बनारस एवं प्रयाग दोनों कमिश्नरियों के इंस्पेक्टर हो गये। इस समय उन्हें एक सहस्र वेतन मिलता था। पर इन कार्यों में उनका जी नहीं लगता था। वह विद्या-प्रेमी थे। सार्वजनिक शिक्षा की ओर उनकी विशेष रुचि थी। यह देखकर तत्कालीन सरकार ने सं० १९१३ में उन्हें स्कूलों का इंस्पेक्टर नियुक्त कर दिया। अपने इस पद से उन्होंने शिक्षा-विभाग की अच्छी सेवा की। उस समय शिक्षा-विभाग में मुसलमानों का प्रभुत्व था और वे इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते थे कि शिक्षा-विभाग में हिन्दी को कोई स्थान न मिले। इस विषय में अँगरेज भी उनसे सहमत थे। ऐसी दशा में सितारेहिन्द ने हिन्दी के लिए प्राणपण से प्रयत्न किया। उस समय हिन्दी में पाठ्य पुस्त का सर्वथा अभाव था। सितारेहिंद ने हिन्दी में पाठ्य पुस्तकें स्वयं लिख तथा दूसरों से लिखवाकर इस अभाव की पूर्ति की। उन्होंने व्यारि व्याकरण, भूगोल, इतिहास आदि सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर लग ३५ पुस्तकें लिखीं। इससे हिन्दी को स्कूलों में उचित स्थान मिल गया।

प्रकार शिक्षा-विभाग में उनकी सेवाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुईं। इन सेवाओं के लिए सं० १६२८ में अँगरेज़ी-सरकार ने उन्हें सी० एस० आई० (सितारेहिन्द) की उपाधि से विभूषित किया और सं० १६४४ में वंश-परम्परा के लिए 'राजा' की उपाधि दी। सं० १६३५ में उन्होंने अवकाश ग्रहण किया।

सितारेहिन्द अपने समय के राजभक्त-कर्मचारियों में अधिक प्रभावशाली व्यक्ति थे। तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वानों में उनकी गणना होती थी। भारतेन्दुजी के वह विद्या-गुरु थे। उन्हें हिन्दी से प्रेम था, पर अपनी राजभक्ति के कारण वह उसकी अधिक सेवा नहीं कर सके। उनका देहान्त काशी में २३ मई सन् १८६५ (सं० १६५२) को हुआ।

सितारेहिंद की रचनाएँ

सितारेहिन्द हिन्दी-गद्य के निर्माता थे। वह ऐसे युग में उत्पन्न हुए थे जब हिन्दी-गद्य की रूप-रेखा अनिश्चित-सी थी। उस समय बालकों के लिए हिन्दी में पाठ्य पुस्तकें नहीं थीं। स्कूल-इन्स्पेक्टर होने पर राजा साहब ने इस अभाव की ओर ध्यान दिया और स्वयं विभिन्न विषयों पर कई पाठ्य पुस्तकें लिखीं। इन पाठ्य पुस्तकों ने हिन्दी-प्रचार में विशेष सहायता की। उनकी रचनाओं में 'भूगोल हस्तामलक' (तीन भाग), 'इतिहास' तिमिरनाशक (तीन भाग), 'सिक्खों का उदय और अन्त', गुटका' (तीन भाग), 'वर्णमाला', 'हिन्दी व्याकरण', 'विद्यांकुर', 'भाषा भास्कर', 'हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल', 'योग वाशिष्ठ के कुछ चुने हुए श्लोक' 'मानव-धर्मसार', 'उपनिषद्-सार', 'स्वयं बोध उर्दू', 'वामामनरंजन', 'प्रश्नोत्तरमाला' और 'भाषा कल्पसूत्र' पुस्तकें तथा 'राजाभोज का सपना', 'रानी भवानी', 'आलसियों का कोड़ा' आदि लेख अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उन्होंने किसी मौलिक ग्रंथ की रचना नहीं की। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनका आदर उनकी रचनाओं के कारण नहीं, वरन् उनकी सेवाओं के कारण है। वह हिंदी गद्य के पथ-प्रदर्शक और उसके उन्नायक माने जाते हैं।

सितारेहिंद की भाषा नीति

राजा शिवप्रसाद का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब हिंदी उर्दू में पर्याप्त संघर्ष था। वह देवनागरी लिपि के समर्थक थे, पर भाषा के संबंध में उनकी नीति कुछ दूसरी ही थी। वह हिंदी को उर्दू के साँचे में ढालना चाहते थे। उन्हें रामप्रसाद 'निरञ्जनी' सदल मिश्र, लल्लूलाल, सदा सुखलाल, अथवा इंशा की शैली पसंद नहीं थी। भाषा-शैली को सुधारने के लिए न तो उनमें लगन थी और न उनके पास पर्याप्त अवकाश था। वह कई भाषाओं के ज्ञाता थे। संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, हिन्दी, उर्दू, बंगला तथा अँगरेज़ी पर उनका अच्छा अधिकार था। भाषा की विकासोन्मुखी प्रवृत्तियों से भी वह भली-भाँति परिचित थे। पर इतना होने पर भी वह हिंदी-भाषा के विकास के लिए कुछ भी न कर सके। आरम्भ में उन्होंने हिन्दी गद्य-शैली का जो पक्ष ग्रहण किया उसका अन्त तक निर्वाह करना उनके लिए कठिन हो गया। हिन्दी-खड़ीबोली के निर्माण की दृष्टि से वह जितना ही आगे बढ़े थे, आगे चलकर उतना ही नहीं वरन् उससे कुछ अधिक पीछे हट गये। भाषा-सम्बन्धी विचारों में इस प्रकार के आश्चर्यजनक परिवर्तन राजनीतिक परिस्थितियों के कारण ही होते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि राजा शिवप्रसाद भी अपनी राजनीतिक परिस्थितियों से विवश थे। वह राजकर्मचारी थे। उर्दू राज-भाषा थी। वह उच्च वर्ग और शिक्षित समुदाय में बोली और लिखी पढ़ी जाती थी। उसका शब्द-कोश पारिभाषिक शब्दों से युक्त था। फलतः राजा शिवप्रसाद उसी ओर झुके और अन्त तक उसी के पोषक बने रहे। अतः हिन्दी गद्य-निर्माण के उस उत्थान-काल को राजा शिवप्रसाद के व्यक्तित्व से अधिक बल नहीं मिला; पर इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने अपने विचारों से हिन्दी और उर्दू में एक प्रकार का सं‍घर्ष अवश्य उपस्थित कर दिया। इस संघर्ष ने बहुत से हिन्दी-सेवियों की आँखें खोल दीं और लोगों का ध्यान हिन्दी के अभावों की ओर गया। उसमें नये विचारों पर रचना होने लगी और उसे प्रत्येक दृष्टि से सुसम्पन्न बना और उर्दू के समकक्ष उसे खड़ा करने का कार्य आरम्भ हो गया।

सितारेहिन्द की भाषा और शैली

आरम्भ में राजा शिवप्रसाद मिलावट भाषा के पक्षपाती थे। वह इस उद्योग में थे कि लिपि देवनागरी हो और भाषा ऐसी हो जिसमें न तो संस्कृत-शब्दों का बाहुल्य हो और न फारसी शब्दों की अधिकता। वह गद्य में साधारण बोल-चाल की भाषा चाहते थे। इसलिए सं० १९५३ में पाठशालाओं का निरीक्षक नियुक्त होने पर उन्होंने हिन्दी-गद्य-शैली को जो रूप दिया उसमें साधारण बोलचाल के शब्दों के साथ-साथ संस्कृत और फारसी के उन्हीं शब्दों को स्थान मिला जिन्हें लोग बिना किसी कठिनाई के समझ सकते थे। 'राजा भोज का सपना', 'वामामनरंजन', 'विद्यांकुर', 'आलसियों का कोड़ा' आदि में उन्होंने इसी प्रकार की भाषा को स्थान दिया। उनकी ऐसी रचनाएँ अत्यन्त सरल हैं। इन रचनाओं की भाषा बहुत सरल ठेठ हिन्दी है। इसमें संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं, साथ ही फारसी के सरल शब्द भी हैं। इसे हम उनकी भाषा-शैली का प्रथम रूप मान सकते हैं। इस भाषा का परिष्कृत रूप उनकी रचना 'मानव धर्म-सार' में दीख पड़ता है। भाषा की दृष्टि से इस रचना में पहले की अपेक्षा संस्कृत शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है और फारसी तथा अरबी के तत्सम शब्द—'आफत', 'इरादा', 'खुशामद', 'तमाशा', 'दुरुस्त' आदि भी आए हैं। इनके अतिरिक्त 'लेके' आदि पंडिताऊ रूप भी प्रयुक्त हुए हैं। मुहावरों और कहावतों को भी स्थान मिला है। राजा शिवप्रसाद की भाषा-शैली का यह दूसरा रूप है। यदि वह अपने इसी रूप को लेकर आगे चलते तो हमें इसके आगे कुछ न कहना पड़ता। पर ५-६ वर्ष के पश्चात् ही *उनकी भाषा-शैली में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया।*

सं० १९१७ के पश्चात् उनकी समस्त रचनाएँ उर्दू की फारसी-अरबी-शब्द-प्रधान शैली में होने लगीं। हिन्दी-भाषा के विशुद्ध रूप के वह स्वयं विरोधी हो गये और कट्टर उर्दू-भक्त के रूप में दिखायी पड़ने लगे। उस समय उनमें न तो मध्यवर्ती मार्ग के अनुसरण करने का सिद्धान्त रह गया और न हिन्दी के प्रति मोह। वह सोलह आने उर्दू के 'जाँनिसार' बन

गये। उनके भाव-प्रकाशन की विधि बदल गयी, उनकी शब्दावली में परिवर्तन हो गया और उनके वाक्य-विन्यास उर्दू-व्याकरण के साँचे में ढल गये। इस प्रकार उनकी भाषा-शैली का तृतीय रूप हमारे सामने आया। 'इतिहास तिमिरनाशक', 'सिक्खों का उदय और अस्त', 'हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल' आदि में उन्होंने अपनी इसी भाषा-शैली को स्थान दिया। भाषा-सम्बन्धी अपनी इस मनमौजी नीति के कारण वह अपनी शैली को स्थिर रूप देने में सफल न हो सके। भाषा के सम्बन्ध में उनके विचार कभी एक ओर झुकते थे और कभी दूसरी ओर। कभी वह संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपनाते थे और कभी उनका खंडन करते थे। इससे तत्कालीन हिन्दी-जनता में उनके प्रति विरोध बढ़ गया। 'आमफ़हम' भाषा के पक्षपाती होकर भी वह अपने-आपको हिन्दी-गद्य के उस निर्माण-काल में लोक-प्रिय न बना सके। तत्कालीन हिन्दी-भाषा और उसकी शैली को उनसे जो शक्ति और स्फूर्ति मिलनी अपेक्षित थी वह उसे नहीं मिल सकी। उनकी भाषा-संबंधी-नीति पराङ्मुखी थी। शिक्षा-विभाग के एक उच्च पदाधिकारी होने के नाते यदि वह चाहते तो वह हिन्दी का बहुत-कुछ उपकार कर सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। एक बात उन्होंने अवश्य की और वह यह कि उन्होंने हिन्दी को संघर्ष के बीच लाकर खड़ा कर दिया। इसका श्रेय उन्हें अवश्य है और इसीलिए हम उनकी रचनाओं को आदर की दृष्टि से देखते हैं। उनकी शैली के उदाहरण लीजिए :—

'राजा की आँखों में नींद आ रही थी। उठकर रनिवास में गया। छप्परखट पलंग और फूलों की सेज पर सोया।'

'मनुस्मृति हिन्दुओं का मुख्य धर्म-शास्त्र है। उसको कोई भी हिन्दू अप्रामाणिक नहीं कह सकता।'

'तुग़लक़ का भाई मसऊद निहायत हसीन था। बग़ावत का शुबहा हुआ। पकड़े पर उस सूरत और सियासत के डर से सूडा इक़रार कर दिया।'

: २ :

राजा लक्ष्मणसिंह

जन्म सं० १८८३ : मृत्यु सं० १९५१

जीवन-परिचय

राजा लक्ष्मणसिंह का जन्म आश्विन शुक्ल ६, सं० १८८३ वि० तदनुसार ६ अक्टूबर सन् १८२६ ई० को आगरा में हुआ था। उनके पूर्वज राजपूताना के मूल-निवासी यदु-वंशी क्षत्रिय थे। राजपूताना से डेढ़-दो सौ वर्ष पूर्व ही आकर वे आगरा नगर में स्थायी रूप से बस गये थे। उनकी 'राजा' की उपाधि वंश-परम्परागत नहीं थी, फिर भी उनका घराना अधिक सम्मानित माना जाता था और 'कुँवर' कहकर संबोधित किया जाता था। कुँवर लक्ष्मणसिंह का विद्यारम्भ पाँच वर्ष की अवस्था में हुआ। नागरी अक्षरों के लिखने का अभ्यास होने पर उन्हें संस्कृत और फ़ारसी की शिक्षा दी गयी। १३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने संस्कृत और फ़ारसी की अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। इसके बाद उनका यज्ञोपवीत हुआ और वह अँगरेज़ी पढ़ने के लिए आगरा-कालेज में भेजे गये। इस कालेज से उन्होंने सीनियर परीक्षा पास की। कालेज में अँगरेज़ी के साथ उनकी दूसरी भाषा संस्कृत थी, पर वह अपने घर पर इन दोनों भाषाओं के साथ अरबी, फ़ारसी तथा हिन्दी का भी अभ्यास करते थे। कालेज छोड़ने के पश्चात् उन्होंने बँगला भाषा भी पढ़ी। इस प्रकार २४ वर्ष की अवस्था में उन्होंने कई भाषाओं में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

विद्याध्ययन करने के पश्चात् राजा साहब पश्चिमोत्तर प्रदेश (उत्तर प्रदेश) के छोटे लाट के कार्यालय में १००) मासिक वेतन पर अनुवाद का काम करने के लिए नियुक्त हुए। इस पद पर रहकर उन्होंने अच्छी उन्नति की। तीन वर्ष पश्चात् उनका वेतन १५०) मासिक हो गया और वह सदर

बोर्ड के कार्यालय मे काम करने लगे। सं०१६१२ में उन्हें इटावा की तहसील-दारी मिली। उन दिनों इटावा में ह्यूम साहब कलेक्टर थे। राजा साहब ने उनकी सहायता से इटावा में ह्यूम हाई स्कूल स्थापित किया। उनके इस लोकोप-योगी कार्य से प्रभावित होकर तत्कालीन सरकार ने एक वर्ष पश्चात् ही उन्हें डिप्टी कलेक्टर बनाकर बाँदा भेज दिया। बाँदा में कुछ दिनों तक रहने के पश्चात् वह छुट्टी लेकर अपने घर आगरा आ ही रहे थे कि भारत का प्रथम स्वतन्त्रता-आन्दोलन (सं० १६१४) आरम्भ हो गया। इस आन्दोलन में उन्होंने अपनी राज-भक्ति का पूर्ण परिचय दिया। इटावा पहुँचकर उन्होंने कई अँगरेज-परिवारों की रक्षा की। ह्यूम साहब स्वयं अपनी प्राण-रक्षा के लिए उनके अतिथि बने। राजा साहब ने उनकी रक्षा की और स्वयं सरकारी-सेना में सम्मिलित होकर विद्रोहियों का सामना किया। उनकी ऐसी राज-भक्ति देखकर तत्कालीन अँगरेजी सरकार ने उन्हें सरकी का इलाक़ा माफी देना चाहा, परन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। फलतः वह प्रथम श्रेणी के डिप्टी कलेक्टर बनाए गये और पहले से अधिक मासिक वेतन पर बुलन्दशहर भेजे गये। वहाँ उन्होंने २० वर्ष तक सफलतापूर्वक कार्य करने के पश्चात् सं० १६४६ में अवकाश ग्रहण किया और फिर आगरा में रहने लगे। सं० १६२७ के प्रथम दिल्ली-दरबार में सरकार ने उन्हें 'राजा' की उपाधि से विभूषित किया। ६८-६६ वर्ष की अवस्था में १४ जुलाई सन् १८६४ (सं० १६५१) को उनका देहान्त हुआ।

राजा साहब राज-भक्त ही नहीं, देश-भक्त भी थे। इण्डियन नेशनल कांग्रेस के वह सदस्य थे। सं० १६१८ में उन्होंने 'प्रजाहितैषी' नामक एक समाचार-पत्र भी निकाला था। यह पत्र देश-भक्ति और प्रजा-हित का पोषक था। आगरा-कालेज से उन्हें विशेष प्रेम था। तत्कालीन सरकार ने जब किसी कारण से आगरा-कालेज को बन्द करने का प्रस्ताव किया तब उन्होंने इसका विरोध किया। पं० गंगाधर शास्त्री की सम्पत्ति से कालेज का व्यय चलता था। तत्कालीन सरकार उस सम्पत्ति को सर सैयद अहमद खाँ द्वारा स्थापित अलीगढ़ कालेज को दे देना चाहती थी। राजा साहब ने राजा

जयकृष्ण तथा पं० अयोध्यानाथ आदि कई प्रभावशाली व्यक्तियों के सहयोग से आन्दोलन किया। इसका फल यह हुआ कि सरकार को अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा।

राजा साहब अत्यन्त परिश्रमी, अध्यवसायी और लगन के आदमी थे। वह एक अच्छे घुड़सवार, साहसी और कार्य-कुशल भी थे। उनके स्वभाव में गम्भीरता, उनके व्यक्तित्व में उदारता और उनके रहन-सहन में पद के अनुकूल मर्यादा थी। राज-भक्त होने पर भी उन्होंने तत्कालीन राष्ट्रीय समस्याओं को उपेक्षा भाव से नहीं देखा।

राजा साहब की रचनाएँ

राजा साहब साहित्य प्रेमी भी थे। आरम्भ में अनुवाद का कार्य करने से उन्हें इस दिशा में अच्छा अभ्यास हो गया था। उनका यह अभ्यास बहुत दिनों तक बना रहा कदाचित् इसी ने उन्हें साहित्य-रचना की ओर प्रेरित किया। उन्होंने कोई प्रसिद्ध मौलिक रचना नहीं की। उर्दू, हिन्दी और मराठी में उनकी एक मौलिक रचना 'बुलन्द शहर का इतिहास' है। अनुवाद के रूप में ही वह हिन्दी-जगत में प्रसिद्ध हैं। 'ताजीरात हिन्द' का हिन्दी-अनुवाद 'दंड-संग्रह' उनकी प्रसिद्ध रचना है। उनकी अन्य अनूदित रचनाओं में कालिदास कृत 'शकुंतला' (सं० १६१८), 'रघुवंश' (सं० १६३५) और 'मेघदूत' (सं० १६३६) का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने 'रघुवंश' का पहले गद्यानुवाद किया था, पर बाद का उसका पद्यानुवाद भी आरम्भ किया। यह कार्य ८ सर्गों तक ही हो पाया था कि उनका स्वर्गवास हो गया।

राजा साहब की भाषा-नीति

राजा साहब की इन अमर कृतियों से उनकी साहित्यिक क्षमता, उनकी कवित्व-शक्ति, उनके पाण्डित्य और उनकी भाषा सम्बन्धी मनोवृत्तियों का यथार्थ परिचय मिल जाता है। संस्कृत के अतिरिक्त ब्रजभाषा, अँगरेजी, फारसी, अरबी, प्राकृत, बँगला तथा गुजराती आदि के वह अच्छे जानकार थे। हिन्दी-खड़ीबोली की तत्कालीन समस्याओं पर उन्होंने भली भाँति विचार किया था। भाषा के प्रश्न पर उस समय उर्दू और हिन्दी

दो शैलियों के संबंध में जो वाद-विवाद चल रहा था उसमें उन्होंने पूर्ण रूप से भाग लिया था। उनका दृढ़ विश्वास था कि उर्दू और हिन्दी दो भिन्न-भिन्न शैलियाँ हैं। अपने इस विश्वास को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा— "हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुये हिन्दुओं की बोलचाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी के। परन्तु कुछ आवश्यक नहीं है कि अरबी-फारसी के शब्दों बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी फारसी के शब्द भरे हों।"

राजा साहब के इस विश्वास और कथन में 'सितारेहिन्द' की भाषा-शैली को एक चुनौती थी। राजकर्मचारी होते हुए भी उन्होंने भाषा के प्रश्न पर किसी से समझौता करना उचित नहीं समझा। अँगरेजों के भक्त होते हुए भी वह उनकी दोरंगी नीति से परिचित थे। हिन्दू और मुसलमानों के बीच भाषा का प्रश्न उठाकर अंगरेजों ने जो गहरी खाई खोद दी थी उसका भरना असंभव था। राजा साहब ने हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया और उन्हें अपनी संस्कृति, अपनी भाषा और अपना साहित्य स्वयं सम्हालने और उसकी रक्षा एवं उसका विकास करने के लिए प्रेरणा दी। भाषा के क्षेत्र में उन्होंने शुद्ध हिन्दी का पक्ष ग्रहण किया और उसे समुन्नत एवं सुसम्पन्न बनाने तथा जातीय भावनाओं से सजाने के लिए संस्कृत के तत्सम एवं तद्भाव शब्दों का आश्रय लिया। हिन्दी की मूल प्रवृत्ति को परखने वाले वह पहले व्यक्ति थे। वह समझ गए थे कि हिन्दी गद्य को यदि एक निश्चित रूप न दिया गया तो उसका भविष्य अंधकारमय हो जायगा। कहना न होगा कि उनकी इस सामयिक सूझ ने हिन्दी-गद्य की ही नहीं, भारतीय संस्कृति और साहित्य की भी रक्षा की। वह एक निश्चित उद्देश्य, एक निश्चित रूप और हिन्दी गद्य के विकास के लिए एक निश्चित योजना लेकर सामने आये। वह न तो सुधारक थे, न धर्म-प्रचारक और न राजनीतिज्ञ। वह राज-भक्त थे। उनके चारों ओर

प्रतिबन्ध की दीवारें खड़ी थीं। ऐसी दशा में उन्होंने नवीन विषयों की ओर न जाकर संस्कृत नाटकों के अनुवादों के माध्यम से अपनी गद्य-शैली का उदाहरण प्रस्तुत किया। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी-सेवियों को एक साथ दो प्रेरणाएँ दीं: (१) हिन्दी-खड़ीबोली में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग और (२) अनुवादों-द्वारा हिन्दी-साहित्य का विकास। उनकी इन दोनों प्रेरणाओं से हिन्दी-सेवियों ने पूरा लाभ उठाया।

राजा साहब के साहित्यिक व्यक्तित्व के दो रूप हैं: एक तो शैलीकार का रूप, दूसरा अनुवादक का रूप। इन दोनों रूपों में राजा साहब का साहित्य इतना महत्त्वपूर्ण और वैभवयुक्त है कि किसी युग में भी उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनकी समस्त अनुदित रचनाएँ मौलिक-सी लगती हैं। मौलिक ग्रन्थों में जो माधुर्य, जो भाषा-प्रवाह और जो भाव-गांभीर्य होता है वह ज्यों-का-त्यों उनकी अनूदित रचनाओं में बना हुआ है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के कई अनुवाद मिलते हैं, पर राजा साहब के अनुवाद के सामने कोई अनुवाद टिक नहीं पाता। उनके अनुवाद की सर्वोत्तम विशेषता है, उसकी अपूर्व सरसता तथा सरलता। मूल भावों की रक्षा में भी वह उतने ही सफल हैं।

सितारेहिंद और राजा साहब: तुलनात्मक अध्ययन

राजा साहब शुद्ध हिंदी के समर्थक थे। इसलिए वह उसके विकास में अन्य भाषाओं के शब्दों का बहिष्कार करना और उनके स्थान पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करना अधिक युक्तिसंगत समझते थे। आरम्भ में उन्होंने राजा शिवप्रसाद की सरल भाषा-शैली का समर्थन किया था, पर जब सं० १९१७ के पश्चात् राजा शिवप्रसाद ने अपनी शैली में परिवर्तन कर दिया और उसे फारसी तथा अरबी भाषा के शब्दों से बोझिल बना दिया तब वह उसके घोर विरोधी हो गये।

राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मणसिंह दोनों समकालीन थे, दोनों राजकर्मचारी थे। दोनों का जन्म सुसभ्य घराने में हुआ था। दोनों योग्य और कई भाषाओं के जानकार थे। हिन्दी के प्रति दोनों के हृदय में श्रद्धा थी। दोनों हिन्दी-गद्य-शैली का स्वरूप स्थिर और परिमार्जित करना

चाहते थे, पर दोनों की परिस्थितियाँ तथा चिन्तन-दिशाएँ भिन्न-भिन्न थीं। दोनों एक दूसरे के विरोधी थे। राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग में थे। शिक्षा-विभाग में उर्दू का बोलबाला था। उर्दू, फारसी-प्रेमी हिन्दू और मुसलमानों की भाषा थी। कचहरियों में भी उर्दू लिखी-पढ़ी जाती थी। ऐसी स्थिति में राजा शिवप्रसाद उससे बच नहीं सकते थे। स्वतन्त्र रूप से उर्दू के स्थान पर हिन्दी का प्रचार करना न तो उनके वश में था और न ऐसा करने का उनमें साहस ही था। देवनागरी लिपि का वह समर्थन अवश्य करते रहे। उनका मत था कि लिपि यही हो, पर हिन्दी-खड़ीबोली की शैली में फ़ारसी तथा अरबी भाषाओं के उन शब्दों को स्थान मिलना चाहिए जो जनता की भाषा में घुल-मिल गए हैं और जिन्हें जनता ने स्वीकार कर लिया है। ऐसे शब्दों के स्थान पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रवेश वह हिन्दी-खड़ीबोली की गद्य-शैली में असंगत समझते थे। पर जहाँ उनका यह मत था, वहाँ व्यवहार में वह भाषा को विदेशी शब्दों के तत्सम रूपों से बोझिल बनाते जाते थे। उनकी इस दोरंगी चाल के कारण उनकी भाषा का स्वरूप अव्यवस्थित ही बना रहा और वह अपने साहित्यिक जीवन में किसी एक शैली का समर्थन न कर सके। इसके विरुद्ध राजा लक्ष्मणसिंह का एक निश्चित मत था। वह स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे। उनकी राजभक्ति कचहरी के कार्य और उस कार्य से सम्बन्ध रखनेवाले अँगरेज महाप्रभुओं तक ही सीमित थी। विपत्ति पड़ने पर उन्होंने अँगरेजों का साथ भी दिया, पर वह उनके प्रलोभन में नहीं आये। उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन को उन प्रभावों से मुक्त रखा। इसलिए भाषा के क्षेत्र में उन्होंने किसी से समझौता नहीं किया। उनके समय में भाषा के प्रश्न पर दो मुख्य दल बन गए थे—उर्दू का समर्थन सर सैयद अहमद खाँ (सं० १८७४-१९५५) कर रहे थे और हिन्दी का वह स्वयं। वह हिन्दी और उर्दू को खड़ीबोली की दो भिन्न भिन्न शैलियाँ समझते थे। संभवत: सर सैयद के तीव्र विरोध के कारण ही उन्होंने अपनी भाषा में फारसी-अरबी के उन शब्दों तक को नहीं आने दिया जो लोकप्रिय हो चुके थे। वह संस्कृत के

तत्सम एवं तद्भव शब्दों का प्रयोग ही उचित मानते थे। अपनी इस नीति के कारण उन्होंने तत्कालीन हिन्दी गद्य को एक निश्चित शैली दी और उस शैली की ओर हिन्दी-गद्य-लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया।

राजा साहब की भाषा

राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी के उच्चकोटि के लेखक थे। उनकी भाषा शुद्ध हिंदी थी, पर हिंदी के विशुद्ध रूप को अपनाकर भी उन्होंने अपनी भाषा को संस्कृत के तत्सम शब्दों से बोझिल तथा असगत बनाने की चेष्टा नहीं की। वह अपनी भाषा को सदैव क्लिष्टता के दोष से बचाते रहे। आवश्यकता पड़ने पर ही उन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव रूपों को स्थान दिया। इस सतर्कता के कारण उनकी भाषा में सरसता, सरलता और प्रवाह के साथ साथ स्वाभाविकता भी आ गयी और वह उसे व्यवहारिक रूप देने में समर्थ हो सके।

हम अन्यत्र बता चुके हैं कि राजा लक्ष्मणसिंह हिंदी खड़ीबोली में विदेशी शब्दों को स्थान देने के पक्ष में नहीं थे। वह अपनी भाषा को अपनी संस्कृति और प्राचीन परम्परा के अनुकूल बनाना चाहते थे। विशुद्ध हिन्दी के वह इतने कट्टर पक्षपाती थे कि 'गवाह', 'अदालत', 'कलेक्टर' आदि शब्द जो जनता में घुल-मिल गए थे उनके लिए अमान्य थे। अपनी इस धुन के आग्रह में वह अपनी भाषा में कतिपय शब्दों के ऐसे अपरिष्कृत प्राचीन रूपों को स्थान दे देते थे जिनके कारण भाषा का प्रवाह मन्द और कुंठित हो जाता था, पर वह इसकी चिन्ता नहीं करते थे। 'जिन्ने' 'उन्ने' 'इस्से' 'उस्से' आदि प्रान्तीय रूप तथा 'मुझे' के स्थान पर 'मुझको','तुमको' के स्थान पर 'तुझे', 'कहावत' के स्थान पर 'कहनावत' आदि शब्द उनकी भाषा में अत्यधिक प्रयुक्त हुए हैं। 'छिन', 'सौं' 'पत्यातां' आदि ब्रजभाषा के शब्द भी उन्होंने अपनाए हैं। इससे उनका शब्द-चयन दूषित और उनकी भाषा अपरिमार्जित अवश्य है, पर हमें यह न भूलना चाहिए कि जिस युग में वह अपनी भाषा का निर्माण कर रहे थे वह खड़ीबोली के जीवन का

शैशव काल था। उस समय उसकी शैली बन रही थी। इसीलिए उनका शब्द-चयन सदोष होने पर भी प्रशंसनीय है।

राजा साहब की शैली

राजा लक्ष्मणसिंह उच्चकोटि के शैलीकार थे। वह सदासुखलाल के साथ आधुनिक शैली के जन्मदाता माने जा सकते हैं। उनके पूर्व हिन्दी-गद्य की कोई अपनी शैली नहीं थी। प्रत्येक लेखक अपनी रुचि और मनोवृत्ति के अनुकूल अपनी शैली बनाता था। राजा लक्ष्मणसिंह ने शैली-सम्बन्धी इन विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों को सैद्धान्तिक रूप प्रदान किया। यदि वह ऐसा न करते तो भाषा के क्षेत्र में बड़ा अनर्थ हो जाता। इसे वह समझते थे। वह जानते थे कि देश की आत्मा की यथार्थ अभिव्यक्ति उन्हीं की शैली द्वारा हो सकती है। इसीलिए उर्दू की समरूपता में हिन्दी का स्तर ऊँचा करने और उसे लोकप्रिय बनाने में उन्होंने बड़ा परिश्रम किया। उनकी भाषा परिमार्जित नहीं थी। उसमें नवचेतना का भार-वहन करने की क्षमता भी नहीं थी। इसके साथ ही यह भी सच है कि विकसित होती हुई भाषा के लिए वह हमें अपनी कोई मौलिक रचना भी नहीं दे सके। उनकी भाषा-नीति भी अधिक संकुचित थी। पर इन अभावों के होते हुए भी अपने मौलिक प्रयत्नों से उन्होंने जो भाषा और शैली हमें दी उसका महत्त्व तबतक बना रहेगा जबतक हिन्दी-भाषा-भाषी जीवित रहेंगे। उनकी भाषा शैली का एक उदाहरण लीजिए :—

'याचक तो अपना अपना वांछित पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं, परन्तु जो राजा अपने अन्तःकरण से प्रजा का निर्धार करता है नित्य वह चिन्ता में ही रहता है। पहले तो राज बढ़ाने की कामना खेदित करती है, फिर जो देश जीत कर वश किए उनकी प्रजा के प्रतिपालन का नियम दिन रात मन को विकल रखता है, जैसे बड़ा छत्र यद्यपि घाम से रक्षा करता है, परन्तु बोझ भी देता है।'

बालकृष्ण भट्ट

जन्म सं० १९०१ : मृत्यु सं० १९७१

जीवन-परिचय

बालकृष्ण भट्ट का जन्म प्रयाग में आषाढ़ कृष्ण २, रविवार सं० १९०१ को हुआ था। उनके पूर्वज किसी कारण से मालवा त्यागकर कालपी के पास बेतवा नदी के तट पर स्थित जटकारी गाँव में बस गए थे। उनके प्रपितामह पं० स्यामाजी नीति-निपुण, व्यवहार-कुशल और अच्छे विद्वान थे। राजदरबार की परिस्थितियों से वह भलीभाँति परिचित थे। इसीलिए गाँव में आकर बसने के थोड़े ही दिनों पश्चात् राजा कुलपहाड़ के यहाँ वह एक सम्मानित पद पर नियुक्त हो गये। उनके दो स्त्रियाँ थीं जिनसे पाँच पुत्र हुए। इन पुत्रों में सब से छोटे पं० बिहारीलाल उन्हें परम प्रिय थे। अन्त में बिहारीलाल को ही उनकी सारी सम्पत्ति मिली। कुछ दिनों बाद वह जटकारी गाँव से प्रयाग चले आये और यहाँ उनके दो पुत्र हुए, पं० जानकीप्रसाद और पं० वेणीप्रसाद। भट्टजी के पिता का नाम पं० वेणीप्रसाद था। पं० वेणीप्रसाद बहुत पढ़े लिखे व्यक्ति तो न थे, पर शिक्षा की ओर उनका विशेष ध्यान था। उनकी पत्नी विदुषी थीं। इसलिए उन्होंने भट्टजी की शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया। भट्टजी को आरम्भ में घर पर ही संस्कृत की शिक्षा दी गई। पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था तक उनकी शिक्षा का यही क्रम रहा। इसी बीच उनके पिता और चाचा ने उन्हें व्यापार में लगाना चाहा, पर इस कार्य में उनका जी नहीं लगा। इसलिए कुछ तो अपनी माता के आग्रह और कुछ अपनी रुचि विशेष के कारण वह बराबर अध्ययन ही करते रहे।

सं० १६१४ में देश ने पहली बार करवट ली, पर उसमें उसे सफलता नहीं मिली। अँगरेज़ों का पुनः प्रभुत्व स्थापित हो गया। इससे अँगरेज़ी भाषा का मान बढ़ गया। यह देखकर भट्टजी की माता ने उन्हें अँगरेज़ी पढ़ने के लिए उत्साहित किया। भट्टजी माता का आदेश मानकर स्थानीय मिशन स्कूल में अँगरेज़ी पढ़ने लगे। इस स्कूल में उन्होंने दसवीं कक्षा तक अध्ययन किया। अपने विद्यार्थी-जीवन में उन्होंने बाइबिल की परीक्षा में कई बार पुरस्कार प्राप्त किया।

मिशन स्कूल छोड़ने के पश्चात् भट्टजी पुनः संस्कृत का अध्ययन करने लगे। व्याकरण और साहित्य में उनकी विशेष रुचि थी। इसी बीच वह जमुना मिशन स्कूल में संस्कृत के अध्यापक हो गये, पर अपने धार्मिक विचारों के कारण उन्हें स्कूल छोड़ना पड़ा। वह बहुत दिनों तक बेकार रहे। विवाह हो जाने पर उन्हें बेकारी खलने लगी। इसलिए व्यापार करने की इच्छा से वह कलकत्ता गये, पर वहाँ से शीघ्र ही लौट आये। इसके बाद वह संस्कृत-साहित्य के अध्ययन तथा हिन्दी-साहित्य की सेवा में जुट गये। उस समय वह स्वतन्त्र रूप से तत्कालीन साप्ताहिक तथा मासिक हिन्दी-पत्रों में लेख लिखकर भेजते थे। इससे उनकी ख्याति बढ़ गयी। इसी बीच वह कई वर्ष तक कायस्थ पाठशाला, प्रयाग में संस्कृत के अध्यापक रहे।

सं० १६३४ में प्रयाग में कई शिक्षित नवयुवकों ने 'हिन्दी-प्रवर्द्धिनी' नाम की एक सभा स्थापित की और निश्चय किया कि प्रति सभासद से पाँच-पाँच रुपया चन्दा एकत्र करके एक मासिक पत्र प्रकाशित किया जाय। इस प्रकार 'हिन्दी प्रदीप' का जन्म हुआ। उसके जन्म लेते ही सरकार ने प्रेस ऐक्ट पास किया जिससे भयभीत होकर 'हिन्दी-प्रदीप' के अन्य हितैषियों ने उससे हाथ खींच लिया, पर भट्टजी निरन्तर घाटा सहकर ३२ वर्ष तक उसका सम्पादन करते रहे। कायस्थ-पाठशाला से उन्हें जो वेतन मिलता था वह इसी पुण्य कार्य में व्यय हो जाता था। इससे वह कभी हताश नहीं हुए। वह अपनी धुन के पक्के और लगन के सच्चे थे। उनका एक ही मिशन था

और वह था, हिन्दी की सेवा करना। कायस्थ पाठशाला से सम्बन्ध छूटने के कुछ समय पश्चात् 'हिन्दी प्रदीप' बन्द हो गया। उन्होंने काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' का भी कुछ समय तक सम्पादन किया, पर अपनी अस्वस्थता के कारण उन्हें यह कार्य छोड़ना पड़ा। प्रयाग का 'भारती भवन पुस्तकालय' उन्हीं का स्थापित किया हुआ है और यह उनकी स्मृति का स्तम्भ है। श्रावण कृष्ण १३, सं० १९७१ को प्रयाग में उनका देहान्त हुआ।

भट्टजी सनातनधर्म के अनुयायी थे और उसमें उनकी अधिक आस्था थी, पर वह अन्ध-परम्परा के पक्षपाती नहीं थे। अज्ञान और अन्ध विश्वास पर आधारित लोक-रूढ़ियाँ उन्हें सर्वथा अमान्य थीं। तत्कालीन हिन्दू-समाज में जो कुरीतियाँ आ गयी थीं उनका वह अपने भाषणों और लेखों-द्वारा खुलकर विरोध करते थे। उनका युग नवीनता और प्राचीनता का संधि-काल था। इस काल से उन्हें अपने मतों का प्रचार करने के लिए प्रचुर सामग्री मिली जिसे उन्होंने हास्य और व्यंग के माध्यम से व्यक्त करके अच्छी सफलता प्राप्त की।

भट्टजी अपने समय के निष्णात पंडित थे। उनका पाण्डित्य अत्यन्त व्यापक था। सभी शास्त्रों में उनकी गति थी। वाल्मीकि और व्यास की रचनाओं का उन्होंने गंभीर अध्ययन किया था। वह संस्कृत-साहित्य के मूर्तिमान दूसरे 'व्यास' माने जाते थे। व्याकरण, ज्योतिष और कर्मकाण्ड पर उनका पूरा अधिकार था। वेदान्त, सांख्य और दर्शन के वह आचार्य थे उन्होंने निरुक्त शास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन किया था। इसलिए वह नये-नये शब्द और मुहावरों का संकलन अत्यन्त सरलता से कर लेते थे।

भट्टजी की रचनाएँ

भट्टजी भारतेन्दु-मंडली के प्रधान सदस्य थे। भारतेन्दु से उनकी खूब पटती थी। श्रीधर पाठक, पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा पं० कृष्णकांत मालवीय से उनकी अच्छी मित्रता थी। द्विवेदीजी के समय में भाषा को लेकर जो विवाद उठ खड़ा हुआ था उसमें उन्होंने सक्रिय भाग नहीं लिया। द्विवेदीजी

को नष्ट करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। 'हिन्दी-प्रदीप' के बन्द होने पर भट्टजी प्रायः कृष्णकान्त मालवीय-द्वारा संपादित 'मर्यादा' में लेख लिखा करते थे।

भट्टजी ने अधिक पुस्तकें नहीं लिखीं। अपने पत्र 'हिन्दी-प्रदीप' के लिए सामग्री के सकलन एव सम्पादन में वह इतने व्यस्त रहते थे कि मौलिक ग्रन्थों की रचना के लिए उन्हें बहुत कम अवकाश मिलता था। इस पत्र में उनके अनेक उत्तमोत्तम निबन्ध मिल सकते हैं। उनकी प्रकाशित रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) नाटक—शिक्षा दान सं० १९३४), पद्मावती (स० १९३५), शर्मिष्ठा (स० १९३५), दमयन्ती स्वयम्वर, कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल-विवाह, बृहन्नला, जैसा काम वैसा परिणाम, चन्द्रसेन, नई रोशनी का विष, आचार विडम्बन, पृथुचरित्र, वेणुसंहार, मृच्छकटिक आदि। इनमें से 'पद्मावत' तथा 'शर्मिष्ठा' माइकेल मधुसूदन-कृत बँगला नाटकों के अनुवाद हैं और 'वेणु संहार' तथा 'मृच्छकटिक' संस्कृत के।

(२) उपन्यास—नूतन ब्रह्मचारी (सं० १९४३) और सौ अजान एक सुजान (सं० १९४६)

(३) निबन्ध संग्रह—साहित्य-सुमन, भट्ट निबन्धावली (दो भाग)। उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त 'माघ की परख', 'गीता' और 'सप्तशती की टीका' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होंने 'षट्दर्शन-संग्रह' का भी हिन्दी में अनुवाद किया है।

भट्टजी की गद्य साधना

भट्टजी के समय में हिन्दी-खड़ीबोली अपेक्षाकृत अधिक परिमार्जित, परिष्कृत तथा संयत् हो गयी थी और उसमें गम्भीरतम भावों तथा उत्कृष्ट विचारों को वहन करने की क्षमता भी आ गयी थी। ऐसी भाषा के माध्यम से भट्टजी ने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न प्रकार की शैलियों में भिन्न-भिन्न विषयों का परिचय दिया। उन्होंने 'हिन्दी-प्रदीप' द्वारा अपनी सम्पादन-कला सम्बन्धी क्षमता प्रकट की; निबन्धों-द्वारा हिन्दी गद्य-साहित्य में हास्य और व्यङ्ग को जन्म दिया, कहानियों-द्वारा कहानी कला का क्षेत्र

प्रशस्त किया; उपन्यासों द्वारा उपन्यास-साहित्य का मार्ग-प्रदर्शन किया और नाटकों-द्वारा दृश्य-काव्य का नेतृत्व किया। इस प्रकार वह एक होकर अनेक रूपों में हमारे सामने आये।

भट्टजी भारतेन्दु-युग की देन थे। उनकी गणना उस समय के अच्छे निबंधकारों में होती थी। साहित्यिक दृष्टि से उनके निबन्ध उच्चकोटि के होते थे। वह जो कुछ लिखते थे, बहुत सोच-विचार कर लिखते थे। 'हिन्दी प्रदीप' में अधिक समय तक लगे रहने से उनकी लेखनी में बल आ गया था और उनका साहित्यिक क्षेत्र विस्तृत हो गया था। वह मूलतः विचारात्मक निबंध लिखते थे जिनमें गंभीरता बराबर बनी रहती थी। विचारात्मक निबंधों के अतिरिक्त वह भावात्मक, कथात्मक और वर्णनात्मक निबंध भी लिखते थे। भावात्मक निबंधों में 'चन्द्रोदय', वर्णनात्मक निबंधों में 'संसार महानाट्य शाला' और कथात्मक निबंधों में 'एक अनोखा स्वप्न' विशेष उल्लेखनीय हैं। उनके विचारात्मक निबंधों की चार श्रेणियाँ हैं (१) व्यावहारिक जीवन से संबंध रखने वाले निबंध, (२) साहित्यिक विषयों से संबंध रखने-वाले निबंध, (३) हृदय की वृत्तियों से संबंध रखनेवाले निबंध और (४) सामयिक विषयों पर निबंध। व्यावहारिक जीवन से संबंध रखनेवाले निबंधों में उन्होंने अपने विषय का प्रतिपादन विवेचनात्मक ढंग से किया है। 'माता का स्नेह','लक्ष्मी' 'आँसू' आदि इसी प्रकार के निबंध हैं। साहित्यिक विषयों से संबंध रखनेवाले निबंधों में साहित्यिक पद्धति का अनुसरण किया गया है। 'शब्द की आकर्षण शक्ति', 'साहित्य का सभ्यता से घनिष्ट संबंध है', 'साहित्य जन-समूह के हृदय का विकाश है', 'माधुर्य', 'प्रतिमा' आदि इसी कोटि के साहित्यिक निबंध हैं। तीसरी कोटि के निबंध हृदय की वृत्तियों से संबंधित हैं। इनमें 'आशा', 'आत्मगौरव', 'भिक्षावृत्ति' आदि का प्रमुख स्थान है। सामयिक विषयों पर लिखे गए निबंध चौथी कोटि में आते हैं। 'उसे इलाहाबाद कहें या खाकाबाद' इसी प्रकार का निबंध है। भट्टजी संधि काल के निबंधकार थे। अँगरेजों की बढ़ती हुई शक्ति के कारण भारतीय राजनीति में जो परिवर्तन हो रहे थे उनपर टीका-टिप्पणी करने का वह युग

नहीं था। जीवन के प्रति भी लोगों का एक मर्यादित दृष्टिकोण था। पुरुष और नारी से संबंध रखनेवाली अनेक समस्याएँ उस समय तक उभरी नहीं थीं। ऐसी दशा में निबंध के विषयों का क्षेत्र अत्यन्त सीमित और संकुचित था। भट्टजी ने समय की गति के अनुसार ही अपने निबंधों के लिए विषयों का चयन किया। उन्होंने साधारण और गंभीर, दोनों प्रकार के विषय चुने। 'नाक', 'कान', 'आँख ' 'बातचीत', 'आँसू' आदि साधारण विषयों को उन्होंने अपनी प्रतिभा के स्पर्श से गंभीर बनाया और सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय विचारों से संबंध रखनेवाले विषयों को उन्होंने सरल और सरस बनाया। अपने इन दोनों प्रकार के निबंधों में उन्होंने विचार और कल्पना का अद्भुत समिश्रण किया। 'भट्ट निबंधावली' में उनके जो निबंध संगृहीत है वे साहित्य और कला की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन निबंधों के कारण हिन्दी के निबंध-साहित्य में उनका वही स्थान है जो अँगरेजी के निबंध-साहित्य में रिचर्ड स्टील (स० १७२६-७७) का माना जाता है। उनके निबंधों पर उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है।

भट्टजी ने उपन्यास भी लिखे हैं। इस युग में उपन्यास-कला की दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व नहीं है, पर जिस युग में भट्टजी ने उनकी रचना की थी उस युग में उनका विशेष महत्त्व था। भट्टजी अपने समय के उपन्यासकार माने जाते थे। उन्होंने कुल दो उपन्यासों की रचना की। इन दोनों उपन्यासों के विषय सामाजिक और सामयिक हैं। इनमें उन्हें विषय के प्रतिपादन तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण में पूरी सफलता मिली है।

भट्टजी अपने समय के सफल पत्रकार भी थे। उन्होंने लगभग ३२ वर्ष तक अत्यन्त उत्कंठा एवं परिश्रम से 'हिन्दी-प्रदीप' का सम्पादन किया था। इससे पत्रकारिता में उनकी विशेष गति थी। उन्हें लेख मिलें या न मिलें, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं रहती थी। वह स्वयं इतने अच्छे लेखक थे कि बाहरी लेखों के बिना ही वह समय पर अपना पत्र निकाल देते थे। सामयिक विषयों की चर्चा करने के साथ-साथ वह अपने पत्र में साहित्यिक

लेख भी लिखते थे। आलोचनाओं को भी उसमें स्थान मिलता था और संस्कृत-साहित्य के गंभीर विषयों पर भी उनके विचार रहते थे। वह यथाशक्ति अपने पत्र को रोचक, सुपाठ्य और उपयोगी बनाने की बराबर चेष्टा करते रहते थे। इसलिए उनके पत्र का हिन्दी-प्रेमियों में अच्छा आदर था। वस्तुतः उस युग में उन्होंने इस पत्र-द्वारा हिन्दी की महत्त्वपूर्ण सेवा की थी।

भट्टजी नाटककार भी थे। उन्होंने कई नाटक लिखे। उनके लिखे कुछ नाटक तो मिलते हैं, पर कुछ नहीं मिलते। 'चन्द्रसेन', 'दमयन्ती स्वयम्बर' तथा 'वृत्तचरित' पौराणिक नाटक हैं। इन नाटकों का पता नहीं चलता। 'शिक्षादान', 'आचार-विडम्बन' और 'नई रोशनी का विष' प्रहसन हैं। 'बृहन्नला', 'वेणु संहार' तथा 'जैसा काम वैसा परिणाम'—इन तीनों नाटकों का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है। 'पद्मावती' तथा 'शर्मिष्ठा' माइकेल मधुसूदन-कृत बँगला नाटकों के अनुवाद हैं। 'कलिराज की सभा' सं० १६३५ के 'हिन्दी-प्रदीप' में प्रकाशित हो चुका है। यह सामाजिक नाटक है। इसी प्रकार 'रेल का विकट खेल' तथा 'बाल-विवाह' भी सामाजिक नाटक हैं। इन नाटकों का आज विशेष महत्त्व नहीं है। वस्तुत, भट्टजी नाटककार नहीं थे। नाटक-रचना की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति भी नहीं थी। भारतेन्दु के प्रभाव से ही उन्होंने इस दिशा में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया था जिसमें वह पूर्णतः सफल नहीं हो सके। वह अपने समय के उच्चकोटि के निबन्धकार ही थे। उनके नाटकों में भी उनका निबन्धकार-रूप ही व्यक्त हुआ है। उनका ढाँचा निबन्ध का है और कथोपकथन नाटकीय। तत्कालीन सामाजिक अनाचार पर उन्होंने अपने *मर्मस्पर्शी व्यंग ही कथोपकथन की शैली में व्यक्त किए हैं।* यही उनकी नाटकीय कला की विशेषता है।

भट्टजी की भाषा

भाषा की दृष्टि से भट्टजी अपने समकालीन लेखकों में बहुत ऊँचे उठे हुए थे। वह अपने लेखों में यथाशक्ति शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते

थे। भाषा के वह धनी थे। अपनी भाषा में वह संस्कृत, अरबी, फारसी, अँगरेजी और प्रान्तीय शब्दों का खुलकर प्रयोग करते थे। फिर भी उनकी भाषा संयत और शिष्ट होती थी। उनकी रचनाओं को देखने से पता चलता है कि वह दो प्रकार की भाषा लिखा करते थे : एक तो वह जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्राधान्य रहता था और दूसरी वह जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ फारसी तथा अरबी और कभी-कभी अँगरेजी शब्दों का मिश्रण हो जाता था। ऐसी भाषा में फारसी-अरबी के 'मकबरे', 'मौक़ा', 'क़रक़रा', 'आलीशान', 'आरास्ता', 'रुह', 'राहत' आदि शब्द तथा अँगरेजी के 'कैरेक्टर', 'फीलिंग,' 'स्कीम' आदि शब्द वह ज्यों-के-त्यों प्रयोग में लाते थे और उन्हें प्रायः ब्रेकेट में दे देते थे। कभी-कभी अप्रचलित अँगरेजी-शब्दों का प्रयोग करते समय वह उनके पर्याय भी लिख देते थे। 'किमपि', 'दैवात्', 'अन्ततोगत्वा' आदि संस्कृत के पूर्व-निर्मित शब्दों का भी वह उपयोग करते थे। इनके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर पूर्वी ढङ्ग के 'धमकाय बुझाय' आदि प्रयोग तथा 'अधिकाई' 'पुर्विले,' 'फोटो-फाँटो', 'किरलें', 'चिलिम', 'डाहा-डीठी', 'धोल-धक्कड़' जैसे रूप भी दिखाई पड़ते हैं। ऐसे प्रासंगिक प्रयोगों से स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी भाषा को शक्तिशाली बनाने की पूरी चेष्टा की है।

भट्टजी की शब्द-चयन-शक्ति अत्यन्त प्रबल थी। शब्द की तह तक जाने में उनकी विशेष गति थी। निरुक्त-शास्त्र का अध्ययन करने के कारण वह शब्दों की आत्मा के अच्छे पारखी हो गए थे और उनके प्रयोग में अधिक सावधान रहते थे। भाषा में वह वक्रोक्ति के उपासक थे। इससे भाषा में व्यंग्यमयी छटा लाने में उन्हें विशेष सरलता होती थी। विषयानुसार शब्दावली के वह जीवित कोश थे। संस्कृत, अरबी, फारसी, उर्दू, अँगरेजी आदि अनेक भाषाओं में समान गति होने पर भी वह अपनी रचनाओं में उन्हीं शब्दों को प्रयुक्त करते थे जो भाव के अनुकूल होते थे। भाव-दारिद्रय उन्हें अरुचिकर था। भावों को स्पष्ट करने के लिए वह बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक और हिन्दी की कविताएँ भी दे देते थे।

भट्टजी की भाषा में मुहावरों तथा कहावतों का भी सुन्दर प्रयोग मिलता है। गम्भीर लेखों में भी उन्होंने मुहावरों की झड़ी-सी लगा दी है। लगता है, जैसे उन्होंने मुहावरों का चमत्कार दिखाने के लिए ही रचना की है। उनकी यह मुहावरा-प्रियता कहीं-कहीं खटकती भी है। मुहावरों का प्रयोग अपनी सीमा के भीतर ही शैली में सौन्दर्य की स्थापना करता है। उनके अत्यधिक प्रयोग से भाषा का प्रवाह नष्ट हो जाता है और विचार-ग्रहण में बाधा पड़ती है।

भट्टजी की शैली ।

भट्टजी अपने समय के अच्छे शैलीकार थे। व्यास तथा समास—इन दोनों प्रकार की शैलियों-द्वारा वह निबन्ध लिखने में अत्यन्त कुशल थे, पर उन्हें समास-शैली ही विशेष प्रिय थी। इन दोनों शैलियों के प्रत्येक वाक्य में वह बोलते से जान पड़ते हैं। उनकी शैली की यही विशेषता उन्हें ऊँचा उठाए हुए है। आरंभ में वह तुकदार वाक्यांशों की ओर झुके थे, पर ज्यों-ज्यों उनकी भाषा-शैली प्रौढ़ होती गयी त्यों-त्यों उन्होंने उनका प्रयोग त्याग दिया। लम्बे वाक्य बनाने की प्रवृत्ति उनमें अन्त तक बनी रही। इससे उनकी भाषा में शिथिलता आ गई। कहीं-कहीं अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से भाषा प्रवाह में भी बाधा पहुँची। व्याकरण की अशुद्धियाँ भी उनसे हुई। इन दोषों के होते हुए भी उनकी शैली पुष्ट और उनकी भाषा अन्य लेखकों की अपेक्षा परिमार्जित है। उनकी शैली के मुख्यतः चार रूप हैं :—

(१) वर्णनात्मक शैली—इस शैली में भट्टजी व्यावहारिक तथा सामाजिक विषयों का प्रतिपादन करते थे। उनके उपन्यास तथा कौतूहल-वर्धक निबन्ध इसी शैली में हैं। वस्तुतः उनकी यह शैली उनकी साहित्यिक प्रतिभा का प्रतिनिधित्व नहीं करती। इस शैली में उनकी रचनाएँ साधारण जनता के लिए ही होती थीं।

(२) भावात्मक शैली—इस शैली में भट्टजी का वास्तविक रूप सन्निहित है। उनके मुख्य निबन्ध इसी शैली में हैं। इसमें काव्य की-सी

सुन्दर छटा दिखाई पड़ती है जो पाठक का हृदय अपने में तन्मय कर लेती है। इसकी तीन विशेषताएँ हैं। इसकी पहली विशेषता तो यह है कि इसमें शुद्ध हिन्दी भाषा का प्रयोग हुआ है। भाषा प्रवाहपूर्ण, संयत, सरल प्रसाद-गुणयुक्त और भावानुकूल है। इसकी दूसरी विशेषता है : इसमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का सरल प्रयोग। इन अलंकारों के प्रयोग से भाषा में जो सौंदर्य आ गया है वह अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। ऐसी शैली को हम 'अलङ्कृत शैली' भी कह सकते हैं। इसकी तीसरी विशेषता है, भावों तथा विचारों के साथ कल्पना का सुन्दर समन्वय। इस दृष्टि से मट्टजी की भावात्मक शैली साधारण स्तर से बहुत ऊँची उठ गयी है। उनके भावों तथा कल्पनाओं के ऐसे ही सुन्दर समन्वय में उनके गद्य-काव्य का विकास हुआ है। इस शैली का एक रूप उनका गद्य-काव्य भी है। वह गद्य-काव्य के प्रथम प्रणेता हैं।

(३) व्यंगात्मक शैली—मट्टजी की शैली में व्यंग और हास्य को भी स्थान मिला है, पर वह अपनी सीमा के भीतर संयत और शिष्ट है। उनका व्यंग सरल न होकर कुछ तीखा और मार्मिक होता है। इसी प्रकार उनका हास्य अट्टहास्य की सीमा तक नहीं पहुँचता। विनोद की अपेक्षा उनके व्यंग ही अधिक घनीभूत हैं। इस शैली का प्रयोग उन्होंने समय-समय पर आवश्यकतानुसार ही किया है।

(४) विचारात्मक शैली—इस शैली में उन्होंने गंभीर विषयों को स्थान दिया है। 'तर्क और विश्वास', 'ज्ञान और भक्ति', 'संभाषण' 'सुख क्या है' आदि इसी शैली के निबंध हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा और शैली के क्षेत्र में मट्टजी अपने मार्ग के स्वयं स्रष्टा थे। उनके समय में राजा शिवप्रसाद की फ़ारसी-अरबी-शब्द-प्रधान शैली, राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृत-शब्द-प्रधान शैली और भारतेन्दु की मध्यवर्ती शैली थी, पर उन्होंने किसी शैली का अनुकरण नहीं किया। शब्द-चयन, पद-विन्यास, वाक्य-विन्यास तथा मुहावरों और कहावतों के प्रयोग आदि में उन्होंने अपनी व्यक्तिगत रुचि का परिचय दिया। यही

उनके व्यक्तित्व की विशेषता था। सरल, ठास, मनोव्यंजक, सरस, मुहावरेदार, प्रवाहयुक्त और प्रभावपूर्ण शैली के वह जनक थे। उनकी भाषा-शैली के दो उदाहरण लीजिए :—

'कितने लोग ऐसे भी हैं जिन्हें आँसू नहीं आता। इसलिए जहाँ पर यही ज़रूरत आँसू गिराने की हो उनके लिए प्याज़ का गट्ठा पास रखना बड़ी सहज तरकीब निकाली गयी। प्याज़ ज़रा सा आँख में छू जाने से आँसू गिरने लगता है।

'लोभी और कदर्य का बाहरी आकार' जिसको रुपया ही सब कुछ है और जो 'मर जैहों तोहिं न अंचैहों' वाली कहावत का नमूना है, उसकी मलिन तामसी प्रकृति को अच्छी तरह से प्रकट करता है। यह एक हुनर है।'

: ४ :

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जन्म सं० १९०७ मृत्यु सं० १९४१

जीवन-परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्रपद शुक्ल, ऋषि सप्तमी, संवत् १९०७, ९ सितम्बर, सोमवार, १८५० ई० को काशी के एक सुप्रसिद्ध सेठ-परिवार में हुआ था। उनके पूर्वजों का सम्बन्ध दिल्ली के शाही घराने से था। सत्रहवीं शताब्दी में जब शाहजहाँ का पुत्र शाहशुजा बंगाल का सूबेदार नियुक्त होकर राजमहल गया तब उनके पूर्वज भी बंगाल चले गये और मुर्शिदाबाद में रहने लगे। इस वंश के सेठ बालकृष्ण के प्रपौत्र तथा गिरधारीलाल के पुत्र, सेठ अमीचन्द, इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति थे। सेठ अमीचन्द की मृत्यु (सं० १८१५) के पश्चात् उनके पुत्र फतेहचन्द सं० १८१६ में काशी चले आये। उस समय फतेहचन्द की अवस्था केवल दस वर्ष की थी। काशी के गोकुल चन्द साहु की कन्या से उनका विवाह हुआ। सेठजी के और कोई सन्तान नहीं थी। ऐसी दशा में फतेहचन्द ही उनके उत्तराधिकारी हुए। सं० १८६७ में फतेहचन्द की मृत्यु हुई। उनकी एक मात्र सन्तान का नाम था हर्षचन्द। काशी में उनकी अच्छी ख्याति थी। सं० १९०१ में उनकी मृत्यु हुई। उस समय उनके पुत्र गोपालचन्द्र (सं० १८९०-१९१७) केवल ग्यारह वर्ष के थे। गोपालचन्द्र का विवाह (सं० १९००) दिल्ली के राय गिरोधरमल की कन्या पार्वती देवी के साथ हुआ था। इसी विवाह से भारतेन्दु का जन्म उनके ननिहाल में हुआ। गोपाल चन्द वैष्णव थे और ब्रजभाषा में कविता करते थे। उनका उपनाम 'गिरिधरदास' था। उनके दो ही काम

थे—कविता करना और पूजा-पाठ करना। हिन्दी के वह अनन्य प्रेमी थे। और ब्रजभाषा में कविता करते थे। उन्होंने ४० ग्रन्थ लिखे थे। उनके इन ग्रन्थों में से बहुत से इस समय अप्राप्य हैं, पर जो प्राप्य हैं उनमें उनका काव्य-कौशल अत्यन्त उच्चकोटि का है। 'जरासंध' उनका महाकाव्य, 'नहुष' उनका नाटक और 'भारतीभूषण' तथा 'रसरत्नाकर' आदि उनके रीति-ग्रन्थ हैं। ऐसे पिता के वंश में जन्म लेकर भारतेन्दु ने उसके गौरव और सम्मान की बड़ी रक्षा की।

भारतेन्दु बड़े प्रतिभा-सम्पन्न बालक थे। बचपन में वह बड़े नटखट थे। दुर्भाग्य से पाँच वर्ष की अल्पावस्था में ही वह मातृ-स्नेह से वंचित हो गये। नौ वर्ष की अवस्था में उनका यज्ञोपवीत हुआ और इसके एक वर्ष बाद ही उनके पिता भी उन्हें अकेला छोड़कर चल बसे। उनकी विमाता मोहन बीबी (मृ० सं० १९३८) का उन पर विशेष प्रेम नहीं था। इस प्रकार आरम्भ ही से माता-पिता के स्नेह से वंचित होकर उन्होंने जीवन में प्रवेश किया। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा दो तीन वर्ष तक स्थानीय क्वींस कालेज में और फिर घर पर ही हुई। हिन्दी तथा अँगरेज़ी पढ़ाने के लिए शिक्षक उनके घर पर ही आया करते थे। उर्दू वह मौलवी ताज अली से पढ़ते थे। मराठी, बंगला, गुजराती, मारवाड़ी, पंजाबी आदि का ज्ञान उन्होंने स्वयं प्राप्त किया था। कविता करने की ओर दिन-प्रतिदिन उनकी अभिरुचि बढ़ती जा रही थी। वह स्वतन्त्रप्रकृति के बालक थे। किसी प्रकार का बन्धन उनके स्वभाव के विरुद्ध था। इसलिए अधिक दिनों तक उनका नियमित रूप से पढ़ना लिखना न हो सका। १३ वर्ष की अवस्था (सं० १९२०) में शिवालय के रईस लाला गुलाबराय की सुपुत्री मन्नोदेवी के साथ उनका विवाह हुआ जिससे कालान्तर में दो पुत्र और एक पुत्री का जन्म हुआ। दोनों पुत्र तो शैशवावस्था में ही काल-कवलित हो गये, पुत्री अवश्य जीवित रही जिसका विवाह सं० १९३७ में हुआ।

भारतेन्दु ने १५ वर्ष की अवस्था (सं० १९२२) में सपरिवार जगन्नाथ पुरी की यात्रा की। इससे उनकी पढ़ाई का क्रम टूट गया। सं० १९२३

में उन्होंने बुलन्दशहर और कुचेसर तथा सं० १८२८ में कानपुर, लखनऊ, सहारनपुर, मंसूरी, हरिद्वार, लाहौर, अमृतसर, दिल्ली, ब्रज और आगरा की यात्रा की। सं० १६३४ में वह पुष्कर की यात्रा करने अजमेर गये। सं० १६३७ में वह काशी-नरेश के साथ वैद्यनाथ धाम गये। इसके दो वर्ष पश्चात् सं० १६३६ में उन्होंने उदयपुर तथा चित्तौड़ की भी यात्रा की। इन यात्राओं में उन्हें विशेष अनुभव हुआ। साहित्य और समाज की सेवा वह बराबर करते रहे। उन्होंने कई स्कूल, क्लब, सभा, पुस्तकालय आदि की स्थापना की तथा कई पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया। उन्होंने कुछ परीक्षाएँ भी नियत कीं जिनमें वह स्वयं पारितोषिक दिया करते थे। काशी का हरिश्चन्द्र डिग्री कालेज उन्हीं का स्थापित किया हुआ है।

भारतेन्दु का जीवन साहित्य-सेवा का जीवन था। उस समय के सभी प्रकार के साहित्यकारों से उनका परिचय था। कवि, लेखक, सम्पादक, हिन्दी-हितैषी, बुक्कड़—सभी उन्हें जानते थे और उनके दरबार में सम्मान पाते थे। राजा से रङ्क तक उनकी मित्र-मण्डली में थे। उस समय के हिन्दी-साहित्य-सेवियों में ठाकुर जगमोहनसिंह, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, दामोदर शास्त्री, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बाबा सुमेरसिंह आदि उनके परम मित्र थे। भारतेन्दु इन साहित्य-सेवियों में सर्वोपरि थे। इसलिए साहित्य की नवीन दिशा को निश्चित करने में उन्हीं का हाथ रहता था। उनके पास सरस्वती थी, लक्ष्मी थी। सरस्वती की सेवा में उन्होंने लक्ष्मी को पानी की तरह बहा दिया। उनकी यह दशा देखकर उनके छोटे भाई गोकुलचन्द ने समस्त जायदाद का बटवारा करा लिया। जायदाद का बटवारा होने के पश्चात् भी भारतेन्दु की दानशीलता में किसी प्रकार की कमी नहीं आयी। इसका फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में उन पर अधिक ऋण हो गया। ऋण चुकता करने में उनकी बहुत-सी सम्पत्ति उनके जीवन-काल में ही निकल गयी। फलतः आर्थिक कष्टों की चिन्ता से उनका शरीर शिथिल होने लगा। अन्त में उन्हें क्षय रोग हो गया। इस रोग से वह मुक्त न हो सके। माघ, कृष्ण ६, सं० १६४१

तदनुसार ६ जनवरी, सन् १८८५ ई० को हिन्दी-साहित्य का वह दीपक सदैव के लिए बुझ गया। उस समय उनकी अवस्था ३४ वर्ष ४ महीने की थी।

भारतेन्दु की रचनाएँ

भारतेन्दु की रचनाओं की संख्या इतनी अधिक है कि उसे देखकर उनकी प्रतिभा, उनकी लगन और उनके अध्यवसाय पर आश्चर्य होता है। अपने १६-१७ वर्ष के साहित्यिक जीवन में उन्होंने हिन्दी-साहित्य को प्रत्येक दृष्टि से सुसंपन्न बनाया। नाटक, निबंध, इतिहास, यात्रा, जीवनी, पौराणिक आख्यान—इन सब की ओर उनकी दृष्टि गयी और इन सब का उन्होंने पथ-प्रदर्शन किया। उन्होंने कविताएँ भी कीं जो 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' द्वितीय खंड' में संग्रहीत हैं। यहाँ हम उनके गद्य-साहित्य पर ही विचार करेंगे जो इस प्रकार है :—

१. नाट्य-साहित्य—भारतेन्दु के नाटकों का सामान्य परिचय इस प्रकार है :—

(१) प्रवास नाटक—इसका रचना-काल सं० १९२५ है। यह अपूर्ण और अप्रकाशित है।

(२) विद्या सुन्दर—इसका अनुवाद-काल सं० १९२५ है। यह बंगला के नाटककार महाराज यतीन्द्र मोहन ठाकुर-कृत 'विद्यासुन्दर' नाटक का अनुवाद है और बंगाल की एक लोक-प्रसिद्ध कथा पर आधारित है।

(३) रत्नावली—इसका अनुवाद-काल सं० १९२५ है। यह संस्कृत नाटिका श्रीहर्ष-कृत 'रत्नावली' का अनुवाद है। यह अपूर्ण है। नांदी, प्रस्तावना और विष्कंभक के बाद का कोई अंश प्राप्त नहीं है।

(४) पाखण्ड विडंबन—इसका अनुवाद-काल सं० १९२६ है। यह कृष्ण मिश्र-कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' संस्कृत-नाटक के तृतीय अंक का अनुवाद है। इसमें गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। यह धार्मिक रूपक है। इसमें शांत, करुण, श्रद्धा आदि भावनाओं को मूर्त रूप में चित्रित किया गया है। इसमें कहीं-कहीं ब्रजभाषा का भी प्रयोग हुआ है।

(५) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति—इस मौलिक प्रहसन का रचना-

काल सं० १६३० है। इसमें चार अंक हैं जिनमें मांसाहारियों, मद्यपियों और पाखंडियों पर व्यंग-द्वारा हास की सृष्टि की गयी है।

(६) धनंजय विजय—इस व्यायोग का अनुवाद-काल सं० १६३० है। यह कांचन कवि के संस्कृत-नाटक का अनुवाद है। इसमें पांडवों के अज्ञातवास की एक पौराणिक कथा के आधार पर अभिमन्यु और उत्तरा का विवाह कराया गया है। इसमें मङ्गलाचरण, भरत-वाक्य आदि हैं और एक ही दिन की कथा का नाटकीय वर्णन है।

(७) कर्पूर मंजरी—इसका अनुवाद-काल ब्रजरत्नदास के अनुसार सं० १६३३ और डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार सं० १६३२ है। यह सट्टक है और राजशेखर के प्राकृत नाटक का अनुवाद है। इसमें विदर्भ नरेश चन्द्रपाल राज और उनकी रानी शशिप्रभा की पुत्री कर्पूर-मञ्जरी तथा राजा चंद्रपाल की प्रेम-कथा का वर्णन है। इसमें चार अंक हैं जो गर्भाङ्कों अथवा दृश्यों में विभाजित नहीं हैं। इसमें मङ्गलाचरण, भरत-वाक्य आदि को भी स्थान मिला है। यह शृङ्गार रस-प्रधान रचना है। इसमें 'देव' और 'पद्माकर' के बड़े छंद भी दिए गए हैं।

(८) । [illegible] हरिश्चन्द्र—इस मौलिक पौराणिक नाटक का रचना-काल सं० १६१२ है। कुछ लेखक इसे रूपांतरित मानते हैं। उनका कहना है कि यह क्षेमीश्वर-कृत 'चंडकौशिक' संस्कृत-नाटक का रूपान्तर है। भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' का कथानक अपने में अधिकांश मौलिक है। ऐसी स्थिति में यह रूपांतर न होकर एक मौलिक रचना ही कही जायगी। इसमें रूपक के सभी लक्षण हैं। नाटक के आरम्भ में नांदी पाठ तथा अन्य आवश्यक भूमिकाएँ हैं और अन्त में भरत-वाक्य है। इसमें वीर—सत्य वीर और दानवीर—रस का परिपाक हुआ है और श्मशान के वर्णन में वीभत्स, भयानक और करुण रसों की अवतारणा हुई है। इसमें कुल चार अंक हैं।

(९) प्रेम जोगिनी—इस मौलिक अपूर्ण नाटिका का रचना-काल सं० १६३२ है। इसमें एक अंक है जो चार दृश्यों में विभाजित है। इसमें तत्कालीन काशी का वर्णन है। यह पहले 'काशी के छाया चित्र या दो

भले-बुरे फोटोग्राफ' के नाम से प्रकाशित हुआ था। बाद में दो गर्भाङ्क और लिखे गये। इसमें भारतेन्दु की जीवन-सम्बन्धी कुछ बातें भी मिलती हैं।

(१०) विषस्य विषमौषधम्—इस मौलिक भाण का रचना-काल सं० १९३३ है। इसके एक ही अंक में भण्डाचार्य आकाश की ओर मुख करके कुछ कहता है जिसका सम्बन्ध सं० १९३२ की एक राजनीतिक घटना से है। कहा जाता है कि बड़ौदा के गायकवाड़ कुप्रबन्ध के कारण गद्दी से उतार दिए गए थे और उनके स्थान पर सयाजी राव को गद्दी मिली थी। इस घटना की प्रतिक्रिया के रूप में इस भाण की रचना हुई थी। इससे भारतेन्दु की देश-प्रेम भावना का आभास मिलता है।

(११) श्री चन्द्रावली—इस मौलिक पौराणिक नाटिका का रचना-काल ब्रजरत्नदास के अनुसार सं० १९३२ और डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार सं० १९३३ है। इसमें चन्द्रावली का कृष्ण के प्रति पूर्वानुराग, विरह और अंत में संयोग का सुन्दर वर्णन है। इसके द्वारा भारतेन्दु ने अपनी पुष्टि मार्गीय भक्ति का प्रतिपादन किया है। इसमें चार अङ्क हैं।

(१२) भारत-जननी—इस मौलिक नाट्य गीत (आपैरा) का रचना-काल सं० १९३४ है। इसका निर्माण बङ्गला के 'भारत माता' के आधार पर हुआ है। इसमें भारत भूमि और उसकी सन्तान की पारस्परिक फूट आदि-द्वारा उत्पन्न दुर्दशा का वर्णन है और उसके आधार पर भावी सुधार की योजना है।

(१३) मुद्राराक्षस—इसका अनुवाद सं० १९३१ से आरम्भ हुआ और तीन वर्ष पश्चात् सम्पूर्ण होकर सं० १९३५ में प्रकाशित हुआ। यह विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद है। इसमें नन्द-वंश के पतन और चंद्रगुप्त मौर्य के सिंहासनारूढ़ होने की ऐतिहासिक कथा का वर्णन तथा राक्षस और चाणक्य—इन दोनों के राजनीतिक घात प्रतिघातों का अच्छा चित्रण हुआ है। इसमें सात अङ्क हैं और नाट्यशास्त्र के सभी लक्षण मिलते हैं।

(१४) भारत दुर्दशा—इस मौलिक लास्यरूपक का रचना-काल ब्रज-

रत्नदास के अनुसार सं० १६३३ और डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार सं० १६३७ है। इसमें भारत के प्राचीन गौरव और उसकी वर्तमान दशा का वर्णन है जिसमें आशा, फूट, असंतोष, लोभ, भय आदि भावनाओं को मूर्त-रूप प्रदान किया गया है। इसमें छः अङ्क हैं। मङ्गलाचरण के बाद प्रारम्भिक भूमिकाएँ हैं और अन्त में भरत-वाक्य नहीं है। इसमें लास्य रूपक के सभी लक्षण भी नहीं मिलते।

(१५) दुर्लभ बन्धु—इस नाटक का अनुवाद-काल सं० १६३७ है। यह शेक्सपियर के 'मर्चेंट आफ वेनिस' का अपूर्ण अनुवाद है जिसे बाद को रामशंकर व्यास और राधाकृष्ण दास ने पूरा किया। अनुवाद में केवल अँगरेजी नामों का भारतीयकरण किया गया है, जैसे 'पोर्शिया' के स्थान पर 'पुरश्री' आदि।

(१६) नीलदेवी—इस मौलिक ऐतिहासिक गीति-रूपक का रचना-काल सं० १६३८ है। यह वियोगांत रचना है। इसमें दस अङ्क हैं जिनमें करुण, वीर और हास्य रसों की अवतारणा हुई है। इससे भारतेन्दु की देश-भक्ति और स्त्रियों के संबंध में उनके विचारों का अच्छा आभास मिलता है। इसका कथानक काजी अब्दुश्शरीफ खाँ सूर के चरित्र से संबंध रखता है। वह जब राजा सूर्यदेव को मरवा डालता है तब उसकी रानी नीलदेवी अपने पति की हत्या का बदला लेने के लिए धोखे से काजी की हत्या करती है। मूल कथानक के साथ कुछ कल्पित पात्र भी हैं।

(१७) अंधेर नगरी—इस मौलिक प्रहसन का रचना-काल सं० १६३८ है। यह छः अङ्कों में है।

(१८) सती प्रताप—इस मौलिक अपूर्ण पौराणिक गीति-रूपक का रचना काल सं० १६४० है। इसमें सावित्री-सत्यवान् की कथा केवल चार अङ्कों तक ही चल पायी थी कि लिखना रुक गया। सं० १६४६ में बाबू राधाकृष्ण दास ने इसे पूरा किया।

२. उपाख्यान और कथाएँ—भारतेन्दु के समय में हिन्दी-जनता जादूभरी कहानियों तथा धार्मिक कथाओं से अपना मनोरंजन कर रही थी।

हिन्दी साहित्य को उन्नत रूप देने में ऐसी रचनाएँ पर्याप्त नहीं थीं। भारतेन्दु ने इस अभाव की पूर्ति की। उन्होंने ऐतिहासिक, पौराणिक तथा सामाजिक कथाओं की रचना की। बाबू राधाकृष्ण दास ने उनकी आख्यायिकाओं तथा कथाओं में 'रामलीला' (गद्य-पद्य) 'हमीरहठ' (अपूर्ण तथा अप्रकाशित) 'राजसिंह' (अपूर्ण), 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' (अपूर्ण) 'सुलोचना', 'मदालसोपाख्यान', 'शीलवती' और 'सावित्री चरित्र' आदि का उल्लेख किया है। 'सुलोचना' और 'सावित्री चरित्र' के सम्बन्ध में उन्हें सदेह है। 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' मराठी से अनूदित हिन्दी-उपन्यास है। वास्तव में उपन्यास-रचना की ओर भारतेन्दु ने विशेष ध्यान नहीं दिया, पर उन्होंने अन्य लेखकों को प्रोत्साहित अवश्य किया और अपनी रचनाओं-द्वारा उनका मार्ग-प्रदर्शन किया।

३. इतिहास और पुरातत्त्व—भारतेन्दु के इतिहास और पुरातत्व सम्बन्धी लेख एशियाटिक सोसायटी के जर्नल तथा प्रोसीडिंग्स में प्रकाशित होते थे। खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित 'श्री हरिश्चन्द्र-कला' (द्वितीय भाग: १८७५) में उनके 'काश्मीर कुसुम', 'महाराष्ट्र देश का का इतिहास', 'रामायण का समय', 'अग्रवालों की उत्पत्ति' (स० १९२८) 'खत्रियों की उत्पत्ति' (स० १९३०) 'बादशाह दर्पण' (स० १९४१) 'बूँदी का राजवश', 'उदयपुरोदय', 'पुरावृत्त सग्रह, चरितावली', 'पच पवित्रात्मा', 'दिल्ली-दरबार-दर्पण' और 'कालचक्र' (स० १९४१) नाम के लगभग तेरह छोटे-बड़े ग्रथ सगृहीत हैं।

४. निबन्ध तथा अन्य रचनाएँ—भारतेन्दु की अन्य साहित्यिक रचनाओं में 'हिन्दी भाषा' (स० १९४७) तथा 'नाटक' (स० १९४०) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। 'पाँचवें पैगम्बर', 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन', 'सबै जाति गोपाल की', 'बसंतजा', 'अँगरेज स्तोत्र', 'मदिरा स्तवराज', 'श्री दड-सग्रह', 'परिहासिनी', 'स्त्री-सेवा-पद्धति', 'रुद्री का भावार्थ', 'मेला-झमेला' आदि उनकी स्फुट रचनाएँ हैं। 'सगीत-सार' भी उनकी एक सुन्दर रचना है।

भारतेन्दु का समय

भारतेन्दु के जीवन और उनकी रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि वह अपने युग की उपज थे। उनका जन्म ऐसे समय में हुआ था जब भारत में प्राचीन और नवीन शक्तियों के बीच संघर्ष चल रहा था और राजनीति के क्षेत्र में किसी नवीन 'वाद' की व्यवस्था न होने पर भी एक हलचल-सी मची हुई थी। हिन्दू और मुसलमानी-राज्य पारस्परिक फूट और साम्प्रदायिकता के कारण निर्बल हो गए थे और एक तीसरी शक्ति—कुशल व्यापारियों के रूप में अँगरेज़—अपनी सत्ता स्थापित करने में संलग्न थे। न्याय से, अन्याय से, जिस प्रकार भी हो सके, उनका उद्देश्य भारत का रक्त चूसना और पारस्परिक द्वेष-भावना को तीव्रतर करके अपना उल्लू सीधा करना था। हिन्दू और मुसलमान दोनों शक्तिहीन, अव्यवस्थित और असंगठित थे। इसलिए सं० १६१४ का वह विप्लव, राजनीतिक तथा धार्मिक कारणों से उठी हुई वह आँधी, शक्ति और अधिकार का वह पारस्परिक द्वन्द्व, जहाँ का तहाँ शान्त हो गया। हमारी सभ्यता, हमारा रहन-सहन, हमारी प्राचीन मर्यादा—सब पर अँगरेज़ी रंग चढ़ने लगा।

हिन्दू-समाज की दशा तो और भी शोचनीय थी। ईसा की अठारहवीं शताब्दी में हिन्दुओं ने मुसलमानी सत्ता के विरुद्ध अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए भरपूर चेष्टा की थी, पर अपने इस कार्य में उन्हें पूरी सफलता नहीं मिली थी। ऐसी दशा में उन्होंने अँगरेज़ों की सत्ता का भी विरोध किया। इस विरोध में हिन्दू-व्यापारी, अत्यन्त दरिद्र और अरक्षित लोग ही सम्मिलित नहीं थे, उच्च और सैनिक वर्ग के लोग भी नयी सत्ता के विरुद्ध थे। वास्तव में सं० १६१४ का राजनीतिक ज्वार उन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम था, पर जब वह भी शान्त हो गया तब समस्त हिन्दू-जाति एक बार फिर शिथिल हो गयी। बार-बार की पराजय से उसका अपने धर्म पर रहा-सहा विश्वास भी उठ गया। वह नास्तिक हो चली। भाँति-भाँति की कुरीतियाँ उसमें घुस आयीं। वह खोखला होने लगा। ऐसे खोखले समाज का साहित्य भी खोखला ही था।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी अव्यवस्थित रहीं कि हमें उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हिन्दी का कोई सत्साहित्य ही नहीं मिलता। हमारा तो अनुमान है कि देव और भूषण के पश्चात् हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में लगभग एक शताब्दी तक कोई प्रतिभाशाली कवि ही उत्पन्न नहीं हुआ। इस दीर्घ अवधि में जो कवि हुए भी वे या तो तुक्कड़ थे या रीति-कालीन-परम्परा के अधभक्त। जीवन की उठान के लिए उनकी रचनाओं में कोई योजना ही नहीं थी। भाषा की तो और भी शोचनीय दशा थी। सं० १९१४ की महाक्रान्ति समाप्त होने पर जब अँगरेजी शासन का प्रादुर्भाव हुआ तब कचहरियों में उर्दू भाषा का ही बोलबाला रहा। हिन्दी-गद्य की रूप-रेखा उस समय तक निश्चित ही नहीं हुई थी। इसलिए कचहरियों में उसे स्थान मिलना कठिन था। काव्य के क्षेत्र में तो मनमानी-घरजानी हो रही थी। काव्य का जीवन के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया था। समस्या पूर्ति ही काव्य का परम लक्ष्य था। शृंगार-काल की अश्लील नख-शिख की आँधी में कविगण लोक-हित की कामना से रिक्त हृदय लेकर सुखमय आश्रय में अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में जिन अभावों की पूर्ति के लिए ठोस विचार-प्रचार की आवश्यकता थी, उसकी ओर से सभी उदासीन थे। इसमें सन्देह नहीं कि विदेशियों के सम्पर्क साहित्य ने भारत के शिक्षित समुदाय में एक नई चेतना भर दी थी, पर उस चेतना का नेतृत्व करने का किसी में सामर्थ्य नहीं था। उच्च वर्ग के लोग अँगरेजी साहित्य से प्रभावित होकर उसी की ओर झुक रहे थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू-जाति से सम्बन्ध रखनेवाली तीन समस्याएँ—राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यक—अत्यन्त भयंकर थीं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में एक महान व्यक्तित्व की आवश्यकता थी। राजनीतिक क्षेत्र विशाल क्षेत्र था, उसकी समस्याएँ जटिल थीं। इसलिए इस क्षेत्र में अभी उपयुक्त नेताओं का जन्म नहीं हुआ था, पर सामाजिक क्षेत्र में आन्दोलन आरम्भ हो गए थे। बंगाल में राजा

राममोहन राय (सं० १८३३-६०) और उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी प्रान्तों में स्वामी दयानन्द (सं० १८८१-१६४०) के प्रयत्नों से भारतीय जन-जीवन में बाल विवाह, वृद्ध-विवाह, अछूतोद्धार आदि के प्रति सुधारवादी भावना और राष्ट्र तथा हिन्दी के प्रति सेवा की भावना जाग्रत हो रही थी। दक्षिण भारत में भी डा० भाण्डारकर और रानडे (स० १८९६-१९५८) ने हिन्दू-समाज को उठाने की चेष्टा की थी। इन समाज-सुधारकों द्वारा स्थापित संस्थाओं से अंधकार के गर्त में पड़ी हुई हिन्दू-जनता को आलोक मिला और उसे अपने जीवन के प्रति कुछ मोह उत्पन्न हुआ। इन आंदोलनों के साथ ही भाषा का प्रश्न भी सामने आया। इस समय तक उत्तरी भारत में भाषा के प्रश्न को लेकर दो दल बन चुके थे—एक दल उर्दू-प्रेमियों का था जिसके नेता थे सर सैयद अहमद खाँ और दूसरा दल हिन्दी-प्रेमियों का था जिसका नेतृत्व राजा लक्ष्मणसिंह (सं० १८८३-१९५१) तथा नवीनचन्द्र राय (सं० १८९६-१९४७) कर रहे थे। बङ्गाल में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (सं० १८७७-१९४८), माइकेल मधुसूदन दत्त (सं० १८८०-१९३०), बंकिमचन्द्र चटर्जी (सं० १८९५-१९५१), केशवचन्द्र सेन (सं० १८९५-१९४१) आदि बङ्गला साहित्य की उन्नति में लगे थे और मराठी में कृष्णशास्त्री चिपलूणकर (सं० १८८१-१९३१), लोक हितवादी (सं० १८८०-१९४६) तथा गोपाल कृष्ण आगरकर (सं० १९१३-५१) अपनी-अपनी प्रतिभा का परिचय दे रहे थे। दार्शनिक क्षेत्र में स्वामी विवेकानन्द (सं० १९१९-५०) और रामकृष्ण परम हंस (सं० १८९०-१९४३) की धूम थी। आर्थिक क्षेत्र में जमशेदजी नसरवानजी ताता (सं० १८९६-१९६१) की योजनाएँ चल रही थीं। सौभाग्य की बात थी कि इन आन्दोलनों के बीच भारतेन्दु ने जन्म लेकर हिन्दी-साहित्य का पल्ला पकड़ा और अपने जीवन के १६-१७ वर्षों में उन्होंने उसे इतना समृद्धशाली, इतना सम्पूर्ण बना दिया कि वह उर्दू से टक्कर लेने में समर्थ हो गई। उन्होंने हिन्दी की प्रत्येक आवश्यकता की वैज्ञानिक ढङ्ग पूर्ति की और उसका प्रत्येक अंग परिपुष्ट किया। उन्होंने देश की सभी समस्याओं को एक साथ अपने साहित्य में चित्रित किया और उनकी ओर

जनता का ध्यान आकृष्ट किया। इस दृष्टि से वह हिन्दी-साहित्य के लिए कल्प-तरु सिद्ध हुए।

भारतेन्दु का व्यक्तित्व

मारतेन्दु अपने समय की दिव्य विभूति थे। उनका व्यक्तित्व महान था। वह 'कलिकाल के कन्हैया' थे। लम्बा क़द, इकहरा शरीर, न बहुत मोटा न बहुत पतला, आँखें कुछ छोटी, नाक सुडौल, कान कुछ बड़े, प्रशस्त ललाट, जिस पर कुञ्चित केश की लम्बी लटें बल खाती थीं। ऐसे सुन्दर शरीर में उनके व्यक्तित्व की तीन रेखाएँ प्रस्फुटित हुई थीं · (१) व्यक्ति भारतेन्दु, (२) सुधारक भारतेन्दु और (३) कलाकार भारतेन्दु। व्यक्ति के रूप में भारतेन्दु का ठाठ-बाट रईसों का-सा था। वह जीवन में सौंदर्य और प्रेम के उपासक थे। संवेदनशीलता उनके जीवन का आभूषण थी। वैश्य होने पर भी उनमें व्यापार-बुद्धि नहीं थी। गर्व तो उनमें था ही नहीं, न अपनी विद्या का और न अपने धन का। अपनी राष्ट्र-प्रियता से उन्होंने अपने पूर्वज, सेठ अमीचन्द, का कलंक धो दिया था। हिन्दू-जाति पर उन्हें अभिमान था। उसके पतन से वह क्षुब्ध थे, उसके कल्याण के लिए वह सतत् प्रयत्नशील रहते थे।

भारतेन्दु की धार्मिक भावना बड़ी प्रबल थी। तीन वर्ष की अवस्था ही में उन्हें कंठी का मंत्र दिया गया था और नौ वर्ष की अवस्था में वह वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए थे। वह पुष्टि-मार्ग के समर्थक और 'राजधानी के ग़ुलाम' थे। आर्य-समाज के वह विरोधी थे। हिन्दू जाति में उस समय जिन कुरीतियों ने घर कर लिया था उनके उन्मूलन के लिए वह बाह्य साधनों का सहारा न लेकर आन्तरिक उपकरणों पर ही आश्रित रहना चाहते थे। इसी विचार से उन्होंने 'तदीय समाज' (सं० १६३०) की स्थापना की थी। वह सामान्य हिन्दू-धर्म के पक्षपाती थे। सामान्य धर्म से हिन्दू जनता को परिचित कराने तथा ईसाई और इस्लाम-धर्मों की आँच से उसकी रक्षा करने के लिए उन्होंने पर्याप्त साहित्य तैयार किया था। उनका 'तदीय समाज' उनकी धार्मिक भावनाओं का प्रतीक था। इस संस्था ने अहिंसा

और गो-रक्षा का प्रचार किया और लोगों को मद्य और माँस का परित्याग करने के लिए बाध्य किया। तीर्थ-स्थानों में यात्रियों के साथ जो अत्याचार होते थे, उनकी ओर भी भारतेन्दु ने ध्यान दिया था। स्त्री-समाज की दुर्दशा भी उनकी आँखों से छिपी नहीं थी। उन्होंने अपने घर पर ही कन्या हाई स्कूल खोला और 'बाल-बोधनी पत्रिका' को जन्म दिया था। इसलिए हम उनके साहित्य में उनको भक्त, सुधारक और उपदेशक के रूप में पाते हैं।

सुधारवादी प्रवृत्तियों के साथ-साथ भारतेन्दु के जीवन में राष्ट्रीय विचारों का भी स्फुरण हुआ था। वह अपने देश की परिस्थितियों और उसकी दैनिक समस्याओं से भलीभाँति परिचित थे। अँगरेज़ी-शासन शांति-प्रद था, पर उसकी व्यापारिक और साम्राज्यवादी नीति के वह समर्थक नहीं थे। राज-भक्त होते हुए भी उन्होंने राजकीय अधिकारियों की उपेक्षा की और साधारण जनता की उठती हुई बलवती उमङ्गों का नेतृत्व किया। वस्तुत: वह सरकार की नीति के आलोचक नहीं, अपितु अपने देश-वासियों के जीवन के आलोचक थे। वह अपने देश-वासियों को अपने देश की परि-स्थितियों से परिचित कराना चाहते थे। उनके समय में भारतीय चिन्तकों के दो वर्ग थे—एक तो वह जो भारत के अतीत की ओर देखता था और दूसरा वह जो केवल भविष्य पर दृष्टि जमाए हुए था। भारतेन्दु ने इन दोनों वर्गों का नेतृत्व अपनी समन्वयवादी भावना-द्वारा किया था। वह चाहते थे कि भारत के नर-नारी अपने भूत और भविष्य पर एक साथ विचार करें, देश की वर्तमान समस्याओं एवं आवश्यकताओं की सीमाएँ निर्धारित करें और विदेश में धन जाने से रोकें। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति उन्होंने साहित्य के माध्यम से की थी।

साहित्यिक-क्षेत्र में भारतेन्दु का व्यक्तित्व बेजोड़ था। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। अँगरेज़ी, हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी, मराठी, गुजराती, बङ्गला, संस्कृत और प्राकृत के वह अच्छे विद्वान थे। लिखने का उन्हें व्यसन था। डा॰ राजेन्द्र लाल के शब्दों में वह 'रायटिंग मशीन' थे। वह कई लिपियों में बड़ी सुन्दरता और कुशलता से लिख सकते थे। चौदह वर्ष

की अवस्था से ही उन्होंने लिखना आरम्भ कर दिया था। वह कवि, निबंधकार, पत्रकार, नाटककार, उपन्यासकार, इतिहास-लेखक, अनुवादक—सभी कुछ थे। अपने युग के वह हिन्दी-भाषा और साहित्य के नेता थे। उन्होंने अपने व्यक्तित्व से कई प्रतिभाशाली साहित्य-सेवियों को उत्पन्न किया था। उनके ऐसे गुणों पर मुग्ध होकर पं० रामेश्वरदत्त व्यास ने २७ सितम्बर सन् १८८० (सं० १९३७) के *'सार सुधानिधि'* पत्र में उन्हें *'भारतेन्दु'* की उपाधि से अलंकृत करने का प्रस्ताव किया और सबने मुक्तकंठ से इसका समर्थन किया। तब से वह 'भारतेन्दु' कहे जाने लगे।

भारतेन्दु का जीवन हास्य और विनोद का जीवन था। हास्य उनके जीवन में कूट-कूट कर भरा हुआ था। होली के अवसर पर उनकी हास्यप्रियता देखने योग्य होती थी। 'एप्रिल फूल्स डे' भी वह मनाते थे और एक क्षण में अपने विनोदमय व्यक्तित्व से सारे नगर को आनन्दमग्न कर देते थे। संगीत से भी उन्हें प्रेम था। ताश और शतरंज के वह अच्छे खेलाड़ी थे। मित्रों का उन्हें अभाव नहीं था। राजा से रंक तक सभी उनकी मित्र-मंडली में थे। इसलिए वह 'अजातशत्रु' के नाम से प्रसिद्ध थे। देशी-विदेशी विद्वानों, कवियों और साहित्य-प्रेमियों से उनकी मित्रता थी।

भारतेन्दु कई संस्थाओं के जन्मदाता थे। सं० १९२७ में उन्होंने 'कविता-वर्द्धिनी सभा' की स्थापना की। इसमें सरदार, सेवक, दीनदयाल गिरि, नारायण, द्विज, बाबा सुमेरसिंह आदि ब्रजभाषा के कवि सम्मिलित होते थे और अपनी रचनाओं द्वारा सब का मनोरंजन करते थे। सं० १९३० में 'पेनीरीडिंग क्लब' खोला गया। इस में गद्य-लेखकों का जमाव होता था। इसी वर्ष 'तदीय-समाज' की स्थापना हुई। यह भारतेन्दु के सुधारवादी दृष्टिकोण का प्रतीक था। इस के द्वारा वैष्णव-धर्म का प्रचार, गो-रक्षा-प्रचार तथा मांस-मदिरा का सेवन रोकने का प्रयत्न किया जाता था। 'वैश्य-हितैषिणी सभा' (सं० १९३१) जातीय संस्था थी और यह वैश्य-जाति में फैली हुई कुरीतियों को दूर करने की चेष्टा करती थी। नवयुवकों तथा विद्यार्थियों में वैष्णव-धर्म का प्रचार करने के लिए सं० १९३२ में भारतेन्दु

ने 'प्रविष्ट', 'प्रवीण' और 'पारङ्गत' नाम की परीक्षाएँ भी चलाई थीं। 'यङ्ग मैन असोसिएशन' (सं० १६२४) और 'डिबेटिंग क्लब' (सं० १६२५) के भी वह जन्मदाता थे। 'डिबेटिंग क्लब' में सामाजिक विषयों पर वाद-विवाद होता था। 'काशी सार्वजनिक सभा' के भी वह संस्थापक थे। 'कारमाइकेल लाइब्रेरी' तथा 'बाल सरस्वती भवन' के संस्थापन में भी उनका हाथ था। इनके अतिरिक्त वह अन्य सभा-संस्थाओं के भी कार्य-संचालन में सहयोग देते थे। एक साथ इतनी सार्वजनिक संस्थाओं को जन्म देना और उनमें सक्रिय भाग लेना भारतेन्दु का ही काम था। साहित्य, धर्म, जाति, समाज और देश की उन्नति के प्रति उन में कितनी लगन थी—इसका अनुमान लगाना अत्यन्त कठिन है।

भारतेन्दु पर प्रभाव

प्रश्न उठता है कि भारतेन्दु को सर्वप्रथम साहित्य-निर्माण की प्रेरणा कहाँ से मिली और उस पर किन-किन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा? इस प्रश्न का उत्तर हमें उनके जीवन से ही मिलता है। उनके पिता अपने समय के अच्छे कवि थे। उनके व्यक्तित्व का बालक भारतेन्दु पर पूरा प्रभाव था। उन्हीं से प्रेरणा पाकर भारतेन्दु लगभग चौदह वर्ष की अवस्था में हिन्दी-सेवा में जुट गये। इस सेवा के लिए उन्होंने विशेष तैयारी नहीं की। वह हिन्दी-सेवा के लिए उत्पन्न हुए थे। इस का स्पष्ट प्रमाण उनके इस दोहे से मिलता है जिसकी रचना उन्होंने पाँच वर्ष की अवस्था में की थी :—

'लै ब्यौंड़ा ठाढे भये श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सैन को हनन लगे भगवान॥'

भारतेन्दु के शैशव-काल का यह दोहा उनकी कवित्व-शक्ति और उनके पौराणिक कथाओं के ज्ञान का ही साक्षी नहीं है, उनके भविष्य का भी द्योतक है। उनके पिता ने यही समझकर उन्हें आशीर्वाद दिया था—'तू मेरा नाम बढ़ावेगा'। कालान्तर में यह भविष्य-वाणी सत्य हुई। पिता की इस भविष्य वाणी को सत्य करने में पं० लोकनाथ का विशेष हाथ था। पं० लोकनाथ की देख-रेख में ही भारतेन्दु ने हिन्दी के रीति-ग्रन्थों का

अच्छी तरह अध्ययन किया और संस्कृत के पौराणिक तथा साहित्यिक ग्रन्थों की भी छानबीन की। इसी बीच उन्होंने जगन्नाथपुरी की यात्रा भी की। इस यात्रा से उन्हें जीवन-व्यापी अनुभव प्राप्त हुए। वह बंगला-साहित्य के सम्पर्क में आये। इस साहित्य की प्रगति का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा। जगन्नाथपुरी से लौटने के बाद ही वह अपने साहित्य की सेवा में लग गये। इस कार्य में उनकी धार्मिक भावना ने उनका अत्यधिक पथ-प्रदर्शन किया। प्राचीन और नवीन सभ्यता के बीच उनकी धार्मिक भावना ने ही उन्हें मध्य मार्ग का अनुसरण करने के लिए बाध्य किया। वह कई बातों में नवीन होकर भी प्राचीन बने रहे। प्राचीन और नवीन आकर्षणों के बीच ही उन्होंने वर्तमान को उठाने और उसे समुन्नत बनाने की चेष्टा की। वह अपने दोनों युगों से प्रभावित थे। प्राचीन गौरव के पतन पर उनके हृदय का क्षोभ देखिए :—

'कहाँ गये विक्रम, भोज, राम, बलि, कर्ण, युधिष्ठिर,
चन्द्रगुप्त, चाणक्य, कहाँ नासे करि कै थिर,
कहँ क्षत्र सब मरे, जरे सब, गये किते गिर,
कहाँ राज को तौन साज जेहि जानत हैं चिर
कहँ दुर्ग, सैन, धन, बल गयो, धूरहिधूर दिखात जग।
जागो अब तो खल-बल दलन रखो अपनो आर्य-मग॥'

भारतेन्दु की इन उक्तियों में उनके करुण-क्रन्दन का मूल कारण है भारतीय संस्कृति का ह्रास जिसके पुनरुत्थान के लिए वह भगवान से प्रार्थी हैं। मानव चारों ओर से थककर उसी महान शक्ति के सामने अपनी यातनाओं के अन्त के लिए हाथ फैलाता है। भारतेन्दु अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आस्तिक हैं। सूर और तुलसी के समान वह भक्त नहीं हैं, पर ईश्वर की अनुकम्पा में उनका दृढ़ विश्वास है।

काव्य-क्षेत्र में भारतेन्दु ने रीति-कालीन परम्पराओं का अनुगमन किया है—वही छन्द, वही कल्पनाएँ, वही उपमाएँ और वही अलङ्कार। पर इनके माध्यम से भी उनकी प्राचीन और नवीन भावनाएँ ही व्यक्त हुई

है। उर्दू-कविता के सम्पर्क से हिन्दी-कविता में अनुभूति-जन्य गम्भीर भावों के चित्रण की ओर भी उनकी प्रवृत्ति झुकी है। सारांश यह कि भारतेन्दु में जहाँ नवीनता है, वहाँ प्राचीनता भी बहुत है। उनका साहित्य प्राचीनता और नवीनता का सङ्गम-स्थल है।

भारतेन्दु का महत्व

पर वस्तुतः हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु का महत्त्व उन पर पड़े हुए उक्त प्रभावों के कारण ही नहीं है। लेखक और कवि अपने समय की विशेष परिस्थितियों से बराबर प्रभावित होते रहते हैं और उन प्रभावों का चित्रण करते रहते हैं। भारतेन्दु का महत्वाङ्कन करते समय हमें यह देखना होगा कि उन्होंने हिन्दी साहित्य को किन परिस्थितियों से निकालकर किस सीमा तक पहुँचाया और वह भविष्य के लिए कितना उपयोगी सिद्ध हुआ। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें उनके महत्त्व के सम्बन्ध में जो सब से पहली बात ज्ञात होती है वह है उनमें सफल नेतृत्व की क्षमता। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य के उत्थान के लिए अपने जीवन का एक एक क्षण, अपनी संपत्ति का एक-एक पैसा, अपनी प्रतिभा की एक-एक रेखा का दान कर दिया। वह हिन्दी के महान व्रती थे। विदेशी शासकों की परवाह न करके उन्होंने ऐसे समय में देश-प्रेम की मधुर रागनी छेड़ी जब राष्ट्रीय भावना की उद्भावना भी नहीं हुई थी। उनका प्रधान उद्देश्य था, अकर्मण्यता और दासता के दलदल में फँसी हुई जनता का सांस्कृतिक और बौद्धिक विकास कर उसे स्वदेशाभिमान का ज्ञान कराना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने प्रत्येक उपलब्ध साधन का सम्यक् उपयोग किया। कविता, कहानी, निबन्ध, आख्यान, समाचार-पत्र—इन सब की ओर उनका ध्यान गया और इन सबको उन्होंने सफलतापूर्वक अपनाया। हिन्दी में राष्ट्रीय भावना के वह अग्रदूत थे।

भारतेन्दु के महत्व के सम्बन्ध में दूसरी ध्यान देने योग्य बात है, सन्धि-काल में सामञ्जस्य की भावना का सफल चित्रण। सन्धि-काल प्राचीन

और नवीन कालों के संगम का काल होता है। ऐसे काल में जन्म लेकर वह कवि और लेखक ही सफल हो सकता है जो अपनी रचनाओं में दोनों कालों की मान्यताओं और उनकी विशेषताओं का, अपनी मानसिक तुला पर उचित सतुलन कर, जनता की मनोभावनाओं का सफल नेतृत्व करता है। भारतेन्दु इस दृष्टि से अद्वितीय हैं। भारतीय इतिहास में उनका सधि-काल अन्य सधि-कालों की अपेक्षा अधिक भयङ्कर था। हिन्दू-काल का अवसान और इस्लामी सभ्यता का प्रादुर्भाव होने पर इस देश में 'चन्द' ने हिन्दू-भावना का नेतृत्व किया था, पर उनके नेतृत्व का प्रभाव चिर-स्थायी नहीं रह सका। बात यह थी कि उन्होंने तत्कालीन जनता की भावनाओं का नेतृत्व नहीं, अपितु अपनी काव्य-कल्पनाओं, प्रेम-लीलाओं और राजपूतों की युद्ध-प्रियता का चित्रण किया था। कबीर भी सधि-काल के ही सत-कवि कहे जाते हैं, पर उनकी साधना व्यक्तिगत साधना थी; लोक-जीवन की व्यापक एवं व्यावहारिक समस्याओं से उनका विशेष सबन्ध नहीं था। सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण आदि अन्य युग के कवि थे। अतः हिन्दी में सधि-काल का सफल नेतृत्व करनेवाला यदि कोई कहा जा सकता है तो वह भारतेन्दु थे। उनके समय में हिन्दू सभ्यता और साहित्य को एक ओर इस्लामी सभ्यता की लाडिली उर्दू भाषा से टक्कर लेनी थी और दूसरी ओर अँगरेज़ों की भरी-पुरी भाषा अँगरेज़ी से लोहा लेना था। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी की रक्षा करना और उसे भारत के शिक्षित समुदाय में लोक-प्रिय बनाकर स्कूलों में स्थान दिलाना भारतेन्दु ही जैसे कर्मठ व्यक्तियों का काम था। इतना ही नहीं, उन्होंने भाषा का संस्कार किया, उसे जीवन प्रदान किया, काव्य की प्राचीन शैलियों का परिमार्जन कर साहित्य और जीवन में सम्पर्क एवं समन्वय स्थापित किया और नयी उठती हुई उमङ्गों का पथ-प्रदर्शन किया। एक ही साथ इतने कार्य और प्रत्येक कार्य में अभूतपूर्व सफलता! भारतेन्दु अपनी इस सफलता के कारण हिन्दी-जगत में चिरस्मरणीय हैं और इसीलिए उनके नाम से उनका युग 'भारतेन्दु-युग' (स० १६२५ ५०) कहा जाता है।

भारतेन्दु-युग की विशेषताएँ

'भारतेन्दु-युग' हिन्दी साहित्य के इतिहास के नव जागरण का युग माना जाता है। इस युग मे रीति-काल की परम्पराओं का अवसान और नवीन परम्पराओं का प्रादुर्भाव होता है। सं० १६१४ की राजक्रान्ति इस युग की जननी है। भारतीय इतिहास में यह घटना आँधी की तरह आई और आँधी की तरह निकल गयी, पर इसने प्रत्येक भारतीय समाज की नस-नस को हिला दिया। मानव-हृदय में जो भावनाएँ सुसुप्त थीं उन्हें इसने जगा दिया। देश का कोना-कोना नई चेतनाओं से, नई स्फूर्तियों से क्रियाशील हो उठा। पाश्चात्य सुसम्पन्न साहित्य और गगनगामी सभ्यता के आलोक में भारतवासियों ने पहली बार अपनी हीनता का अनुभव किया जिससे उनमें प्रतिक्रिया की प्रबल भावना उत्पन्न हुई। भारतेन्दु-युग की यही पहली विशेषता है। इस युग ने प्राचीन आदर्शों को नव जागरण के अनुकूल बनाकर साहित्य में उन्हें स्थान दिया। फलतः तत्कालीन साहित्यकारों ने प्राचीन काव्य-परम्पराओं का क्रमशः परित्याग किया और हिन्दी-साहित्य में क्रान्ति की एक ऐसी भावना को जन्म दिया जिसने आगे चलकर 'द्विवेदी युग' और 'छायावाद-युग' का प्रादुर्भाव किया।

'भारतेन्दु-युग' की दूसरी विशेषता है—विविध प्रकार का साहित्य प्रस्तुत करके हिन्दी के प्रति जनता में अनुराग उत्पन्न करना और हिन्दी-साहित्य को लोक-प्रिय बनाना। रीति-कालीन साहित्य-साधना का आदर्श एकनिष्ठ था। वह रईसों, राजाओं और महाराजाओं के मनोरंजन तक ही सीमित था। इसलिए उस समय साहित्य के केवल एक अंग की—शृंगार और अलङ्कार से लदी हुई कविता की—पुष्टि हुई। साहित्य का जनता के साथ, जनता के जीवन के साथ और उस जीवन के उत्थान-पतन, राग-द्वेष, दुःख-सुख के साथ, कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। 'भारतेन्दु-युग' ने साहित्य का जनता के जीवन के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित किया और उसे राजा-महाराजाओं के विध्वंश प्रकोष्ठों से निकाल-कर अनेकरूपता प्रदान की। फलतः नाटक, उपन्यास, निबन्ध, खण्ड-

काव्य, गद्य-काव्य, इतिहास आदि लिखे जाने लगे। ऐसी दशा में कवियों में आश्रयदाताओं पर जीविका के लिए निर्भर रहने की जो दूषित भावना थी, उसका लोप हो गया और वह जनता के प्रति उत्तरदायी हो गये।

'भारतेन्दु-युग' की तीसरी विशेषता है—अभिव्यंजना के क्षेत्र में मनोभावों का सफल और प्रकृत चित्रण। रीति काल में सामान्य जनता से कवियों का सम्पर्क छूट गया था। फलतः उनकी रचनाओं में कल्पना की उड़ान तो थी, पर भावों का यथार्थ और वास्तविक चित्रण नहीं था। सं० १९१४ के पश्चात् इस अभाव की पूर्ति हो गयी। साहित्यकारों को जनता के सम्पर्क में आकर उसकी मनोभावनाओं का अध्ययन करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य में राष्ट्रीय एवं सामाजिक भावनाओं की निर्मल धारा प्रवाहित होने लगी।

'भारतेन्दु-युग' की चौथी विशेषता है—सामूहिक रूप से सभी साहित्यकारों का साहित्य के परिमार्जन एवं परिवर्धन प्रशंसनीय सहयोग। इस दृष्टि से इस काल का साहित्य 'गोष्ठी-साहित्य' था। इस युग में साहित्य का निर्माण भारतेन्दु और उनके इष्ट मित्रों द्वारा ही हुआ। प्रत्येक लेखक अपनी मंडली के अन्य लेखकों से प्रोत्साहन पाने की आशा रखता था। वस्तुतः वह अपनी इष्ट मित्र-मंडली को सुनाने के लिए ही लिखता था। भारतेन्दु इस मंडली के केन्द्र थे। उन्हीं के घर पर लेखकों और कवियों की बैठक होती थी। ऐसी बैठकों में हिन्दी-साहित्य की तत्कालीन आवश्यकताओं पर वाद-विवाद होता था और नवीन रचनाओं पर टीका-टिप्पणी होती थी। इस प्रकार की टीका-टिप्पणी में व्यक्तिगत द्वेष की भावना नहीं थी। भाषा का परिमार्जन और संस्कार, काव्य-शैलियों की नवीनतम रूप-रेखा, काव्य-विषयों की छान-बीन आदि के निरूपण में सब का मत एक था। ऐसा जान पड़ता था कि उस युग के सब लेखक एक ही कुटुम्ब के सदस्य थे।

'भारतेन्दु-युग' की उक्त विशेषताओं के कारण साहित्य को विशेष बल मिला। हिन्दी-साहित्य का वर्तमान युग उसी युग का संशोधित और परिवर्धित संस्करण है। भक्ति-काल में कविता का विषय धर्म था,

रीति-काल में शृङ्गार या, भारतेन्दु-काल में इन दोनों का साहित्य में गौण स्थान हो गया। नवीन युग ने देश-प्रेम, स्वतन्त्रता की भावना, समाज-सुधार की आकांक्षा आदि को प्रधानता दी है।

भारतेन्दु का गद्य-साहित्य

भारतेन्दु साहित्यिक व्यक्तित्व के दो रूप हैं • (१) कवि भारतेन्दु और (२) गद्यकार भारतेन्दु। कवि के रूप में भारतेन्दु ने जो रचनाएँ की हैं उनमें उन्होंने मध्ययुगीन प्रवृत्तियों और शैलियों का ही पोषण किया है। उनके प्रारंभिक जीवन की परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार की थीं कि परम्परागत काव्य-धारा से विमुख होना उनके लिए सम्भव नहीं था। उनके सामने जो काव्य-भाषा थी और जो काव्य-विषय थे उनमें आमूल परिवर्तन न तो शीघ्र हो सकता था और न वह समय ही इस कार्य के लिए उपयुक्त था। वह समय था दो भाषाओं के संघर्ष और गद्य के विकास का। इसलिए भारतेन्दु ने इधर और विशेष ध्यान दिया। उनके समय तक रामप्रसाद 'निरंजनी', सदासुखलाल, लल्लूलाल, सदल मिश्र, इंशाअल्ला खाँ, राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द', राजा लक्ष्मणसिंह, नवीनचन्द्र राय आदि अपनी कई गद्य-रचनाएँ प्रस्तुत कर चुके थे। इन रचनाओं में न तो भाषा का परिमार्जित रूप ही था और न विषय की विविधता ही थी। वस्तुत: वे मन-मौजी गद्यकार थे। हिन्दी खड़ीबोली को गद्य की भाषा बनाने और उसका साहित्य उन्नत करने के लिए जिन बातों की आवश्यकता थी उनकी ओर किसी का ध्यान नहीं था। भारतेन्दु ने इस अभाव की पूर्ति की। उन्होंने सब से पहले भारतीय आत्मा और उसकी संस्कृति के अनुकूल अपनी भाषा का रूप स्थिर किया और 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' (सं० १९३०) द्वारा उन्होंने यह घोषणा की—'हिन्दी नए चाल में ढली।' हिन्दी की इस 'नयी चाल' ने उसे व्यावहारिक बनाया। इसी हिन्दी में उन्होंने अपने कई नाटकों की रचना की। इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों वह गद्य-साहित्य के विभिन्न अंगों—निबंध, यात्रा, उपन्यास, इतिहास, जीवन-चरित्र, कहानी, आत्मचरित्र आदि—की ओर अग्रसर होते गये त्यों-त्यों वह उनमें भिन्न-भिन्न

शैलियों के माध्यम से सामाजिक, राष्ट्रीय धार्मिक, आर्थिक, पौराणिक तथा सामयिक विषयों को स्थान देने गये। इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन-काल में ही हिन्दी-गद्य को समुन्नत और विकासशील बना दिया। अपने जीवन के अंतिम दिनों (सं० १९४०-४१) में उन्होंने 'हिन्दी-भाषा' नामक एक पुस्तिका भी प्रकाशित की और उसके द्वारा भाषा के संबंध में अपने दृष्टिकोण को परिपुष्ट किया। हिन्दी-भाषा और हिन्दी-गद्य के वह अग्रदूत थे। हिन्दी-गद्य के विकास में हम उनको मुख्यतः तीन रूपों में पाते हैं: (१) पत्रकार भारतेन्दु, (२) नाटककार भारतेन्दु और (३) निबंधकार भारतेन्दु।

पत्रकार भारतेन्दु

भारतेन्दु एक अच्छे पत्रकार थे। उनका युग प्रचार का युग था और इसका प्रमुख साधन था समाचार-पत्र। भारतेन्दु ने हिन्दी-प्रचार के लिए इस साधन से पूरा लाभ उठाया। सं० १९२५ में उन्होंने 'कवि-वचन सुधा' प्रकाशित की और यह इतनी लोक प्रिय हुई कि उसके बाद हिन्दी-पत्रों की शृंखला कभी नहीं टूटी। पहले यह मासिक पत्रिका थी और इसमें प्राचीन सामाजिक कवियों की रचनाएँ पुस्तिका रूप में प्रकाशित होती थीं। कुछ समय पश्चात् यह पत्रिका पाक्षिक हो गयी और इसमें राजनीति तथा समाज-सम्बन्धी निबन्ध प्रकाशित होने लगे। अन्त में यह साप्ताहिक हुई और भारतेन्दु की मृत्यु तक बराबर निकलती रही।

पत्रकारिता के क्षेत्र में भारतेन्दु का दूसरा महत्वपूर्ण प्रयत्न 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' (सं० १९३०) है। सं० १९३१ में इसका नाम 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' रख दिया गया। यह पत्र सं० १९३७ तक अत्यन्त सजधज से निकलता रहा। मासिक पत्रों में इस पत्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसमें साहित्यिक, वैज्ञानिक, धार्मिक और आलोचनात्मक लेखों के अतिरिक्त नाटक और पुरातत्त्व-सम्बन्धी लेख भी रहते थे। सं० १९३७ के पश्चात् आर्थिक संकट के कारण भारतेन्दु ने इससे अपना हाथ खींच लिया और यह मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या के सम्पादकत्व में 'मोहन चन्द्रिका'

साथ इनमें जातीय आदर्शों का सौंदर्य, राष्ट्रीय भावनाओं की प्रखर प्रेरणा तथा अधोगामिनी प्रवृत्तियों के परिष्कार की योजना भी है। दो-तीन घंटे में साधारण रंगमंच पर इनका अभिनय भी हो सकता है। इनकी रचना-शैली पर संस्कृत की नाट्य-कला का विशेष प्रभाव है, पर इस दिशा में भी भारतेन्दु ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। उन्होंने नाटकीय रचना-पद्धति में न तो प्राचीन नियमों का सर्वथा पालन किया है और न बंगला नाटककारों की भाँति उनका सर्वथा परित्याग, अँगरेजी नाटकों का अन्धानुकरण भी उनमें नहीं है। 'पताका', 'स्थानक', 'भरतवाक्य', 'सूत्रधार' आदि का प्रयोग कहीं है, कहीं नहीं है। अर्थप्रकृतियों और सन्धियों का भी अभाव है। अंकों और दृश्यों का विभाजन भी शास्त्र-सम्मत नहीं है। पात्रों के चरित्र-विकास में आदर्श और यथार्थ दोनों का समन्वय है। पात्रों के मानसिक द्वन्द्व के चित्रण के साथ-साथ शृंगार, वीर, वीभत्स, शान्त, भयानक, वात्सल्य, हास्य, अद्भुत आदि रसों के परिपाक में भी इसी दृष्टिकोण को महत्त्व दिया गया है। संगीत का विधान भी है। धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक, राष्ट्रीय एवं सामाजिक वातावरण के स्पष्टीकरण में भी भारतेन्दु की समन्वयवादी बुद्धि का चमत्कार है। उनके सभी नाटक तत्कालीन जीवन की किसी-न-किसी प्रमुख समस्या का उद्घाटन करते हैं। कर, महँगी, दुर्भिक्ष, पाखण्ड, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, संस्कृति और सभ्यता का ह्रास, साहित्य की दुर्दशा, मातृभाषा की उपेक्षा—इन सब की ओर उनका ध्यान गया है। इसलिए उनके नाटक उनके युग का प्रतिनिधित्व भी करते हैं।

भारतेन्दु की श्रेष्ठतम एवं लोकप्रिय कृति 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक है। इस नाटक की रचना में उन्होंने क्षेमीश्वर के 'चण्डकौशिक' से थोड़ी-बहुत सहायता अवश्य ली है, पर कथानक, उद्देश्य और आदर्श की दृष्टि से यह उसकी अपेक्षा अधिक प्रभावशाली और उन्नत है। इसमें करुण, वात्सल्य, रौद्र, वीभत्स तथा भयानक रसों का परिपाक भी अच्छा हुआ है। हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र और शैव्या का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक और

सराहनीय है। नाटक के 'उपक्रम' में भारतेन्दु ने बताया है कि यह रचना विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए की गई है। फलतः इसमें शृंगार का अभाव है। परन्तु स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली पुस्तक में भी 'स्वत्व निज भारत गहै' कर-दुःख बहै' आदि जैसी बातें लिखना, वह भी ऐसे समय में जब कि लिखने-बोलने की स्वतंत्रता आज-जैसा नहीं थी, भारतेन्दु की राष्ट्र प्रियता, निर्भीकता और स्पष्टवादिता का द्योतक है। उत्कृष्ट जातीय भावना तथा देश हितैषियता की सच्ची लगन के साथ-साथ पूर्व-गौरव की स्मृति, आत्म-ग्लानि, लाञ्छना व्यंग, फटकार, कातरता, उत्साह आदि भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों का समावेश 'भारत दुर्दशा' में किया गया है। इसमें रोग, आलस्य, मदिरा, अहंकार आदि भारत-दुर्दैव के सैनिक हैं। इनके कारनामों का वर्णन स्वाभाविक और शिक्षाप्रद है। भारत की दुर्दशा से प्रभावित होकर 'नीलदेवी' में भारतेन्दु ने करुणा-निधि का आँचल पकड़ा है। 'कहाँ करुणा-निधि केसव सोए' में उनकी आत्मा का करुण क्रन्दन देखने योग्य है। 'चलहु वीर, उठि करत सबै जय-ध्वजहिं उड़ाओ' में उनकी आत्मा का समस्त उत्साह फूट पड़ा है। ईश्वर की अनुकम्पा और शक्ति में विश्वास रखते हुए भी वह क्रियाशील हैं—अपने जीवन में भी और साहित्य में भी। वह रोते हैं, पर रो कर चुप नहीं रहते; समर-क्षेत्र में विरोधी परिस्थितियों से लोहा लेने के लिए सब को आमन्त्रित करते हैं। राष्ट्रीय अभ्युत्थान के लिए इस युग के उपयुक्त नारी-चरित्र का चरम आदर्श उन्होंने 'नीलदेवी' के चरित्र में चित्रित किया है। अँगरेजी-रमणियों की उच्छृङ्खल विलासिता और तितलीपन से भारत के नारी-समाज को बचाने का यह एक सफल प्रयास है। 'वैदकी हिंसा हिंसा न भवति' एक प्रहसन है जिसमें मांस तथा मदिरा सेवन करनेवालों का मजाक उड़ाया गया है और तत्कालीन समाज-सुधारकों, धर्म-प्रचारकों तथा पाखंडी पण्डितों पर व्यंग के हास्यपूर्ण छींटे कसे गए हैं। 'चन्द्रावली' शृंगार रसपूर्ण नाटिका है। इसमें पीयूषवाही प्रेम का मंजुल चित्र अंकित किया गया है। संयोग और विरह के मार्मिक चित्रों से यह परिपूर्ण है। 'अंधेरनगरी' में देश की वर्तमान स्थिति एवं राजकीय न्याय-पद्धति के अत्यन्त

साथ इनमें जातीय आदर्शों का सौंदर्य, राष्ट्रीय भावनाओं की प्रखर प्रेरणा तथा अधोगामिनी प्रवृत्तियों के परिष्कार की योजना भी है। दो-तीन घंटे में साधारण रंगमंच पर इनका अभिनय भी हो सकता है। इनकी रचना-शैली पर संस्कृत की नाट्य-कला का विशेष प्रभाव है, पर इस दिशा में भी भारतेन्दु ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। उन्होंने नाटकीय रचना-पद्धति में न तो प्राचीन नियमों का सर्वथा पालन किया है और न बंगला नाटककारों की भाँति उनका सर्वथा परित्याग, अँगरेजी नाटकों का अंधानुकरण भी उनमें नहीं है। 'पताका', 'स्थानक', 'भरतवाक्य', 'सूत्रधार' आदि का प्रयोग कहीं है, कहीं नहीं है। अर्थप्रकृतियों और संधियों का भी अभाव है। अंकों और दृश्यों का विभाजन भी शास्त्र-सम्मत नहीं है। पात्रों के चरित्र-विकास में आदर्श और यथार्थ दोनों का समन्वय है। पात्रों के मानसिक द्वन्द्व के चित्रण के साथ-साथ शृंगार, वीर, बीभत्स, शान्त, भयानक, वात्सल्य, हास्य, अद्भुत आदि रसों के परिपाक में भी इसी दृष्टिकोण को महत्त्व दिया गया है। संगीत का विधान भी है। धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक, राष्ट्रीय एवं सामाजिक वातावरण के स्पष्टीकरण में भी भारतेन्दु की समन्वयवादी बुद्धि का चमत्कार है। उनके सभी नाटक तत्कालीन जीवन की किसी-न-किसी प्रमुख समस्या का उद्घाटन करते हैं। कर, महँगी, दुर्भिक्ष, पाखण्ड, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, संस्कृति और सभ्यता का ह्रास, साहित्य की दुर्दशा, मातृभाषा की उपेक्षा—इन सब की ओर उनका ध्यान गया है। इसलिए उनके नाटक उनके युग का प्रतिनिधित्व भी करते हैं।

भारतेन्दु की श्रेष्ठतम एवं लोकप्रिय कृति 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक है। इस नाटक की रचना में उन्होंने क्षेमीश्वर के 'चण्डकौशिक' से थोड़ी-बहुत सहायता अवश्य ली है, पर कथानक, उद्देश्य और आदर्श की दृष्टि से यह उसकी अपेक्षा अधिक प्रभावशाली और उन्नत है। इसमें करुण, वात्सल्य, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक रसों का परिपाक भी अच्छा हुआ है। हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र और शैव्या का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक और

सराहनीय है। नाटक के 'उपक्रम' में भारतेन्दु ने बताया है कि यह रचना विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए की गई है। फलतः इसमें शृंगार का अभाव है। परन्तु स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली पुस्तक में भी 'स्वत्व निज भारत गहै' कर-दुःख बहै' आदि जैसी बातें लिखना, वह भी ऐसे समय में जब कि लिखने-बोलने की स्वतंत्रता आज-जैसा नहीं थी, भारतेन्दु की राष्ट्र-प्रियता, निर्भीकता और स्पष्टवादिता का द्योतक है। उत्कृष्ट जातीय भावना तथा देश हितैषियता की सच्ची लगन के साथ-साथ पूर्व-गौरव की स्मृति, आत्म-ग्लानि, लाछना व्यंग, फटकार, कातरता, उद्योग आदि भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों का समावेश 'भारत दुर्दशा' में किया गया है। इसमें रोग, आलस्य, मदिरा, अहंकार आदि भारत-दुर्दैव के सैनिक हैं। इनके कारनामों का वर्णन स्वाभाविक और शिक्षाप्रद है। भारत की दुर्दशा से प्रभावित होकर 'नीलदेवी' में भारतेन्दु ने करुणा-निधि का आँचल पकड़ा है। 'कहाँ करुणा-निधि केसव सोए' में उनकी आत्मा का करुण क्रन्दन देखने योग्य है। 'चलहु वीर, उठि करत सबै जय-ध्वजहिं उड़ाओ' में उनकी आत्मा का समस्त उत्साह फूट पड़ा है। ईश्वर की अनुकम्पा और शक्ति में विश्वास रखते हुए भी वह क्रियाशील हैं—अपने जीवन में भी और साहित्य में भी। वह रोते हैं, पर रो कर चुप नहीं रहते; समर-क्षेत्र में विरोधी परिस्थितियों से लोहा लेने के लिए सब को आमन्त्रित करते हैं। राष्ट्रीय अभ्युत्थान के लिए इस युग के उपयुक्त नारी-चरित्र का चरम आदर्श उन्होंने 'नीलदेवी' के चरित्र में चित्रित किया है। अँगरेजी-रमणियों की उच्छृङ्खल विलासिता और तितलीपन से भारत के नारी-समाज को बचाने का यह एक सफल प्रयास है। 'वैदकी हिंसा हिंसा न भवति' एक प्रहसन है जिसमें मांस तथा मदिरा सेवन करनेवालों का मजाक उड़ाया गया है और तत्कालीन समाज-सुधारकों, धर्म-प्रचारकों तथा पाखंडी पण्डितों पर व्यंग के हास्यपूर्ण छींटे कसे गए हैं। 'चन्द्रावली' शृंगार रसपूर्ण नाटिका है। इसमें पीयूषवाही प्रेम का मंजुल चित्र अंकित किया गया है। संयोग और विरह के मार्मिक चित्रों से यह परिपूर्ण है। 'अंधेरनगरी' में देश की वर्तमान स्थिति एवं राजकीय न्याय-पद्धति के अत्यन्त

आकर्षक और व्यंगपूर्ण चित्र उतारे गए हैं। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि की दृष्टि सभी नाटकों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं:—

(१) कथावस्तु—भारतेन्दु के नाटकों की मूल भावना है, प्रेम जिसने ईश्वर-प्रेम, जाति-प्रेम, देश-प्रेम और मानव प्रेम का रूप धारण किया है। इस भावना पर आधारित वर्ण्य-विषय पौराणिक, ऐतिहासिक तथा काल्पनिक हैं। पौराणिक में 'सत्य हरिश्चन्द्र,' ऐतिहासिक में 'नीलदेवी' और काल्पनिक में 'भारत-दुर्दशा' का मुख्य स्थान है। 'भारत-दुर्दशा' में कोई कथावस्तु नहीं है। इसमें भारतेन्दु की राष्ट्रीय भावनाएँ ही कथा के रूप में चित्रित हुई हैं। यह उनका भावात्मक नाटक है।

भारतेन्दु ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से अपने नाटकों की सामग्री ग्रहण की है और उसका संगठन निजी ढंग से किया है। उनके प्रत्येक नाटक अंकों में और फिर दृश्यों में विभाजित नहीं हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली' आदि तो अंकों में विभक्त हैं, पर 'नीलदेवी' तथा 'भारत-दुर्दशा' आदि दृश्यों में। कथानक में क्रम-विकास भी स्पष्ट नहीं है। कुछ नाटक तो आदि से अन्त तक एक-से ही बने रहते हैं। अंकों के छोटे-बड़े होने के नियम को भी कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। साधारणतः बादवाले अंकों को पिछले अंकों की अपेक्षा छोटा होना चाहिए, पर 'सत्य हरिश्चन्द्र' में इस सामान्य नियम की भी उपेक्षा की गयी है। 'अंधेरनगरी' आदि नाटकों में दृश्य शृङ्खलाबद्ध हैं। दर्शकों की रुचि को स्थायित्व देने के लिए भिन्न-भिन्न दृश्यों में भिन्न-भिन्न रसों का समावेश किया गया है। गरीब-अमीर, कर्मण्य-अकर्मण्य, पंडित-मूर्ख, देश-विदेश के साथ-साथ कल्पना और अनुभूति, आदर्श और यथार्थ, आकाश और पृथ्वी का अनन्त सुन्दर समन्वय उनके नाटकों में हुआ है।

(२) चरित्र चित्रण—भारतेन्दु के नाटकों के पात्र मानव और देव, सज्जन और दुष्ट सभी प्रकार के हैं और उनका निर्माण शास्त्रीय पद्धति के अनुसार हुआ है। अतएव वे आदर्श एवं स्थिर पात्र हैं। उनमें चरित्र-विकास की आधुनिक कला नहीं है। आरम्भ में सूत्राधार और नटी आदि

के सम्भाषण से नायक के चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है। इसके बाद समुद्र की तरंगों के समान घटनाएँ क्रम से आती रहती हैं और अपने स्पर्श और चोट से नायक के चरित्र का उद्‌घाटन करती रहती हैं। भारतेन्दु अपने पात्रों के एक-एक अंग को धीरे धीरे अनावृत करते हैं। आरम्भ में पात्रों के जिन रूपों के धूमिल रेखा-चित्र लेकर वह उपस्थित होते हैं, अन्त में उन्हीं रूपों का स्पष्ट और अनुरंजित चित्र देकर वह रंगमंच से विदा हो जाते हैं। इस प्रकार प्रथम झांकी में पात्रों के सम्बन्ध में दर्शकों की जो धारणा बँधती है वही अन्त तक बनी रहती है। 'हरिश्चन्द्र', 'नीलदेवी' आदि ऐसे ही पात्र हैं। 'विश्वामित्र' गतिशील पात्र हैं।

भारतेन्दु के सभी पात्र जीते-जागते होते हैं। उनमें दर्शकों के हृदय को स्पर्श एवं अनुप्राणित करने की पर्याप्त क्षमता है। सामान्य भूमि से ऊपर उठे हुए होने के कारण 'हरिश्चन्द्र' और 'चौपट्ट राजा' अतिरंजित पात्र हैं। सूक्ष्म मनोभाव तथा मानव-हृदय का अन्तर्द्वन्द्व इन पात्रों में नहीं है। भारतेन्दु के पात्र अपने मनोविकारों और कुवृत्तियों से उतना नहीं जूझते जितना अपनी परिस्थितियों से। इसका एक कारण है। उनके पात्र वर्गों के प्रतिनिधि हैं। 'हरिश्चन्द्र' उस वर्ग के प्रतिनिधि हैं जो सत्य के लिए अपना सब कुछ उत्सर्ग कर सकता है। 'चन्द्रावली', 'नीलदेवी' आदि नारियाँ भी अपने-अपने वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करती हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दु ने अपने चरित्र-चित्रण में उन सभी उपादानों से काम लिया है जिनके कारण उसकी रोचकता में वृद्धि होती है। वह सर्वप्रथम अन्य पात्रों की उक्तियों-द्वारा अपने नायक का संक्षिप्त परिचय दे देते हैं और फिर उनके कार्य-कलापों-द्वारा अपने अभिमत को परिपुष्टि करते हैं। बीच-बीच में स्वगत-कथन और आकाश भाषित-द्वारा पात्रों की मानसिक अवस्था और आंतरिक भावनाओं पर भी प्रकाश पड़ता रहता है। पात्रों की भाषा उनकी संस्कृति और सभ्यता के अनुकूल है।

(३) **कथोपकथन**—भारतेन्दु के प्रायः सभी नाटक इतिवृत्तात्मक हैं, इसलिए उनमें कथोपकथन को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। कथोपकथन के

अतिरिक्त उनके पात्र स्वगत-कथन और अवसरानुकूल व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक वर्णन का आश्रय भी लेते हैं। यही संवाद के विविध रूप हैं। नाटक की रचना में नाटकत्व लाने, कथानक के प्रवाह को गतिशील और रोचक बनाने तथा पात्रों के मनोवेगों और भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए कथोपकथन की आवश्यकता होती है। यह जितना ही सरल, स्पष्ट, स्वाभाविक, शिष्ट, चुटीला और देश-काल तथा पात्र के अनुकूल होता है उतना ही नाटक की सौंदर्य-वृद्धि में सहायक होता है। इस दृष्टि से भारतेन्दु ने पात्रोचित भाव और भाषा पर पूर्ण रूप से ध्यान दिया है। जो पात्र जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है अथवा जिस स्थिति में रहता है उसके भाव भी वैसे ही हैं। 'भारत-जननी' में कथोपकथन का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। इसमें पात्र स्वतंत्र रूप से अपनी-अपनी बात कहते हैं। ऐसे अवसरों पर लगता है, भारतेन्दु स्वयं बोल रहे हैं। सामान्यतः कथोपकथन लम्बे नहीं हैं, पर जहाँ भावों की तीव्रता पाई जाती है वहाँ भारतेन्दु कथोपकथन के विस्तार का लोभ संवरण नहीं कर सके हैं। उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा आदि के फेर में पड़कर उन्होंने नाटकीय कार्य-व्यापार की प्रगति में बाधा पहुँचाई है। 'कर्पूर-मंजरी' में पद्यात्मक-संवाद का भी आश्रय लिया गया है। 'चंद्रावली' और 'नीलदेवी' में कहीं-कहीं नौटंकी के ढंग का कथोपकथन भी है।

(४) देश-काल—भारतेन्दु के नाटकों में जीवन की तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों का सफल चित्रण हुआ है। वीर गाथा-काल, भक्ति-काल और रीति-काल के साथ-साथ आधुनिक काल भी उनमें साकार हो उठा है। भूत का वर्तमान के साथ और वर्तमान का भूत एवं भविष्य के साथ समन्वय भारतेन्दु के नाटकों की परम विशेषता है, पर अपने इस प्रकार के प्रयत्न में उन्होंने कहीं-कहीं देश-काल का उल्लंघन भी किया है। प्राचीन पात्रों को आधुनिक वेषभूषा में चित्रित करना काल-दोष है। इसी प्रकार 'हरिश्चन्द्र' के कथानक में तत्कालीन काशी का

वर्णन करना और उस वर्णन में पौराणिक पात्रों को स्थान देना भी काल-दोष है।

(५) उद्देश्य—भारतेन्दु के प्रत्येक नाटक का एक निश्चित उद्देश्य है जिसकी पूर्ति रस-परिपाक के माध्यम से की गई है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में वीर रस की प्रधानता है। राजा हरिश्चन्द्र आदर्श दानवीर और सत्यवीर हैं। 'चन्द्रावली' में वियोग शृङ्गार प्रधान है। इसमें अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप आदि विरह की सभी दशाओं का समावेश किया गया है। 'अंधेर नगरी' और 'विषस्य विषमौषधम्' हास्य रस प्रधान, 'विद्या सुन्दर' संयोग शृंगार-प्रधान, 'पाखंड विडम्बन' शान्त रस प्रधान, 'भारत-जननी' करुण एवं वीर रस-प्रधान और 'धनंजय-विजय' रौद्र रस प्रधान नाटक हैं। इन सभी नाटकों में प्रधान रसों के अतिरिक्त अन्य रसों को भी स्थान दिया गया है और उनकी सहायता से उद्देश्य को चरितार्थ करने की सफल चेष्टा की गई है। इस प्रकार कथानक, कथोपकथन, चरित्रचित्रण, देश-काल और उद्देश्य—सभी दृष्टियों से भारतेन्दु अपनी नाट्य रचना में सफल हैं। हिन्दी के वह प्रथम नाटककार हैं। इसलिए वह हिन्दी के 'भरत मुनि' कहे जाते हैं।

निबन्धकार भारतेन्दु

शुद्ध साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त भारतेन्दु ने इतिहास, पुरावृत्त, यात्रा, जीवन-चरित्र, राजनीति, समाज, धर्म आदि विषयों से संबंधित कई ऐसे लेख लिखे हैं जिन्हें 'निबन्ध' कहा जाता है। 'निबंध' के भेदों के अनुसार ऐसे सभी लेखों को मुख्यतः चार भागों में विभाजित किया जा सकता है : (१) विचारात्मक, (२) वर्णनात्मक, (३) कथात्मक और (४) कल्पनात्मक। विचारात्मक निबंधों में 'कालचक्र', 'स्वामी दयानन्द का समय १८७०', 'हिन्दी नए चाल में ढली १८७३', 'हिन्दी में प्रथम नाटक १८५९' आदि की गणना की जा सकती है। इसी प्रकार उनके वर्णनात्मक निबन्धों में उनके यात्रा-संबंधी संस्मरणों को स्थान दिया जा सकता है। कथात्मक निबंधों में पौराणिक आख्यान और 'कुछ आप बीती, कुछ जग बीती' का

महत्त्व है। 'पाँचवें पैगम्बर', 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', 'कंकड़ स्तोत्र', 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन', 'मेला-झमेला' आदि कल्पनात्मक रचनाएँ हैं। इन सभी प्रकार के निबंधों में भारतेन्दु ने विषय के अनुकूल गंभीर शैली, व्यंगात्मक शैली, हास्यात्मक शैली, संवाद-शैली, पत्र-शैली, संस्मरण-शैली अथवा वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया है। इस प्रकार विषय और शैली की दृष्टि से वह एक निबंधकार कहे जा सकते हैं, परन्तु वास्तव में वह निबंधकार नहीं थे। निबंध की कलात्मक विशेषताओं से भी उनका विशेष परिचय नहीं था। समाज और देश के हित की दृष्टि से उन्होंने जो लेख लिखे उनमें निबंध के बीज अवश्य हैं।

भारतेन्दु की भाषा

भाषा के क्षेत्र में भारतेन्दु का लक्ष्य था, हिन्दी भाषा का भारतीय जनता में प्रचार करना और इस प्रचार-द्वारा हिन्दी-गद्य-साहित्य के विभिन्न अंगों का विकास करना। उस समय शिक्षित समाज की भाषा खड़ीबोली थी जिसके दो रूप थे • उर्दू और हिन्दी। उर्दू की फारसी तत्सम शब्द प्रधान गद्य-भाषा का बोलबाला था, हिन्दी का गद्य पिछड़ा हुआ था। लल्लूलाल, सदल मिश्र, इंशा अल्ला खाँ, सदासुख लाल आदि लेखकों की गद्य-रचनाओं में हिन्दी का जो रूप था उसमें न तो उर्दू-गद्य-साहित्य की-सी मिठास थी और न चुलबुलापन। किसी में 'ब्रजभाषापन' था, किसी में 'पूर्वीपन' और किसी में 'पंडिताऊपन'। गद्य की भाषा में जो चुस्ती और शक्ति होनी चाहिए, वह इन लेखकों की भाषा-शैली में नहीं थी। 'सितारे-हिन्द' की शैली परिष्कृत अवश्य थी, पर वह वास्तव में हिन्दी-लिपि में उर्दू-शैली थी। लक्ष्मणसिंह की भाषा इन सबसे भिन्न थी। उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी हुई थी। हिन्दी के प्रचार में ये सब शैलियाँ बाधक थीं। आवश्यकता थी ऐसी भाषा की जो सरल, सुबोध, प्रवाहपूर्ण प्रसादयुक्त और व्यावहारिक हो। इस आवश्यकता की पूर्ति भारतेन्दु ने की। उन्होंने गद्य-साहित्य के निर्माण के लिए खड़ीबोली को अपनाया और उसका परिष्कार एवं परिमार्जन किया। खड़ीबोली-गद्य का परिष्कृत

रूप सर्वप्रथम 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (सं० १६३०) में दिखाई दिया। भारतेन्दु ने स्वयं लिखा—'हिन्दी नई चाल में ढली · सन् १८७३।' इस भाषा-शैली के निर्माण में उन्होंने तत्कालीन सभी प्रचलित शैलियों का उपयोग किया। उनकी इस शैली में न तो उर्दू-फारसी के शब्दों की भरमार थी और न संस्कृति के क्लिष्ट तत्सम शब्दों का बाहुल्य। उनकी भाषा 'सितारेहिन्द' और *लक्ष्मणसिंह के बीच की भाषा थी। अपनी इस भाषा का रूप स्थिर* करने के लिए उन्होंने ऐसे समस्त अप्रचलित शब्दों को निकाल दिया जिनसे प्रवाह में बाधा पड़ती थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने जिन विदेशी शब्दों को अपनाया उन पर हिन्दी की छाप लगा दी। भाषा का रंग-रूप सँवारने में उन्होंने हिन्दी-व्याकरण के सिद्धान्तों का भी ध्यान रखा। उन्होंने कर्ण-कटु शब्दों को मधुर बनाया और उन्हें हिन्दी के साँचे में ढालकर अपनी भाषा में स्थान दिया। उस समय तक हिन्दी का अपना व्याकरण नहीं था। इसलिए व्याकरण के जटिल नियमों से वह अपनी भाषा को नहीं बाँध सके। फिर भी वह अपने उद्देश्य को चरितार्थ करने में पूर्णतः सफल रहे।

खड़ीबोली का जैसा संस्कार और शृंगार भारतेन्दु ने किया वैसा ही उन्होंने ब्रजभाषा का भी किया। उनके समय में ब्रजभाषा काव्य-भाषा थी, पर वह इतनी जटिल और दुरूह हो गयी थी कि पाठकों को उसमें विशेष आनन्द नहीं मिलता था। ऐसी दशा में उन्होंने उसमें से अप्रचलित और कुंठित शब्दों को निकाल दिया और उनके स्थान पर नये प्रचलित शब्दों को ब्रजभाषा में ढालकर चालू किया। सारांश यह कि उन्होंने गद्य और पद्य—साहित्य के दोनों क्षेत्रों—की भाषा को समुन्नत, ग्रहणशील और प्रसाद गुणयुक्त बनाकर अन्य भाषाओं पर हिन्दी का सिक्का जमा दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी-भाषा के निर्माता थे। उनके समय में जो शब्द जिस रूप में जनता में प्रचलित थे उन्हें उसी रूप में उन्होंने स्वीकार कर लिया। यही उनका भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण था। संस्कृत, अरबी, फारसी, अँगरेजी आदि भाषाओं से उन्हें चिढ़ नहीं थी, पर हिन्दी को व्यावहारिक रूप देने के लिए वह इन भाषाओं

के उन्हीं शब्दों को ग्राह्य समझते थे जो जनता में प्रचलित थे, चाहे वे उनके तत्सम रूप हों चाहे तद्भव। उनके नाटकों में भाषा का यह अभिनव रूप स्पष्ट दिखायी देता है।

अब भारतेन्दु की भाषा पर विचार कीजिए। जैसा कि अभी बताया गया है, उनकी भाषा के दो रूप हैं: (१) खड़ीबोली और (२) ब्रजभाषा। उनकी खड़ीबोली शुद्ध हिन्दी नहीं है। हिन्दी-शब्दों का बाहुल्य होने के साथ-साथ उसमें फारसी, अरबी, अँगरेजी और संस्कृत के शब्द भी मिलते हैं, पर वे हैं सब हिन्दी के साँचे में ढले हुए। उन्होंने विदेशी शब्दों, विशेषतः अरबी-फारसी के शब्दों, को उनके तद्भव रूप में ही स्वीकार किया है। इससे उनकी भाषा में स्वाभाविकता और मिठास आ गयी है। ब्रज-भाषा का भी पुट उनके शब्दों पर रहता है। इस प्रकार उनकी भाषा में लोक-पक्ष अधिक है और वह प्रौढ़, प्रभावपूर्ण, सभी प्रकार के भाव-प्रकाशन में सशक्त और सुव्यवस्थित है। उन्होंने कोमल शब्दों को ही अधिक अप-नाया है। 'अचल' के बदले 'अँचल', 'स्वभाव' के बदले 'सुभाव', 'स्नेह' बदले 'नेह' उन्हें अधिक प्रिय हैं। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी उन्होंने किया है। कहाँ कैसी भाषा होनी चाहिए, इस पर भी उनका ध्यान गया है। नाटकों में उनकी भाषा के तीन रूप हैं: (१) सरल मुहावरेदार भाषा, (२) संस्कृत गर्भित भाषा और (३) पात्रोनुकूल भाषा, परन्तु अन्य गद्य-रचनाओं में उनकी भाषा के प्रथम दो रूपों के साथ एक रूप और है जिसे 'प्रांतलिक भाषा' कहते हैं। संस्कृत की उक्तियाँ और वाक्यांश भी उनकी भाषा में यत्र-तत्र मिलते हैं।

भारतेन्दु की शैली

भारतेन्दु के समय में हिन्दी-भाषा-शैली के दो रूप थे: (१) राजा शिवप्रसाद की शैली और (२) राजा लक्ष्मणसिंह की शैली। भारतेन्दु ने इन दोनों शैलियों को त्यागकर पहले-पहल भाषा को सर्वविषयोपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया। धार्मिक, राजनीतिक, दार्शनिक, सामाजिक, भावात्मक, विनोदात्मक, व्यंगात्मक, परिहासात्मक आदि जिस प्रकार के भी विषय उनके

सामने थे उनके अनुकूल उन्होंने भाषा-शैली को जन्म दिया। अपनी शैली के इस गुण के द्वारा उन्होंने अपने नाटकों में यथाशक्ति पात्रोचित भाषा का प्रयोग किया। जो जिस स्थान का पात्र है, जिस वर्ग का प्रतिनिधि है, जिस सभ्यता का उपासक है, उसी के अनुकूल उसकी भाषा है। उच्च पात्रों के लिए विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग है और निम्न वर्ग के पात्रों के लिए गँवारू भाषा का। मराठी और बंगाली के पात्रों के उच्चारण और शब्द उन प्रान्तों के निवासियों के अनुकूल ही हुए हैं। इससे उनके कथोपकथन में स्वाभाविकता और सजीवता आ गयी है। विषय के अनुसार उनकी शैली के निम्न रूप हो सकते हैं :—

(१) वर्णनात्मक शैली—इस शैली का प्रयोग भारतेन्दु ने साधारण अवस्थाओं में किया है। इतिहास तथा यात्रा आदि के साधारण वर्णन तथा अन्य छोटे-छोटे लेखों में इस शैली के दर्शन होते हैं। उनकी इस शैली में न तो संस्कृत के कठिन शब्दों का बाहुल्य रहता है और न फारसी के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार। इस प्रकार उनकी यह शैली राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' तथा राजा लक्ष्मणसिंह की शैलियों के बीच की शैली है। इसमें शब्द सरल और वाक्य छोटे-छोटे होते हैं जिनमें मुहावरों और कहावतों का प्रयोग मिलता है। इसीलिए यह शैली सरस, सुबोध और प्रसाद-गुणयुक्त है।

(२) भावात्मक शैली—इस शैली का प्रयोग भारतेन्दु ने अपनी भावनापूर्ण रचनाओं में किया है। हृदय के दुःख, क्षोभ, क्रोध, स्नेह, प्रेम आदि के चित्रण में इसी शैली का साम्य है। इसलिए 'भारत-जननी', 'भारत-दुर्दशा', 'चन्द्रावली' आदि नाटकों में यही शैली अपनायी गयी है। आवेशपूर्ण स्थलों पर छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग और उनमें सरल एवं कोमल शब्दों का विधान उनकी इस शैली की विशेषताएँ हैं।

(३) विचारात्मक शैली—भारतेन्दु-साहित्य में इस शैली के तीन रूप मिलते हैं। इसका एक रूप उनके विचार-प्रधान निबन्धों में, दूसरा उनके साहित्यिक निबन्धों में और तीसरा उनके ऐतिहासिक निबन्धों में है।

साहित्यिक निबन्धों की शैली शुद्ध विवेचनात्मक और ऐतिहासिक निबन्धों की शैली शुद्ध गवेषणात्मक है। इन दोनों शैलियों की भाषा संस्कृत-गर्भित है। तथ्यातथ्य का निरूपण करने के लिए ऐसी ही भाषा उपयुक्त होती है। इसमें वाक्य छोटे-बड़े होते हैं और उनमें पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है।

(४) व्यंग्यात्मक शैली—भारतेन्दु व्यंग्यात्मक शैली के जन्मदाता हैं। उनके पहले इस शैली का हिन्दी-साहित्य में अभाव था। सामाजिक कुरीतियों और पाखण्डों की खिल्ली उड़ाने के लिए उन्होंने इस शैली का सहारा लिया है। इस शैली में सरल हास्य-विनोद और व्यंग्य की मात्रा अधिक रहती है। शिष्ट शब्दों द्वारा भारतेन्दु अपनी बात को इतने अनूठे ढँग से कहते हैं कि पाठक पर उसका तुरन्त प्रभाव पड़ता है। 'पंच-स्तोत्र' में उनकी व्यंग्यात्मक शैली देखने योग्य है।

(५) विश्लेषणात्मक शैली—इसी शैली का प्रयोग दार्शनिक तत्त्वों के निरूपण तथा तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में हुआ है। इसलिए यह शैली गंभीर और विचार-प्रधान है।

इन शैलियों के अतिरिक्त उनकी 'अलंकृत' तथा 'समासप्रधान-शैलियाँ' भी मिलती हैं। उनकी सभी शैलियाँ सरस, भावानुकूल तथा प्रसाद, माधुर्य एवं ओजगुणयुक्त हैं और विषयानुकूल परिवर्तित होती रहती हैं। उनके शब्द, उनके वाक्य और उनके मुहावरे आदि सब उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हैं। इन विशेषताओं के साथ-साथ उनकी शैली पर कहीं 'पण्डिताऊपन,' कहीं 'ब्रजभाषापन' और कहीं 'पूर्वीपन' की स्पष्ट छाप भी है। 'भई', 'सो', 'करके', इत्यादि शब्द पण्डिताऊपन के द्योतक हैं। उसमें व्याकरण के भी दोष हैं। 'स्वामित्व' के लिए 'स्वामिताई', 'अधीरमना' के लिए 'अधीरजमना', 'कृपा की है' के लिए 'कृपा किया है' 'सूचित किया जाता' के स्थान पर 'सूचना किया जाता' आदि व्याकरण-सम्मत नहीं हैं। इसी प्रकार अशुद्ध वर्ण-विन्यास के दोष से भी उनकी शैली मुक्त नहीं है। 'ब' के स्थान पर 'ज' और 'ए' के स्थान पर 'ये' इसी प्रकार

के दोष हैं। आज इन दोषों का विशेष महत्त्व है, पर जिस युग में भारतेन्दु ने लेखनी उठायी थी उस युग में इनकी ओर किसी का ध्यान नहीं गया था। अब उनकी भाषा-शैली के उदाहरण लीजिए :—

× × ×

'सब विदेशी लोग घर फिर आए और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया। पुल टूट गये, बाँध खुल गये, पंक से पृथ्वी भर गई, पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाए, बहुत वृक्ष कूल समेत तोड़ गिराए, सर्प बिलों से बाहर निकले, महानदियों ने मर्यादा भंग कर दी और स्वतंत्र स्त्रियों की भाँति उमड़ चलीं।

× × ×

'जब मुझे अँगरेजी रमणी लोग मेद सिंचित केश राशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटि देश कसे, निज-निज पतिगण के साथ, प्रसन्न वदन इधर से उधर फर फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है।'

× × ×

पर मेरे प्रियतम घर न आए, क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फंद में पड़ गए कि इधर की सुध ही भूल गए। कहाँ तो वे प्यार की बातें कहाँ एक साथ भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना? मैं कहाँ जाऊँ, कैसी करूँ?'

: ५ :

प्रतापनारायण मिश्र

जन्म सं० १९१३ मृत्यु सं० १९५१

जीवन परिचय

प्रतापनारायण मिश्र कात्यायन गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनका जन्म अवध के उन्नाव जिले के बैजे गाँव में आश्विन कृष्ण ९ सं० १९१३, (२८ सितम्बर १८५६), को हुआ था। उनके पिता का नाम पं० संकटाप्रसाद था। पं० संकटाप्रसाद १४ वर्ष की अवस्था में कानपुर आकर बस गए थे। वह प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। उन्होंने मिश्रजी को ज्योतिर्विद बनाना चाहा, पर उनकी रुचि इस ओर नहीं थी। इसलिए निराश होकर उन्होंने उनको अँगरेज़ी पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजा। कुछ ही दिनों बाद उनका जी उस पाठशाला से उचट गया। पादरियों के एक मिशन स्कूल में भी वह प्रविष्ट हुए। सं० १९३२ के लगभग उन्होंने वह स्कूल भी छोड़ दिया। पिता की मृत्यु के बाद उनकी शिक्षा भी समाप्त हो गयी। स्कूल में उनकी दूसरी भाषा हिन्दी थी, पर उर्दू का भी उन्हें अच्छा अभ्यास था। उस समय वह कुछ-कुछ संस्कृत और फ़ारसी भी जानते थे। आगे चलकर उन्होंने इन भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

प्रतापनारायण बाल्यावस्था से ही भावुक थे। छात्रावस्था में ही उन्हें कविता से प्रेम हो गया था। उस समय भारतेन्दुजी की 'कवि-वचन सुधा' पत्रिका अत्यन्त उन्नत अवस्था में थी। प्रतापनारायण के बाल-कवि हृदय पर उसकी रचनाओं का बहुत प्रभाव पड़ा। उन्हीं दिनों कानपुर में 'लावनी' गाने की बड़ी धूम थी। लावनी के प्रसिद्ध कवि बनारसीदास थे। उनकी लावनियों में बड़ा रस रहता था। प्रतापनारायण उन्हें बड़े चाव से पढ़ते और सुनते थे। लावनियों के दंगल में भी वह जाते थे। कानपुर

के तत्कालीन प्रसिद्ध कवि प० ललिताप्रसाद शुक्ल उपनाम 'ललित' कवि की रचनाओं से भी वह प्रभावित थे। उनकी 'धनुष-यज्ञ' की लीला बहुत प्रसिद्ध थी। प्रतापनारायण उस में भाग लेते थे और ललितजी की कविताओं का पाठ करते थे। इस प्रकार के वातावरण में रहने से कविता के प्रति उनका सहज अनुराग हो गया था। छन्द-शास्त्र के नियम भी उन्होंने ललितजी से ही सीखे थे। ललितजी को वह अपना गुरु मानते थे।

प्रतापनारायण समाचार-पत्र-प्रेमी भी थे। इस दिशा में धीरे-धीरे उनका उत्साह बढ़ता गया। अन्त में उन्होंने अपने मित्रों की सहायता से १५ मार्च सन् १८८३ में 'ब्राह्मण' नाम का एक मासिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया। यह प्रायः अनियमित रूप से स० १९४४ तक निकलता रहा। इसके बन्द होने के दो वर्ष पश्चात् स० १९४६ में प्रतापनारायण कालाकाकर से निकलनेवाले 'हिन्दी हिन्दोस्थान' के सहकारी सम्पादक नियुक्त हुए, पर इस पद पर भी वह अधिक दिनों तक न रह सके।

प्रतापनारायण अपने समय के एक उत्साही हिन्दी-साहित्य-सेवी थे। वह कानपुर की ही नहीं, उत्तर प्रदेश की दिव्य विभूति थे। बहुतों से उनका परिचय था। भारतेन्दु पर उनकी विशेष श्रद्धा थी। धर्म-सुधार, समाज-सुधार, देश-सुधार आदि से सम्बन्ध रखनेवाली पूत-भावनाएँ उन्हें विशेष रूप से आकृष्ट करती थीं। हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान के वह प्रबल समर्थक थे। उनके व्यक्तित्व में आकर्षण था। उन्हीं के व्यक्तित्व के प्रभाव से कानपुर का रसिक समाज उन दिनों साहित्यिक गोष्ठियों का केन्द्र बन गया था।

मिश्रजी में आत्मश्लाघा और आत्म सम्मान की मात्रा अत्यधिक थी। वह सदैव अपने ही रङ्ग में मस्त रहते थे। साधारण जीवन से उन्हें प्रेम था। वह सादा भोजन करते थे और सादे कपड़े पहनते थे। हास्य और विनोद के वह अवतार थे। आलसी और मनमौजी वह इतने थे कि उनके उठने-बैठने का स्थान बहुत गन्दा रहता था। पत्रों का उत्तर देने में भी वह काहिल थे। सामाजिक बन्धनों की उन्हें चिन्ता नहीं थी। उच्च कोटि की

धार्मिकता भी उनमें नहीं थी। आर्य-समाज, धर्म-समाज तथा ब्रह्म-समाज आदि सब में वह सम्मिलित होते थे। कांग्रेस के सिद्धान्तों के प्रति उनका विशेष अनुराग था। मद्रास और प्रयाग के कांग्रेस-अधिवेशनों में वह सम्मिलित हुए थे। गो-रक्षा के वह बड़े पक्षपाती थे। शरीर से वह दुर्बल थे। जवानी में ही उनकी कमर झुक गयी थी। उनके कोई सन्तति नहीं थी। सं० १९५१ आषाढ़ शुक्ल चतुर्थी, रविवार की रात्रि के दस बजे उनकी जीवन-लीला समाप्त हुई।

मिश्रजी की रचनाएँ

प्रतापनारायण मिश्र अपने समय के अच्छे साहित्यकार थे। उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं और कई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) अनूदित रचनाएँ—'राजसिंह', 'इन्दिरा', 'राधारानी', 'युगलांगुलीय', 'चरिताष्टक' (सं० १९५१), 'पंचामृत' (सं० १९४९), 'नीति-रत्नावली', 'कथामाला' (सं० १९४३), 'संगीत शाकुन्तल' (सं० १९६५), 'वर्ण-परिचय', 'सेन-वंश' और 'सूबे बङ्गाल का भूगोल'। इनमें से प्रथम चार बंकिम बाबू के बङ्गला-उपन्यासों के अनुवाद हैं; पाँचवीं पुस्तक में बङ्गाल के आठ महापुरुषों की जीवनियों का सङ्कलन है, छठी पुस्तक में पाँच प्रसिद्ध देवताओं का अभिमत-निरूपण है; सातवीं बङ्गला की 'नीति-रत्नमाला' का अनुवाद है और आठवीं और दसवीं पुस्तकें ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की रचनाओं के अनुवाद हैं।

(२) मौलिक गद्य रचनाएँ—मिश्रजी की मौलिक गद्य-रचनाओं में 'कलि-प्रभाव', 'हठी हमीर' और 'गो-सङ्कट' उनके नाटक और 'कलि कौतुक' (सं० १९४३) तथा 'भारत-दुर्दशा' (सं० १९४६) उनके रूपक हैं। 'जुआरी-खुआरी' नाम का उनका एक प्रहसन भी है। इनके अतिरिक्त 'वर्णमाला', 'शिशु-विज्ञान' और 'स्वास्थ्य-रक्षा' भी उनके मौलिक गद्य-ग्रन्थ हैं। उनकी सम्पूर्ण कविताओं का एक प्रामाणिक संग्रह 'प्रताप-लहरी' भी नारायण

प्रसाद अरोड़ा तथा श्री सत्यभक्त-द्वारा प्रकाशित हुआ है। 'निबन्ध-नवनीत' में उनके कुछ निबन्ध हैं। 'काव्य-कानन' में आलोचनाएँ हैं।

मिश्रजी की गद्य-साधना

भारतेन्दु-युग के कलाकारों में मिश्रजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी प्रतिभा का विकास कई दिशाओं में हुआ है। उनकी रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि उन्होंने कविताएँ की हैं, निबंध लिखे हैं, उपन्यासों का अनुवाद किया है, मौलिक नाटकों की रचना की है और पत्रकार भी रहे हैं। परन्तु हिन्दी-साहित्य के विकास में न तो उनकी कविताओं का महत्त्व है, न उनके मौलिक नाटकों का और न उनके अनूदित उपन्यासों का। इन दिशाओं में उनकी प्रतिभा का विशेष चमत्कार नहीं दीख पड़ता। काव्य के क्षेत्र में वह एक जन-कवि हैं। साधारण विषय, साधारण कविताएँ जिनमें जीवन-दर्शन, कला एवं साहित्यिकता का अभाव है। शृङ्गार रस से ओत-प्रोत समस्या-पूर्ति करने तथा ब्रजभाषा, बैसवाड़ा और संस्कृत की लावनियों में हास्य एवं व्यंग्य का स्थान देने तक ही उनकी प्रतिभा सीमित है। 'बुढ़ापा', 'तृप्यन्ताम्', 'हर गंगा' आदि में उनके जीवन की मस्ती भरी हुई है। हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान के समर्थक होने के कारण उनकी कुछ रचनाएँ राष्ट्रीय और सामाजिक भी हैं। फारसी में उन्होंने 'कसीदा' लिखा है और उर्दू में 'मन की लहर'। संक्षेप में यही उनकी काव्य-साधना है।

गद्य के क्षेत्र में मिश्रजी के नाटक, उनकी कविताओं की भाँति ही, साधारण श्रेणी के हैं। उनसे हमारा मनोरंजन तो होता है, पर हमारी विचार-धारा को उत्तेजना एवं शक्ति नहीं मिलती। उनमें नाट्य-कला भी नहीं है। नाटककार की अपेक्षा एक पत्रकार के रूप में मिश्रजी अवश्य सफल हैं। 'ब्राह्मण' (सं० १६३०) के वह सम्पादक थे, 'हिन्दुस्थान' (सं० १६३०) के संपादकीय विभाग में वह काम कर चुके थे, 'भारत जीवन' (सं० १६३१) और 'फतेहगढ़-पंच' से भी उनका संबंध था। इन पत्रों में बराबर लिखते रहने से उन्हें पत्रकारिता का अच्छा अनुभव हो गया था। वह निर्भीक थे और प्रत्येक सामयिक विषय पर अपने स्पष्ट विचार व्यक्त

करते थे। 'निबंध-रचना' की प्रेरणा उन्हें सर्वप्रथम अपने पत्र 'ब्राह्मण' से मिली। इस पत्र में लगभग ४-५ वर्ष तक बराबर लिखते रहने से वह एक सफल निबंधकार हो गए थे। उस समय हिन्दी में इने-गिने निबंधकार थे। बालकृष्ण भट्ट (सं० १६०१-७१), बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (सं० १६१२-७६), अंबिकादत्त व्यास (सं० १६१५-५७), लाला श्रीनिवासदास (सं० १६०८-४४), ठाकुर जगमोहनसिंह (सं० १६१४-५६) आदि भी निबंध लिखते थे, परन्तु उनके निबंधों में वह चुलबुलापन, वह हास्य और व्यंग तथा वह चुटीलापन नहीं होता था जो मिश्रजी के निबंध में पाया जाता था। इसलिए मिश्रजी ने एक निबंधकार के रूप में जो ख्याति और लोक-प्रियता प्राप्त की वह उन्हें अपने अन्य रूपों में न मिल सकी।

मिश्रजी बहुत सुन्दर निबंध लिखते थे। उनके निबंधों के विषय साधारण और गंभीर दोनों प्रकार के होते थे। साधारण विषयों के अन्तर्गत 'बात', 'वृद्ध', 'दाँत', 'भौं' आदि के साथ जन-जीवन में प्रचलित ऐसी कहावतों पर भी वह निबंध लिखते थे, जैसे 'घूरे क लत्ता बिनैं, कनातन क डौल बाँधे हो', 'मरे को मारैं शाह मदार', 'जानै न बूझै, कठौता लैके जूझै', 'समझदारी की मौत है', 'इसे रोना समझो चाहे गाना' आदि। गंभीर विषयों पर उनके निबंध सामाजिक, नैतिक, शिक्षा-संबंधी, राजनीतिक, साहित्यिक और सामयिक होते थे। इन सभी प्रकार के निबंधों की रचना में वह अपने जीवन की सारी सरसता और संपूर्ण विनोद-प्रियता निचोड़ देते थे। कोई भी विषय कैसा ही गंभीर क्यों न हो उनकी लेखनी के स्पर्श से सरस, मधुर और बोधगम्य हो जाता था। व्यंग और हास्य उनके जीवन का शृङ्गार था। इसलिए उनका कोई भी निबंध उनकी इस प्रवृत्ति से अछूता न रह सका। उनका व्यंग ठोस और मार्मिक होता था और उसमें विनोदपूर्ण वक्रता की प्रधानता रहती थी। भट्टजी की भाँति वह खीझकर व्यंग नहीं कसते थे। वह स्वाभाविक ढंग से व्यंग की सृष्टि करते थे। उनके व्यंग का लक्ष्य कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं, वरन् कोई वर्ग अथवा संपूर्ण समाज होता था। रिश्वती, चापलूस, बातूनी, पाखण्डी, स्वार्थी,

धोखेबाज, निन्दक, सुधारक, देश-भक्ति की डींग मारनेवाले नेता, उपकार के बहाने अपना उल्लू सीधा करने वाले कर्मचारी—सब उनकी व्यंग की लपेट में आते थे और सब की वह चुटकियाँ लेते थे। बात, भौं, वृद्ध, दाँत, होली, रिश्वत, देशोन्नति, गुप्त दान, धोखा, मुच्छ, गंगाजी, बन्दरों की सभा, स्वार्थ, मनोयोग—आदि उनके जितने भी निबंध हैं सब उनके व्यंग और विनोद से ओत-प्रोत हैं।

मिश्रजी के प्राय. सभी निबंध आत्मव्यंजक हैं। आत्मव्यंजक निबंध से तात्पर्य ऐसे निबंधों से है जिनमें लेखक अपनी अनुभूति एवं कल्पना द्वारा जीवन की आलोचना करता है। ऐसा करने में वह किसी सिद्धान्त का आश्रय नहीं लेता। सिद्धान्त का आश्रय लेते ही आत्मव्यंजक निबंध की मर्यादा नष्ट हो जाती है। इसलिए सिद्धान्त के स्थान पर उसमें व्यंग और विनोद को स्थान दिया जाता है। बिना विनोद के आत्मव्यंजक निबंध सफल नहीं होता। उसकी विशेषता लघुता एवं उच्छृंखलता है। लेखक उसमें जहाँ चाहे विचरण कर सकता है। मिश्रजी के सभी निबंध इसी अर्थ में आत्मव्यंजक हैं। हिन्दी-निबंध-साहित्य के इतिहास में वह आत्मव्यंजक निबंध के जनक हैं और उन्हें वही स्थान प्राप्त है जो अँगरेजी के निबंध-साहित्य में चार्ल्स लैम्ब (स० १८४२ ६१) को दिया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मिश्रजी में पर्याप्त साहित्यिक प्रतिभा थी। वह भारतेन्दु-युग की अद्वितीय देन थे। भारतेन्दु से प्रभावित होकर उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली। हिन्दी को साधारण जनता तक पहुँचाने में उन्होंने भारतेन्दु को पूरा सहयोग दिया। उन्होंने अपनी कविताओं, निबन्धों तथा नाटकों-द्वारा एक नवीन पाठक-समूह को जन्म दिया। उनकी लेखनी के साथ साधारण समाज की रुचि थी और वह उस रुचि को बड़े कौशल से व्यक्त करते थे। जैसा उनका स्वभाव था, वैसा ही उनका विषय-निर्वाचन भी होता था। साधारण विषय को सरल रूप में रखकर वह पाठकों का विश्वास शीघ्र प्राप्त कर लेते थे। साहित्य में हास्य और व्यंग के वह जन्मदाता थे। इसमें सन्देह नहीं कि

उन्होंने 'विदग्ध साहित्य' का निर्माण नहीं किया, पर 'व्यावहारिक साहित्य' का निर्माण कर उन्होंने यह दिखा दिया कि भाषा केवल विचारशील विषयों के प्रतिपादन एवं उनकी आलोचना के लिए नहीं है, वरन् उसमें नित्य के व्यवहृत विषयों पर भी आकर्षक रूप में विवेचन सम्भव है। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में उनकी रचनाओं का जो महत्त्व है वह विस्मृत नहीं किया जा सकता।

भट्टजी और मिश्रजी : तुलनात्मक अध्ययन

यहाँ तक तो हुआ मिश्रजी की साहित्यिक सेवाओं के सम्बन्ध में, अब मिश्रजी और भट्टजी की साहित्यिक प्रतिभा पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार कीजिए। मिश्रजी और भट्टजी दोनों समकालीन थे, दोनों भारतेन्दु-युग की देन थे, हिन्दी की उन्नति में दोनों ने अथक परिश्रम किया था, दोनों सम्पादक तथा निबन्धकार थे। पर इतनी समता होते हुए भी दोनों की प्रतिभा एवं चिन्तन-प्रणाली में पर्याप्त अंतर था।

गद्य-साहित्य के क्षेत्र में मिश्रजी और भट्टजी दोनों ने कई मौलिक नाटकों की रचना की, परन्तु इस दिशा में न तो मिश्रजी को सफलता मिली और न भट्टजी को। दोनों के नाटकों में नाट्य-कला का अभाव था। नाटककार की अपेक्षा भट्टजी एक सफल उपन्यासकार अवश्य थे। उन्होंने दो उपन्यासों की रचना की जो आज भी हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति है। मिश्रजी की प्रतिभा का इस ओर उन्मेष ही नहीं हुआ।

सम्पादन-कला की दृष्टि से भट्टजी,मिश्रजी की अपेक्षा,अधिक सफल थे। मिश्रजी की सम्पादन-कला में गंभीरता और साहित्यिकता का अभाव था। उनके पत्र में प्रायः साधारण रुचि के सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक लेख प्रकाशित होते थे। इससे उसका स्तर ऊँचा नहीं उठ सका। इसके विरुद्ध भट्टजी का पत्र साहित्यिक था। उसमें सामाजिक, राजनीतिक तथा सामयिक घटनाओं से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों पर गंभीर लेख निकला करते थे। वह बाहर से आए हुए लेखों को शुद्ध करने में भी

यथेष्ट परिश्रम करते थे। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी-पत्रों का स्तर ऊँचा उठाने में विशेष प्रयत्न किया था।

निबन्ध के क्षेत्र में भी भट्टजी, मिश्रजी की अपेक्षा, आगे बढ़े हुए थे। मिश्रजी साधारण और गंभीर दोनों विषयों पर निबन्ध लिखते थे, पर अपने मनमौजीपन के कारण वह उनमें हास्य एवं व्यंग का इतना अधिक पुट दे देते थे कि गंभीर विषय भी अत्यन्त साधारण श्रेणी के हो जाते थे। इसलिए वे पाठकों का केवल मनोरंजन करते थे। भट्टजी के साधारण और व्यावहारिक निबन्ध भी गंभीर होते थे। उनमें उनकी संयत विचार-धारा और मौलिक सूझ-बूझ होती थी। 'कल्पना', 'आत्मनिर्भरता' आदि गंभीर विषय उनकी प्रतिभा के संस्पर्श से साधारण और 'नाक', 'कान' आदि साधारण विषय गंभीर बन जाते थे। मिश्रजी की प्रतिभा ऐसे निबन्धों के अनुकूल नहीं थी। उनमें हास्य और विनोद की मात्रा इतनी अधिक थी कि वह गंभीरतापूर्वक किसी विषय पर अपना मन ही नहीं जमा सकते थे। एक बात अवश्य थी और वह यह कि जहाँ भट्टजी अपनी आलोचनात्मक प्रवृत्ति में हास्य एवं व्यंग का प्रयोग करते समय खीज उठते थे वहाँ मिश्रजी अपनी स्वाभाविक गति से हास्य की उत्पत्ति करते थे।

काव्य के क्षेत्र में मिश्रजी एक सफल कवि थे, भट्टजी में काव्य-प्रतिभा नहीं थी। भट्टजी सुन्दर-से-सुन्दर गद्य लिख सकते थे, पर कविता नहीं कर सकते थे। भट्टजी की प्रतिभा केवल गद्यमय थी, मिश्रजी कविता करने के साथ-साथ गद्य भी लिख सकते थे। मिश्रजी अपनी दोनों प्रकार की रचनाओं पर हास्य और व्यंग का जैसा सुन्दर पुट चढ़ा सकते थे वैसा भट्टजी के लिए असंभव था।

भट्टजी कवि नहीं थे, पर वह गद्य-काव्य के जन्मदाता अवश्य थे। संस्कृत-साहित्य में पारङ्गत होने के कारण वह इस दिशा में अत्यन्त सफल हुए। मिश्रजी में इस प्रकार की प्रतिभा नहीं थी। वह कविता कर सकते थे, पर गद्य-काव्य नहीं लिख सकते थे। गद्य काव्य भावात्मक और कल्पना-प्रधान होता है। मिश्रजी में कल्पना भी थी और भावुकता भी, पर वह

शास्त्रीय नहीं थी। उनकी कल्पना और भावुकता सामान्य स्तर की थी जिसका प्रयोग उन्होंने अपने आत्म-व्यंजक निबंधों में किया था। वह आत्म-व्यंजक निबंधों के जन्मदाता थे। उनके-जैसे आत्म-व्यंजक निबंध हिन्दी में आज भी दुर्लभ हैं।

भाषा की दृष्टि से भी भट्टजी और मिश्रजी में पर्याप्त अन्तर था। भट्टजी की भाषा नागरिक भाषा थी। वह शिक्षित वर्ग की भाषा लिखते थे। उनका शब्द-चयन संयत और शिष्ट होता था। वह अपनी भाषा में संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव दोनों रूपों के अतिरिक्त फारसी-अरबी के शब्दों को भी स्थान देते थे और आवश्यकतानुसार अँगरेज़ी के शब्द भी प्रयुक्त करते थे। इसके विपरीत मिश्रजी की भाषा में अँगरेज़ी तथा फारसी के शब्द बहुत कम होते थे। संस्कृत के दोनों रूपों के साथ वह ग्रामीण शब्द भी रखते थे। वह जन-भाषा के लेखक थे। शब्दों के ग्रामीण तथा अशिष्ट प्रयोगों के कारण उनकी भाषा में व्याकरण की भूलें भी रहती थीं और प्रवाह भी कम होता था, पर स्वाभाविकता की दृष्टि से उनकी भाषा में भट्टजी की भाषा की अपेक्षा मिठास और सरसता अधिक रहती थी।

शैली की दृष्टि से भी मिश्रजी और भट्टजी की रचनाओं में अन्तर था। एक ही निबंध में मिश्रजी की शैली कहीं गम्भीर और कहीं विनोद एवं व्यंग्यपूर्ण होती थी। इसके विपरीत भट्टजी अपने संपूर्ण निबंध में एक निश्चित शैली को स्थान देते थे। उनकी वाक्य-रचना चुस्त और भाषा पूर्वीपन लिए हुए होती थी। मिश्रजी की वाक्य-रचना में वह चुस्ती नहीं थी। साथ ही उस पर पूर्वीपन और बैसवाड़ी का प्रभाव रहता था। मुहावरों और कहावतों का दोनों खुलकर प्रयोग करते थे, पर यहाँ भी दोनों में मौलिक अन्तर था। भट्टजी के मुहावरों तथा कहावतों में नागरिकता होती थी और वह उनका प्रयोग चमत्कार-प्रदर्शन के लिए करते थे। मिश्रजी के मुहावरों तथा कहावतों में ग्रामीणता रहती थी। चमत्कार प्रदर्शन के लिए वह उनका प्रयोग बहुत कम करते थे। भट्टजी इन दोनों के प्रयोग में संयम से काम लेते थे, पर मिश्रजी कभी-कभी उनकी झड़ी लगा देते थे। विराम

चिह्नों के प्रयोग में मिश्रजी असावधान, पर भट्टजी सतर्क थे। संक्षेप में भट्टजी की शैली साहित्यिक और मिश्रजी की शैली सामान्यता की ओर झुकी हुई थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य-साधना के क्षेत्र में भट्टजी, मिश्रजी की अपेक्षा अधिक संयत, शिष्ट और ऊँचे उठे हुए थे। भट्टजी शिष्ट समाज के प्रतिनिधि थे तो मिश्रजी साधारण जन-समुदाय के। दोनों अपने अपने दृष्टिकोणों में महान थे और हिन्दी की आवश्यकताओं की पूर्ति में अपना विशिष्ट स्थान रखते थे।

मिश्रजी की भाषा

हम अभी बता चुके हैं कि मिश्रजी की भाषा में ग्रामीणता अधिक थी। उनकी भाषा का रूप अस्थिर था। उनके समय में भाषा का जितना परिष्कार एवं विकास हो चुका था उसका भी वह उपयोग न कर सके। उनकी प्रतिभा ही कुछ ऐसी थी जो अपने ऊपर किसी दूसरे का रंग नहीं चढ़ने देती थी। स्वभावतः वह सामान्य जीवन के साहित्यकार थे। इसलिए उन्होंने जन-साधारण की उस भाषा को ही अपनाया जिसमें 'पण्डिताऊपन' और 'पूर्वीपन' अधिक था। ऐसी भाषा में उनका शब्द-चयन भी शिष्ट और संयत नहीं था। उसमें उन्होंने अपनी जन्मभूमि के प्रचलित घरेलू शब्दों, मुहावरों और कहावतों को भी स्थान दिया था। उनके स्वभाव में स्वच्छन्दता अधिक थी। भाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने उसी स्वच्छन्दता से काम लिया। 'मूड़', 'गोड़', 'हुई' आदि के प्रयोग से उनकी भाषा ग्रामीण हो गयी। 'आनन्द लाभ करता है', 'सो भी', 'चालरही', 'शरीर भरे को', 'चाय की सहाय से', 'बीस वर्ष भी नहीं भए', 'कहाँ तक कहिए', 'है कै जने' आदि के प्रयोग से उनकी भाषा का साहित्यिक रूप नष्ट हो गया। शब्द शुद्धि की ओर भी उनका ध्यान नहीं था। 'म्लेच्छ', 'रिषि', 'रिषीश्वर', 'रितु', 'ग्रहस्त', 'लेखणी', 'औगुण', 'मात्रभाषा', 'प्रोहित' आदि व्याकरण-विरुद्ध शब्दों को अपनी भाषा में स्थान देकर उन्होंने उसका सौंदर्य ही बिगाड़ दिया। इतना ही नहीं, अपने लेखों में उन्होंने बैसवाड़े की अपनी ठेठ बोली के-

शब्दों को भी स्थान दे दिया, एक ओर उनकी भाषा का यह हाल था, दूसरी ओर वह उसमें '[illegible]', '[illegible]', '[illegible]' आदि संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों को भी स्थान देते थे। अँगरेजी के शब्दों का वह कम प्रयोग करते थे, पर आवश्यकता पड़ने पर 'लेक्चर' 'ड्यूटी', 'जेंटिलमैन' आदि शब्द वह अपना लेते थे। देशी अखबार, [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible] भी उनकी भाषा विषयक निर्णय उन्होंने अपनी कविताओं और निबंधों में किया था। वह यद्यपि भारतेन्दु जी की भाषा को आदर्श मानकर, पर उसका पालन निर्वाह वह न कर सके। इतना होते हुए भी वह अपनी भाषा-द्वारा जनता तक पहुँचने में समर्थ हुए। उनकी भाषा में ग्रामीणता थी, अल्हड़पन था। वह अपनी भाषा को सजाने-सँवारने के फेर में नहीं रहते थे, अपना भाव और मन्तव्य जैसा भाषा का पल्ला वह पकड़ पाते थे उसका प्रयोग करने में वह सरल थे। फ़ारसी तथा अरबी के प्रचलित शब्दों का भी वह प्रयोग करते थे। अँगरेजी के शब्दों का भी उन्होंने नाम-मात्र के लिए प्रयोग किया था।

कहावतों और मुहावरों के मिश्रजी धनी थे। उनकी भाषा बहुत मुहावरेदार होती थी। वह अपने लेखों में कहावतों का प्रयोग कम करते थे। कभी-कभी वह मुहावरों की झड़ी लगा देते थे। इससे उनकी शैली में दोष आ जाता था, पर उसे पढ़नेवालों को बहुत आनन्द मिलता था। 'बात' शीर्षक पाठ में उनके मुहावरों की झड़ी देखने योग्य है। इस दोष के होते हुए भी भाषा पर मुहावरों का जैसा सुन्दर प्रयोग उन्होंने किया है वैसा हिंदी के अन्य लेखकों की रचनाओं में मिलना कठिन है।

मिश्रजी की शैली

भाषा की भाँति ही मिश्रजी की शैली में भी स्वच्छन्दता थी। वह अपने युग के प्रसिद्ध शैलीकार नहीं थे। उनकी शैली का कोई विशेष रूप नहीं था। वह मनमौजी लेखक थे। फिर भी हम उनकी शैली को दो रूपों में पाते हैं: (१) गम्भीर विचारात्मक शैली और (२) हास्य एवं व्यंग्य-प्रधान-शैली।

बालमुकुन्द गुप्त

जन्म सं० १६२२ मृत्यु सं० १६६४

जीवन-परिचय

बालमुकुन्द गुप्त गोयल गोत्र के अग्रवाल वैश्य थे। उनका जन्म कार्तिक शुक्ल ४, सं० १६२२ को हरियाना (पंजाब) के अन्तर्गत रोहतक जिले के गुड़ियाना नामक ग्राम में हुआ था। गुड़ियाना में गुप्तजी का घराना बखशीराम वालों के नाम से प्रसिद्ध है। आरंभ में यह घराना हरियाना-प्रांतान्तर्गत रोहतक जिले के 'डीघल' ग्राम में रहता था। इसलिए इस घराने के लोग 'डीघलिए' भी कहलाते थे। किसी कारण यह घराना 'डीघल' से 'फज्जर' आ बसा, परन्तु व्यापारिक असुविधाओं के कारण यहाँ से भी उसे कोसलो जाना पड़ा। यहीं से गुप्तजी के वंशज लाला बखशीराम गुड़ियाना आकर रहने लगे। गुप्तजी के पितामह का नाम लाला गोवरधनदास था। उनके दो पुत्र हुए—लाला लेखराम और लाला पूरनमल। गुप्तजी लाला पूरनमल के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनकी माता बड़ी धर्मशीला थीं। सत्संग आदि में उनकी विशेष रुचि थी। गुप्तजी पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा। आरम्भ से ही उनमें अपने धर्म के प्रति बड़ी आस्था हो गयी। सं० १६३७ में रेवाड़ी के लाला गंगा प्रसाद की पुत्री अनारदेवी से उनका विवाह हुआ। इस विवाह से उनके तीन पुत्र और दो पुत्रियाँ हुई। पुत्रों में बड़े लाला नवलकिशोर तथा कनिष्ठ लाला परमेश्वरी लाल हैं।

गुप्तजी ने सं० १६३२ से पढ़ना आरम्भ किया। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा 'गुड़ियाना' के पाठशाला में हुई। यहाँ से उन्होंने सं० १६३६ में पाँचवीं कक्षा की परीक्षा पास की। इसी समय उनके पिता और फिर उनके पितामह की भी मृत्यु हो गयी। इन दोनों व्यक्तियों की मृत्यु से उनकी पढ़ाई

आगे न हो सकी। परिवार का सारा बोझ उन पर आ गया। पर अध्ययन की लालसा उनमें बनी थी। उर्दू और फारसी के वह अच्छे ज्ञाता थे। गुड़ियाना के मुंशी वजीर मुहम्मद खाँ से उन्हें इन दोनों भाषाओं के अध्ययन में विशेष सहायता मिली। लगभग ५-६ वर्ष तक वह उन्हीं से पढ़ते रहे। इसके बाद जब उनके छोटे भाई गृह-कार्य सँभालने लगे तब उन्होंने दिल्ली जाकर एक हाई स्कूल में पढ़ना आरम्भ किया। वहीं से उन्होंने सं० १६४३ में मिडल पास किया।

गुप्तजी अपने विद्यार्थी-जीवन से ही उर्दू में लेख लिखा करते थे। उनके लेख पं० दीनदयालु शर्मा-द्वारा सम्पादित 'रिफ़ाहेआम', 'मथुरा अखबार' और 'आजाद' में प्रकाशित होते थे। इन लेखों से उनकी अच्छी ख्याति हुई जिससे प्रभावित होकर सं० १६४३ में चुनार के प्रसिद्ध रईस श्री हनुमान प्रसाद ने उर्दू में 'अखबारे चुनार' मिर्ज़ापुर से निकाला और उसका सम्पादन-भार बालमुकुन्द गुप्त को सौंपा। बालमुकुन्द गुप्त ने उसका सम्पादन इतनी योग्यता और सुन्दरता से किया कि वह अपने प्रान्त के सभी उर्दू-समाचार-पत्रों में अग्रगण्य हो गया। कुछ दिनों पश्चात् सं० १६४५ में गुप्तजी इसे छोड़कर लाहौर चले गये और पं० दीनदयालुजी के आग्रह से वहाँ से सप्ताह में तीन बार निकलनेवाले पत्र 'कोहनूर' के सम्पादक हो गये। 'अवधपंच' में भी उनके लेख प्रकाशित होते थे। पद्य-रचना में उनका उपनाम 'शाद' था। वह मिर्ज़ा सितम 'ज़रीफ़' को अपना उस्ताद मानते थे।

गुप्तजी उर्दू-फ़ारसी के विद्वान तो थे ही, हिन्दी और संस्कृत भी जानते थे। अपनी मिडिल की परीक्षा में उन्होंने एक विषय हिन्दी भी लिया था। बचपन में 'विष्णु सहस्रनाम', 'गोपाल सहस्रनाम' आदि धार्मिक ग्रन्थों का पाठ करने के लिए उन्होंने देवनागरी सीखी थी और नियमित रूप से प्रति दिन 'तुलसीकृत रामायण' एवं 'सुखसागर' का पाठ करते थे। 'गुड़िया' से भी उनका परिचय था। पर इन भाषाओं की ओर उनका मोह नहीं था। हिन्दी के समाचार-पत्र वह अवश्य पढ़ते थे, पर उनमें

लेख नहीं लिखते थे। सं० १६४३-४४ के लगभग हिन्दी की ओर उनका ध्यान गया और सर्वप्रथम कालाकाकर से प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दुस्थान' में उन्होंने समाचार भेजना आरम्भ किया। इस प्रकार धीरे-धीरे उन्होंने हिन्दी में लिखना सीखा और स० १६४५ से वह हिंदी के लेखक हो गये। स० १६४६ में भारतधर्म-महामंडल के द्वितीय अधिवेशन के अवसर पर वृन्दावन में प० दीनदयालु शर्मा-द्वारा महामना मालवीयजी से उनका परिचय हुआ और वह उनके अनुरोध से हिन्दी के प्रथम दैनिक पत्र 'हिन्दुस्थान' के सम्पादकीय विभाग में कार्य करने लगे। मालवीयजी इस पत्र के सम्पादक थे और इसके सम्पादकीय विभाग में शशिभूषण चटर्जी बी० ए०, प० प्रतापनारायण मिश्र आदि काम करते थे। उनके कार्य-काल में ही ब्रजभाषा और खड़ीबोली के बीच द्वन्द्व आरम्भ हो गया था। 'हिन्दुस्थान' में इस प्रश्न पर खूब वाद-विवाद होता था। प्रताप-नारायण मिश्र तथा राधाचरण गोस्वामी ब्रजभाषा के समर्थक थे और अयोध्याप्रसाद खत्री तथा श्रीधर पाठक खड़ीबोली के। गुप्तजी 'मिस्टर हिन्दी' के नाम से लेख लिखते थे। 'भैंस का स्वर्ग' उन्होंने उसी समय लिखा था। यही उनकी सर्वप्रथम हिन्दी-पद्य-रचना है। चैत्र शुक्ल ३ सं० १६४६ तक उन्होंने 'हिन्दुस्थान' में कार्य किया। इसके बाद वह इस पत्र से अलग हो गये। पौष शुक्ल ११, बृहस्पतिवार, स० १६५० से उन्होंने कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाले 'बंगवासी' में कार्य करना आरम्भ किया। वह इस पत्र के सहायक सम्पादक थे। यहाँ उन्हें ५०) मासिक वेतन मिलता था। इस समय तक उन्हें अँगरेजी और हिन्दी की योग्यता नहीं थी, पर बंगला वह अच्छी तरह जानते थे। धीरे-धीरे उन्होंने अँगरेजी की भी योग्यता बढ़ाली और संस्कृत भी सीख गये। इसके बाद उन्होंने श्रीहर्ष देव की 'रत्नावली नाटिका' का हिन्दी में अनुवाद किया। उन्होंने हिन्दी-बंगवासी के सम्पादकीय विभाग में स० १६५५ के अन्त तक कार्य किया। 'हिन्दी-बंगवासी' से हटने के पश्चात् ही वह 'भारत-मित्र' के मालिक बाबू जगन्नाथ दास के अनुरोध से 'भारत-मित्र' के संपादक हो गये। इस पत्र

के वह सम्पादक ही नहीं, सर्वेसर्वा थे। इस पत्र द्वारा उन्होंने लगभग साढ़े आठ वर्ष तक हिन्दी की सेवा की। अपने कार्य-काल में इसमें उन्होंने कई ऐसे लेख लिखे जो भाव, भाषा और विषय की दृष्टि से हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति है।

कलकत्ता में अधिक काल तक रहने के कारण गुप्तजी का स्वास्थ्य बिगड़ गया। इसलिए वहाँ से वह वैद्यनाथ में कुछ दिन बिताकर दिल्ली गये और वहाँ भाद्रपद शुक्ल ११, बुधवार, सं० १९६४, १८ सितम्बर १९०७, को उनका स्वर्गवास हो गया।

गुप्तजी की रचनाएँ

हिन्दी-साहित्य में गुप्तजी का प्रवेश सं० १९४५ में हुआ। तब से वह बराबर हिन्दी में लिखते रहे। वह अपने समय के उच्चकोटि के सम्पादक थे। अपने सम्पादन-काल में उन्होंने जो रचनाएँ कीं उन्हें हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं: (१) अनूदित और (२) मौलिक। उनकी अनूदित रचनाओं में 'मडेल भगिनी' (सं० १९४६) का सर्वप्रथम स्थान है। यह बंगला-उपन्यास का हिन्दी में अनुवाद है। इसके पश्चात् उनकी रचनाओं में 'हरिदास' (सं० १९५३) और 'रत्नावली नाटिका' (सं० १९५५) का स्थान है। 'हरिदास' बंगला-भाषा के प्रसिद्ध लेखक बाबू रंगलाल मुखोपाध्याय की रचना के आधार पर लिखा गया है और 'रत्नावली नाटिका' संस्कृत के प्रसिद्ध कवि श्रीहर्षदेव की इसी नाम की रचना का हिन्दी-अनुवाद है। मौलिक-ग्रन्थों में 'स्फुट कविता' (सं० १९६२), 'शिवशंभु का चिट्ठा' (सं० १९६३), 'हिन्दी भाषा' (सं० १९६५), तथा 'चिट्ठे और खत' (सं० १९६५), का स्थान है। इनके अतिरिक्त 'खिलौना', 'खेल तमाशा' और 'सर्पाघात चिकित्सा' भी उनकी मौलिक रचनाएँ हैं। हाल में झाबरमल्ल शर्मा तथा बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में 'बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली' का प्रकाशन हुआ है। इसमें गुप्तजी के कई निबन्ध और पद्य संगृहीत हैं।

गुप्तजी की गद्य साधना

गुप्तजी अपने समय के प्रसिद्ध साहित्यकार थे। उन्होंने अपने जीवन में साहित्य के दो युग देखे, 'भारतेन्दु युग' और 'द्विवेदी-युग' और इन दोनों युगों की आशाओं एवं आकांक्षाओं का उन्होंने बड़े कौशल से प्रतिनिधित्व किया। द्विवेदीजी के वह परम मित्र थे, पर उनसे उनका विरोध भी कम नहीं था। भाषा के सम्बन्ध में वह द्विवेदीजी से प्रायः टक्कर भी लिया करते थे। 'सरस्वती'-द्वारा द्विवेदीजी और 'भारत-मित्र'- द्वारा गुप्तजी उस समय हिन्दी-साहित्यकारों का पथ-प्रदर्शन करते थे। इन्हीं दोनों महान कलाकारों के हाथों में हिन्दी की बागडोर थी और इन दोनों व्यक्तियों ने अपने परिश्रम, अपने त्याग और अपनी निस्वार्थ सेवा से हिन्दी को ऊँचा उठा दिया।

(१) *गुप्तजी की संपादन कला*—हिन्दी-गद्य के विकास में गुप्तजी ने दो रूपों में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है: (१) पत्रकार के रूप में और (२) निबंधकार के रूप में। हम पहले बता चुके हैं कि गुप्तजी मुख्यतः पत्रकार थे। पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्होंने द्विवेदीजी से बहुत पहले प्रवेश किया था। इसलिए उन्हें पत्रकारिता का अधिक अनुभव था। सं० १९४३ से सं० १९४६ तक क्रमशः 'अखबारे चुनार' तथा 'कोहनूर' का सपादन करने के बाद वह 'हिन्दुस्थान' के संपादकीय विभाग में आये। यहीं से उनकी हिन्दी-पत्रकारिता का सूत्रपात हुआ। इससे पृथक् होने पर उन्होंने 'हिन्दी बंगवासी' का सपादन-भार ग्रहण किया। इसके वह सहकारी संपादक थे। 'बंगवासी' के पश्चात् सं० १९५५ में वह 'भारत-मित्र' के संपादक हुए। उन्होंने लगभग सात आठ वर्ष तक इस पत्र की बड़ी लगन से सेवा की। वह अपने समय के सम्पादन-कला-विशेषज्ञ माने जाते थे। अपने समय के अनुकूल वह प्रत्येक प्रकार की सामग्री अपने पत्र में देते थे। उनके विचार राष्ट्रीय होते थे। वह दबकर लिखना नहीं जानते थे। अपने उग्र विचारों के कारण ही उन्हें 'हिन्दुस्थान' से हटना पड़ा था। राजनीति और साहित्य, यही उनके दो मुख्य विषय थे। सामाजिक विषयों की ओर उनकी विशेष रुचि नहीं थी। साहित्य के

क्षेत्र में उनका मुख्य विषय था—भाषा का संस्कार और राजनीति के क्षेत्र में उनका लक्ष्य था—राष्ट्रीय भावना का प्रचार। अपने इन दोनों लक्ष्यों में उन्हें पूरी सफलता मिली। भाषा के क्षेत्र में कभी-कभी द्विवेदीजी से उनका मतभेद हो जाता था।

(२) गुप्तजी की निबंध कला—गुप्तजी की प्रतिभा का दूसरा उदाहरण हमें उनके निबन्धों में मिलता है। वह अच्छे निबन्ध-लेखक थे। उनके निबन्ध दो भाषाओं में मिलते हैं · (१) उर्दू-भाषा में और (२) हिन्दी भाषा में। 'अवध पंच', 'अखबारे चुनार', 'कोहनूर', 'रहबर', 'विक्टोरिया गजट', 'भारत प्रताप', 'मखजन', 'उर्दू-ए-मोअल्ला' तथा 'जमाना' आदि में उनके उर्दू-निबन्ध प्रकाशित होते थे और 'हिन्दुस्थान', 'हिन्दी-बंगवासी' तथा 'भारतमित्र' में उनके हिन्दी-निबन्ध छपते थे। हमारे लिए उनके हिन्दी-निबन्ध ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनके हिन्दी-निबन्धों में उनका व्यंग एवं हास्य तो है ही, सं० १६५७ से सं० १६५६ तक का हिन्दी के विकास का इतिहास भी सुरक्षित है। उनमें तत्कालीन सभी प्रकार के विचारों का समावेश हुआ है। इस विशेषता के साथ-साथ उनमें भारतीय इतिहास की भी झलक मिलती है। अपनी रचनाओं में वह ऐतिहासिक घटनाओं की ओर संकेत करके बड़ी सुन्दर चुटकियाँ लेते थे। उनके लेख प्रायः व्यंग्यात्मक होते थे जिनमें भाषा और साहित्य की प्रखर आलोचना के साथ-साथ देश की अधोगति का चित्रण भी रहता था। इससे हिन्दी के राष्ट्रीय-साहित्य के विकास में उनके निबन्धों से बहुत सहायता मिली थी।

अपने निबंधों में गुप्तजी मुख्यतः आलोचक थे। उनकी आलोचना गंभीर, संयत, शिष्ट, निष्पक्ष, व्यापक और चुभती हुई होती थी। उन्होंने कभी अहंभाव से प्रेरित होकर आलोचना नहीं की। अपनी आलोचना में वह निर्भीक अवश्य थे, पर इसके साथ ही दूसरों की मान-मर्यादा का ध्यान भी उन्हें रहता था। उनकी आलोचना में उनकी सुरुचि बनी रहती थी। उनका युग आलोचना का शैशव-काल था और आलोचक रचना की आलोचना करते-करते रचनाकार

पर भी प्रहार कर देते थे। गुप्तजी में यह बात नहीं थी। वह केवल रचना की आलोचना करते थे, रचनाकार के प्रति उनका श्रद्धा-भाव सदैव बना रहता था। उनकी आलोचनाएँ दो प्रकार की होती थीं: साहित्यिक (१) और (२) राजनीतिक। उनकी साहित्यिक आलोचनाएँ तत्कालीन भाषा-शैली और साहित्यिक कृतियों-सम्बन्धी होती थीं और वह निष्पक्ष उनकी आलोचना करते थे। पर राजनीतिक क्षेत्र में उनकी आलोचनाएँ प्रायः व्यंग्यात्मक होती थीं। उनका युग अँगरेज़ी-शासन के प्रभुत्व का युग था। उस समय सरकारी नीति की खुलकर आलोचना करना अपने को विपत्तियों में फँसाना था। इसलिए गुप्तजी 'मगोड़ी शिवशम्भु शर्मा' के उपनाम से ही आलोचना करते थे। साहित्यिक आलोचनाओं में कभी-कभी उनका उपनाम 'आत्माराम' रहता था। इससे जनता में उनकी आलोचनाओं का अच्छा स्वागत हुआ और वह सरकार के कोप-भाजन भी न बन सके।

गुप्तजी की भाषा

भाषा की दृष्टि से गुप्तजी 'हिन्दी काल' के सम्प्रान्त लेखकों में से थे। उनकी भाषा में अपनत्व था। आरम्भ में वह उर्दू के लेखक थे। अतः हिन्दी-साहित्य में प्रवेश करने पर उनकी भाषा में फारसी तथा अरबी भाषाओं के शब्दों को स्थान मिलना स्वाभाविक ही था। यही कारण है कि हम उनकी प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा में 'तबीअत,' 'तूल,' 'अरज़,' 'ख्याल,' 'महफिल,' 'खैर,' 'श्रोफ़' आदि शब्दों का प्रयोग पाते हैं, पर ऐसे शब्दों के प्रयोग में उन्होंने बड़े संयम से काम लिया है। उन्होंने इन शब्दों का प्रयोग इतने कलात्मक ढंग से किया है कि उनकी भाषा में सौन्दर्य और निखार आ गया है। उन्होंने अँगरेज़ी-शब्दों को अपनी रचनाओं में बहुत कम स्थान दिया है। 'छोटे लाट', 'गवर्मेंट', 'डायरेक्टर' आदि शब्द ही उनकी रचनाओं में मिलते हैं। संस्कृत के तत्सम शब्दों का उनकी रचनाओं में अवश्य बाहुल्य है, पर उनके प्रयोग से भाषा बोझिल नहीं है। वह शब्दाडम्बर-शून्य भाषा लिखते थे। सीधे-सादे शब्दों के उतार-चढ़ाव

से वह अपनी भाषा में इतनी रंगत और इतना चमत्कार उत्पन्न कर देते थे कि उसे पढ़नेवाले मुग्ध हो जाते थे।

गुप्तजी हिन्दी और उर्दू का मेल एक सीमा तक वाञ्छनीय समझते थे। उनका विचार था कि दोनों एक ही शैलियाँ कहलाने योग्य हैं, केवल फ़ारसी जामा पहनने से एक 'उर्दू' कहलाती है और देवनागरी की साड़ी पहनने से दूसरी 'हिन्दी'। इस प्रकार दोनों भाषाओं में शैलियों का अन्तर वह स्वीकार करते थे। भाषा की दृष्टि से उनका युग संघर्ष का युग था। उनके समय में हिन्दी और 'उर्दू' के बीच तो संघर्ष चल ही रहा था, 'खड़ी-बोली' और 'ब्रजभाषा' के बीच भी तनातनी उत्पन्न हो गयी थी। इन संघर्षों का प्रधान क्षेत्र था कलकत्ता। गुप्तजी कलकत्ता से और द्विवेदी जी प्रयाग से भाषा के क्षेत्र में तीव्र आन्दोलन चला रहे थे। दोनों में प्रतिभा थी, योग्यता थी और दोनों भाषा-संस्कार के कार्य में जुटे हुए थे। कभी-कभी इन दोनों व्यक्तियों में दो-दो चोटें भी हो जाती थीं, पर इस प्रकार के वाद-विवाद में मनोमालिन्य की भावना नहीं रहती थी। गुप्तजी अपने विचारों में उग्र होते हुए भी समन्वयवादी रहते थे। खड़ीबोली के संस्कार में उनका प्रशंसनीय योग था। तत्सम शब्दों के विशुद्ध प्रयोग पर वह बहुत बल देते थे। व्याकरण के नियमों के अनुसार ही वह भाषा का रूप स्थिर करने के पक्ष में थे। इसलिए उनकी भाषा मंजी हुई होती थी। गद्य और पद्य की भाषा में वह उन्हीं शब्दों को महत्त्व देते थे जो सरस, भाव-व्यंजक, प्रभावोत्पादक और प्रवाहमय थे। भाषा में 'प्रवाह' उनका प्रधान लक्ष्य था। उनका शब्द-चयन संयत और शिष्ट होता था। वह कभी ऐसी भाषा नहीं लिखते थे जो अपना प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ हो। इस प्रकार उर्दू-गद्य की समस्त विशेषताओं से उन्होंने हिन्दी-भाषा को अलंकृत कर दिया था। मुहावरों के प्रयोग से वह अपनी भाषा में चमत्कार उत्पन्न करने की कला अच्छी तरह जानते थे।

गुप्तजी की शैली

गुप्तजी अपनी शैली में अत्यन्त मौलिक थे। द्विवेदीजी की शैली

सीधी थी। वह अपनी बात को सीधे-सादे ढंग से कहते थे। परन्तु गुप्त जी भाषा के कलाकार थे। उनकी शैली उनकी 'उर्दूदानी' से प्रभावित थी। उर्दू के पंडित होने हुए भी अपनी बात को हिन्दी पाठकों के हृदय में उतारना वह खूब जानते थे। उनकी वाक्य रचना अत्यन्त सराहनीय होती थी। छोटे-छोटे शक्तिशाली वाक्यों में वह भावों तथा विचारों का स्पष्टीकरण बड़ी सुन्दरता से करते थे। भाव-व्यंजना में दृढ़ता, चमत्कार और विशेषता लाने के लिए वह कभी कभी एक ही बात को कई प्रकार से वाक्यों में दोहरा देते थे। 'जिधर वह हुआ उधर विजय हुई, जिसके विरुद्ध हुआ पराजय हुई।'—इन दोनों वाक्यों के अर्थ में कोई भेद नहीं है, पर इस प्रकार के वाक्यों के समावेश से शैली में अभूतपूर्व आकर्षण आ गया है।

गुप्तजी की कथन-प्रणाली का ढंग तार्किक था। उनके वाक्यों का उतार-चढ़ाव बिलकुल भावानुकूल होता था। किस बात को किस ढंग से कहना चाहिए, इसका वह विशेष रूप से ध्यान रखते थे। अपनी शैली को रोचक एवं हृदयग्राही बनाने के लिए बीच-बीच में व्यंग के साथ वह हास्य और विनोद का भी आयोजन कर देते थे। उनकी भाषा-शैली के सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी लिखते हैं—'गुप्तजी की भाषा बहुत चलती हुई, सजीव, विनोदपूर्ण होती थी। किसी प्रकार का विषय हो, गुप्तजी की लेखनी उस पर विनोद का रङ्ग चढ़ा देती थी। वे पहले उर्दू के एक अच्छे लेखक थे, इससे उनकी हिन्दी बहुत चलती और फड़कती हुई होती थी। वे विचारों को विनोदपूर्ण वर्णना के भीतर ऐसा लपेट करके रखते थे कि उनका आभास बीच-बीच में ही मिलता था, उनके विनोदपूर्ण वर्णनात्मक विधान के भीतर विचार और भाव लुके-छिपे-से रहते थे। यह उनके लिखावट की एक बड़ी विशेषता थी।' उनके व्यंग लाक्षणिक होते थे। उनकी शैली तीन प्रकार की थी :—

(१) **परिचयात्मक शैली**—इस शैली में गुप्तजी ने सामान्य विषयों पर लेख लिखे हैं। विषय के अनुकूल इस शैली में वह छोटे छोटे वाक्यों की रचना करते थे जिससे लेख में प्रवाह के साथ-साथ रोचकता बढ़ जाती

थी। भाषा प्रायः मुहावरेदार और व्यङ्ग्यात्मक होती थी। कहीं-कहीं फ़ारसी और अरबी भाषाओं के शब्द भी आ जाते थे।

(२) आलोचनात्मक शैली—इस शैली में गुप्तजी गंभीर विषयों की आलोचना करते थे। इसलिए इसमें न तो उर्दू की चुलबुलाहट होती थी और न व्यङ्ग्य की अत्यधिक मात्रा। गंभीर विषयों का गंभीर शैली में ही वह प्रतिपादन करते थे। इसलिए परिचयात्मक शैली की भाषा से इस शैली की भाषा भिन्न होती थी। ऐसे लेखों में वह मुख्यतः संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही अधिक प्रयोग करते थे।

(३) व्यंग्यात्मक शैली—इस शैली पर गुप्तजी का विशेष अधिकार था। वह अपने किसी भी विषय को इस शैली में सफलतापूर्वक ढाल सकते थे। इस शैली में उनके निबंध 'शिवशम्भु के चिट्ठे' में संगृहीत हैं। इन व्यङ्ग्यात्मक निबन्धों के अध्ययन से गुप्तजी की प्रबन्ध-पटुता और विनोद-प्रियता का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। इनमें उनका व्यक्तित्व समा गया है और वह इतने स्पष्ट और खरे रूप में हमारे सामने आते हैं कि उन्हें पहचानने में देर नहीं लगती। वह अपनी इस शैली के जन्मदाता हैं। उनके व्यंग्य तीखे होते हुए भी मधुर, विनोदात्मक और सरस होते हैं। उनकी भाषा-शैली का उदाहरण लीजिए :—

'नारङ्गी के रस में जाफरानी बसंती बूटी छानकर शिवशम्भु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनन्द ले रहे थे। खयाली घोड़े की बागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकन्दें भर रहा था। हाथ पाँव को भी स्वाधीनता दी गई थी। वे खटिया की तूल अरज़ की सीमा उल्लंघन करके इधर-उधर निकल गए थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्माजी का शरीर खटिया पर था, ख़याल दूसरी दुनिया में। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज़ ने चौंका दिया। कनरसिया शिवशम्भु खटिया पर उठ बैठे। कान लगा करके सुनने लगे।'

: ८ :

श्यामसुन्दर दास

जन्म सं० १९३२ ' मृत्यु सं० २००२

जीवन परिचय

श्यामसुन्दर दास का जन्म आषाढ शुक्ल ११, मंगलवार, सं० १९३२ को काशी के एक पंजाबी खत्री, खन्ना-वंश, में हुआ था। उनके पिता का नाम लाला देवीदास और माता का नाम देवकीदेवी था। देवीदास के पूर्वज लाहौर के रहनेवाले थे और वहाँ उनका वंश 'टकसालियों' के नाम से प्रसिद्ध था, पर दिनों के फेर से उन्हें अमृतसर में आकर बस जाना पड़ा। अमृतसर में भी जब उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं हुई तब कालान्तर में वह काशी आकर कपड़े का व्यापार करने लगे।

श्यामसुन्दर दास का बाल्य-काल बड़े आनन्द से बीता। बचपन में वह पढ़ने-लिखने से बहुत घबड़ाते थे, पर यज्ञोपवीत होने पर संस्कृत, व्याकरण तथा कुछ धर्म-ग्रंथों के अध्ययन में उनका जी लगने लगा। इसके अनन्तर उन्होंने अँगरेजी पढ़ना आरम्भ किया। आरंभ में उनकी शिक्षा नीचीबाग के वेसलियन मिशन स्कूल में हुई। इसमें कुछ समय तक पढ़ने के पश्चात् वह प्रह्लाद के हनुमान-सेमिनरी में प्रविष्ट हुए। यहाँ उन्होंने सं० १९४७ में एँग्लो वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा पास की। इसके पश्चात् वह क्विंस कलिजियेट स्कूल में पढ़ने लगे। सं० १९४९ में उन्होंने यहीं से इन्ट्रेंस और सं० १९५१ में इंटरमिडिएट परीक्षा पास की। इसके आगे पढ़ने का काशी में कोई साधन नहीं था, इसलिए वह प्रयाग आकर विश्व-विद्यालय में पढ़ने लगे। सं० १९५३ में अकस्मात बीमार पड़ जाने के कारण वह बी० ए० की परीक्षा में सफल न हो सके। सौभाग्य से इसी वर्ष काशी के क्विंस कालेज में बी० ए० की शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। इसलिए प्रयाग

में काशी आकर एक वर्ष तक उन्होंने अपने अध्ययन का क्रम और जारी रखा और सं० १६५४ में बी० ए० पास किया। आर्थिक सुविधा न होने के कारण वह आगे न पढ़ सके। इसलिए काशी के तत्कालीन चन्द्र प्रभा प्रेस में ४०) मासिक वेतन पर उन्होंने नौकरी कर ली, पर इस कार्य में उनका जी नहीं लगा। कुछ महीने वहाँ काम करने के पश्चात् सं० १६५६ में वह काशी-हिन्दू-स्कूल में अध्यापक हो गये।

श्यामसुन्दर दास हिन्दी के अनन्य प्रेमी थे। जब वह इन्टरमीडिएट में पढ़ते थे तभी उन्होंने अपने उत्साही मित्रों की सहायता से 'नागरी प्रचारिणी सभा' (सं० १६५०) को जन्म दिया था और उसके द्वारा हिन्दी-प्रचार करते थे। अध्यापक होने पर तो उनका कार्य-क्षेत्र और भी बढ़ गया। उनके इस कार्य में समय-समय पर बाधाएँ भी आईं। २१ सितम्बर सन् १६०० (सं० १६५६) को उनके पिता का देहान्त हो जाने के कारण आरम्भ से ही उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इससे उनके जीवन में उथल-पुथल होते रहे। कभी उन्होंने हिन्दू-स्कूल की नौकरी छोड़ी और कभी उसे स्वीकार की। सं० १६६६ में नौकरी करने के लिए वह शिमला गये और वहाँ सिंचाई विभाग में काम करते रहे। इसके बाद वह जम्मू गये और काश्मीर नरेश के निजी दफ्तर में काम करने लगे, पर यहाँ अधिक दिनों तक न रह सके। सं० १६६७ में काशी आकर उन्होंने त्याग-पत्र भेज दिया। अन्त में जुलाई सन् १६१३ (सं० १६७०) में श्री गंगाप्रसाद वर्मा के प्रयत्न से वह लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक नियुक्त हुए। उनकी देख-रेख में इस स्कूल ने अच्छी उन्नति की। वह जुलाई सन् १६२१ (सं० १६७८) तक इसके प्रधानाध्यापक रहे। इसके बाद उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया। ईश्वर की कृपा से इसी वर्ष काशी-विश्वविद्यालय में हिन्दी-साहित्य की उच्चतम शिक्षा के लिए प्रस्ताव पास हुआ और इसे सफल बनाने के लिए सं० १६७८ में उनकी नियुक्ति हुई। उन्होंने थोड़े ही दिनों में सब का ध्यान अपने विभाग की ओर आकृष्ट कर लिया और अन्य विषयों के साथ हिन्दी को उचित स्थान देने में सफलता प्राप्त की। अपने अध्यापन-काल

में उन्होंने कई ऐसे विद्यार्थियों को जन्म दिया जिन्होंने अपनी रचनाओं-द्वारा हिन्दी का स्तर ऊँचा कर दिया और अन्य विश्व-विद्यालयों ने उनके लिए अपना द्वार खोल दिया। इससे हिन्दी-संसार में उनका सम्मान बढ़ गया। १ जनवरी सन् १६२७ (सं० १६८४) को तत्कालीन अँगरेजी-सरकार ने उन्हें 'रायसाहब' की और जून सन् १६३३ (सं० १६६०) में 'रायबहादुर' की उपाधि दी। सं० १६६४ में उन्होंने काशी विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण किया। सं० १६६६ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने उन्हें 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया। इन उपाधियों के अतिरिक्त काशी-विश्वविद्यालय ने उनके अवकाश ग्रहण करने पर उन्हें डी० लिट्० की उपाधि देकर सम्मानित किया। अगस्त सन् १६४५ (सं० २००२) में उनका स्वर्गवास हो गया।

श्यामसुन्दर दास की रचनाएँ

श्यामसुन्दर दास हिन्दी के उच्चकोटि के लेखक, प्रचारक और उन्नायक थे। प्रचारक और उन्नायक होने के नाते उन्होंने हिन्दी की जिन आवश्यकताओं को उचित समझा उनकी उन्होंने अपनी रचनाओं-द्वारा पूर्ति की। उनके समय में हिन्दी में उच्चकोटि के साहित्य का अभाव था। विश्व-विद्यालयों में हिन्दी की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए पुस्तकें बहुत कम मिलती थीं। श्यामसुन्दर दास ने इस ओर ध्यान दिया और अँगरेजी-साहित्य की पुस्तकों के आधार पर उन्होंने कई पुस्तकों की रचना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों की भी खोज की और उनका सम्पादन किया। उनके जीवन का अधिकांश भाग इन्हीं कार्यों में बीता। वह कवि नहीं थे। गद्य में ही उनकी प्रतिभा का विकास हुआ था। इसलिए हम उनकी समस्त रचनाएँ गद्य में ही पाते हैं। उनकी मुख्य रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

(1) संपादित—हिन्दी वैज्ञानिक कोष (सं० १६६३), हिन्दी-शब्द-सागर (सं० १६७३-८३), दीनदयाल गिरि-ग्रन्थावली (सं० १६७८), राधा-कृष्ण-ग्रन्थावली (सं० १६८७), सतसई सप्तक (सं० १६८७), हिन्दी-निबन्ध

माला : दो भाग (सं० १६८६), रत्नाकर (सं० १६६०), बाल शब्द-सागर (सं० १६६२) के अतिरिक्त 'पृथ्वीराज रासो', 'नासिकेतोपाख्यान', 'छत्र-प्रकाश', 'कबीर-ग्रंथावली', 'वनिता-विनोद', 'इन्द्रावती', 'हम्मीर रासो', 'शकुन्तला नाटक', 'साचप्त पद्मावत', 'रामचरित मानस', 'परमाल रासो' आदि उनके सम्पादित ग्रंथ हैं।

(२) मौलिक—हिन्दी कोविद रत्नमाला (सं० १६६६-७२), साहित्यालोचन (सं० १६७६), हिन्दी भाषा का विकास (सं० १६८१), भाषा-विज्ञान (सं० १६८०), हिन्दी भाषा और साहित्य (सं० १६८७), गद्य-कुसुमावली (सं० १६८२), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सं० १६८४), भाषा रहस्य (सं० १६६२), हिन्दी के निर्माता (सं० १६६७), गोस्वामी तुलसीदास (सं० १६८८) और मेरी आत्म कहानी (सं० १६६८) उनके मौलिक ग्रन्थ हैं। रूपक रहस्य (सं० १६८८) की रचना में श्री पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल उनके सहयोगी रहे हैं और भाषा-रहस्य (सं० १६६१) की रचना में श्री पद्मनारायण का सहयोग उन्हें मिला है। 'साहित्यिक लेख' में उनके निबन्ध संग्रहीत हैं।

श्यामसुन्दर दास की गद्य-साधना

श्यामसुन्दर दास 'द्विवेदी-युग' की दिव्य विभूति थे। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में यह वह युग था जब ब्रजभाषा के स्थान पर काव्य तथा गद्य साहित्य में खड़ीबोली की काट-छाँट हो रही थी और उसका रूप सजाया-सँवारा जा रहा था। उस समय द्विवेदीजी के व्यक्तित्व की प्रेरणा से श्याम सुन्दर दास ने इस कार्य में सक्रिय सहयोग दिया। उनकी सक्रियता दो रूपों में हमारे सामने आयी : एक तो प्रचारक के रूप में और दूसरी साहित्यकार के रूप में। उनके इन दोनों रूपों में विशेष अन्तर नहीं था।

(१) प्रचारक श्यामसुन्दर दास—प्रचारक के रूप में उन्होंने 'नागरी प्रचारिणी सभा' को जन्म दिया। यह उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण और स्थायी कार्य था। इस संस्था-द्वारा उन्होंने हिन्दी-लेखकों का भावी मार्ग प्रशस्त कर दिया। द्विवेदीजी हिन्दी के पथ-प्रदर्शक और नेता थे। 'सरस्वती' द्वारा

उन्होंने कई नवयुवक कवियों और लेखकों को जन्म दिया था। श्यामसुन्दर दास उनके अनुशासन में रहनेवाले एक स्वयसेवक थे। जिस प्रकार स्वय-सेवक अपने नेता के उद्देश्य की पूर्ति में अपने जीवन की पूर्णता और सफलता का अनुभव करता है उसी प्रकार श्यामसुन्दर दास ने अपने नेता के कार्य को आगे बढ़ाया और उसे वह रूप प्रदान किया जिसे देखकर नेता की प्रौढ़ लेखनी मौन न रह सकी। वह कह उठी :—

'मातृभाषा के प्रचारक, विमल बी० ए० पास।
सौम्य शील-निधान, बाबू श्यामसुन्दर दास॥'

नेता की लेखनी से निकले हुए इन शब्दों ने स्वयसेवक के जीवन में विद्युत् का कार्य किया। 'नागरी प्रचारिणी सभा' हिन्दी के समस्त कवियों, लेखकों और साहित्य-सेवियों का आकर्षण-केन्द्र बन गयी। हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों की खोज होने लगी, प्राप्त ग्रथों का सपादन होने लगा और इन सबके आधार पर हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने का कार्य आरम्भ हो गया। इसके साथ ही 'हिन्दी-शब्द-सागर' तथा 'हिन्दी-वैज्ञानिक कोश' की रचना ने हिन्दी के एक बड़े अभाव की पूर्ति की। सारांश यह कि 'नागरी प्रचारिणी सभा'-द्वारा श्यामसुन्दर दास ने वह कार्य किया जो द्विवेदीजी 'सरस्वती' द्वारा न कर सके।

(२) साहित्यकार श्यामसुंदर दास—श्यामसुन्दर दास ने जो रचनाएँ प्रस्तुत कीं उनमें हिन्दी-अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत हो गया। वह हिंदी के अध्यापक और अँग्रेजी-साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। अध्यापन-कार्य करते समय उन्होंने हिंदी-साहित्य में जिन अभावों का अनुभव किया उनकी पूर्ति उन्होंने साहित्यकार के रूप में की। वह अपने समय के अनुभवी सपादक, सफल आलोचक और श्रेष्ठ निबंधकार थे। संपादन के क्षेत्र में उन्होंने बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अनेक प्राचीन ग्रथों का पता लगाकर उन्होंने उनका अध्ययन किया और उस अध्ययन के आधार पर हिंदी में वैज्ञानिक सपादन की परपरा का सूत्रपात किया। 'सतसई सप्तक', 'छत्र-प्रकाश', 'पृथ्वीराज रासो', 'हम्मीर रासो', 'दीनदयाल गिरि-ग्रन्थावली', 'कबीर ग्रन्थावली',

'राधाकृष्ण-ग्रंथावली' आदि उनके सम्पादित ग्रंथों ने हिंदी-प्रेमियों का ध्यान प्राचीन ग्रंथों की खोज की ओर आकृष्ट किया जिससे अंधकार में पड़ी हुई कई रचनाएँ सामने आईं। इसी प्रकार उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में भी सराहनीय कार्य किया। उनके समय तक आलोचना का नाम पड़ चुका था। कवियों की भाषा-शैली और उनके भावों तथा विचारों के आधार पर आलोचनाएँ भी होती थीं, परन्तु विद्यार्थियों की दृष्टि से इस प्रकार की आलोचनाओं का विशेष महत्त्व नहीं था। भाषा विज्ञान का विषय बिल्कुल अछूता था। श्यामसुन्दर दास का ध्यान इस ओर गया। 'भाषा-विज्ञान', 'साहित्यालोचन', 'हिंदी भाषा और साहित्य' तथा 'हिंदी भाषा का विकास' की रचना उन्होंने इसी दृष्टि से की। इन पुस्तकों के प्रकाशन से विश्व-विद्यालयों में हिंदी-शिक्षा का स्तर ऊँचा हो गया और विद्यार्थियों का ध्यान हिंदी की ओर आकृष्ट हुआ। इसमें संदेह नहीं कि इन पुस्तकों में मौलिकता का अंश कम, अँगरेजी आलोचक 'हडसन' और 'वर्सफोल्ड' की आलोचनात्मक पद्धतियों का अनुकरण अधिक था, पर हमें यह न भूलना चाहिए कि जिस युग और जिन परिस्थितियों में इन पुस्तकों का निर्माण हुआ था, उस युग और उन परिस्थितियों में हिंदी-साहित्यकारों के लिए अँगरेजी पुस्तकों की सहायता लेना अनिवार्य था। श्यामसुन्दर दास ने वही किया जो ऐसी परिस्थितियों में एक हिंदी-निर्माता को करना चाहिए था। वह अपनी रचनाओं में मौलिक ही थे। पाश्चात्य आलोचनात्मक पद्धतियों का अनुकरण करते हुए भी उन्होंने अपने साहित्य के अनुरूप अपने मानदण्ड बनाए और उन्हीं के आधार पर उन्होंने अपने सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आलोचना के ग्रन्थों की रचना की। उनकी आलोचना के मानदण्ड उदार थे। उनका कहना था—'हमारी साहित्य जीवन की चिरन्तन समस्याओं का समाधान है। मनुष्य मात्र की मनोवृत्तियों, उनकी आशाओं-आकांक्षाओं और उनके भावों-विचारों का वह अक्षय भंडार है।' अपने इसी विचार के अनुकूल उन्होंने अपनी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आलोचनाओं में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। सूर, तुलसी, कबीर आदि कवियों की

आलोचना उन्होंने इसी दृष्टि से की। हिंदी के वह 'रसवादी' समीक्षक थे। किसी कवि की रचना की आलोचना करते समय उनकी दृष्टि भाव सौंदर्य पर ही जमती थी। कला के क्षेत्र में वह सत्य और सौंदर्य के उपासक थे। पं० रामचन्द्र तिवारी के शब्दों में वह 'नग्नसत्य और नग्न सौंदर्य दोनों को देख सकते थे। इसीलिए वे कबीर की सत्य पूत अटपटी वाणियों की महत्ता हृदयगम कर सके और छायावादी कवियों की नैतिकता अविहित सूक्ष्म भावाकृतियों का भी आदर कर सके। वे कला के 'आनन्द-पक्ष' को भारतीय रसवाद के अनुकूल मानकर चले हैं।'

श्यामसुन्दर दास एक अच्छे निबंधकार भी थे। आरंभ में उन्होंने कई वर्णनात्मक निबंध लिखे। उनके ऐसे निबंधों में रचना-क्रम से शाक्य वशीय गौतम बुद्धि' (स० १६५६), 'जन्तुओं की सृष्टि' (स० १६५७), 'बीसलदेव रासो' (स० १६५८), 'हिंदी का आदि कवि' (स० १६५८), 'फतेहपुर सीक्री' (स० १६५८) 'दिल्ली दरबार' (स० १६६०), 'व्यायाम' (स० १६६२) आदि का स्थान है। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'सैयद अली बिलग्रामी', 'जमशेदजी ताता', 'महारानी विक्टोरिया' आदि की सक्षेप में जीवनियाँ भी लिखी हैं। उनके विचारात्मक निबंधों में 'रामावत सप्रदाय' (स० १६८१), 'आधुनिक हिंदी गद्य के आदि आचार्य' (स० १६८३), 'हिंदी-साहित्य का वीरगाथा काव्य' (स० १६८६), 'देवनागरी और हिन्दुस्तानी' (स० १६६४), 'भारतीय नाट्य शास्त्र' (स० १६८३), 'गोस्वामी तुलसीदास' (स० १६८५) आदि की गणना की जा सकती है। इन निबंधों के शीर्षकों से ज्ञात होगा कि उन्होंने कुछ परिचयात्मक, कुछ आलोचनात्मक और कुछ भाषा-सबधी निबंध लिखे हैं। वस्तुतः श्यामसुन्दर दास की वृत्ति एक निबंधकार की वृत्ति नहीं थी। उनकी वृत्ति में सकोच की अपेक्षा विस्तार अधिक था। अपनी इस वृत्ति के कारण वह निबंध के क्षेत्र में अधिक सफल न हो सके। उनका एक निबंध 'कर्तव्य और सत्यता' निबंध कला की दृष्टि अत्यन्त उच्च कोटि का है। ऐसे निबंध उन्होंने थोड़े ही लिखे हैं। 'साहित्यिक निबंध' में उनके कई उत्कृष्ट निबंध सगृहीत हैं।

श्यामसुन्दर दास की भाषा

श्यामसुन्दर दास की भाषा विशुद्ध साहित्यिक हिन्दी है। अति गंभीर विषयों का प्रतिपादन करने के कारण उनकी भाषा भी स्वभावतः गुरु गंभीर हो गयी है। उसमें स्निग्धता कम, परुषता अधिक है। उन्होंने अधिकांश संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया है। भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध में उनका अपना दृष्टिकोण था। वह विदेशी शब्दों का, उनके प्रकृत रूप में नहीं, वरन् उनके तद्भव रूप में प्रयोग करते थे। उनका कहना था—'जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तब उन्हें ऐसा बनालें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जबतक उनके पूर्व-उच्चारण को जीवित रखकर हम उनके पूर्व रूप-रंग, आकार-प्रकार को स्थायी बनाए रहेंगे तबतक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उन्हें स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन बनी रहेगी।' अपने इस उद्देश्य को सामने रखकर उन्होंने उर्दू के अधिक प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग किया और वह भी इतना न्यून कि संस्कृत की धूमधाम में उनका पता भी नहीं चलता। 'कलम,' 'कानून', 'फ़ायदा,' 'तूफान,' 'कैदी' आदि शब्द उनकी रचनाओं में तद्भव रूप में ही आए हैं। इन शब्दों के नीचे की बिन्दी उड़ाकर और इनका उच्चारण बदलकर ही उन्होंने इनका प्रयोग किया है। संस्कृत के तत्सम रूपों में भी उन्होंने अपने इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर कुछ हेर-फेर किया है। 'कार्य्य', 'सौन्दर्य्य' आदि शब्दों का प्रयोग करते समय उन्होंने इन शब्दों के अन्तिम द्वित्व अक्षरों को हटाकर 'कार्य', 'सौंदर्य' का ही रूप दिया है। इसी प्रकार 'अङ्कन,' 'सन्दा', 'सम्पत्ति' आदि शब्दों का पंचम वर्ण उड़ाकर उन्होंने अनुस्वार से काम लिया है। उनकी संस्कृत की तत्समता में अव्यावहारिक एवं समासान्त पदावली का उपयोग नहीं पाया जाता। भाषा के क्षेत्र में इस प्रकार के प्रयत्नों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें हिन्दी को व्यापक, सबल और नवीन विचार-धारा के उपयुक्त बनाने के लिए उसका नया ढंग पकड़ना पड़ा था और इसमें उन्हें पर्याप्त

सफलता भी मिली थी। शब्द-चयन की दृष्टि से उनका कहना था—'सबसे पहला स्थान शुद्ध हिन्दी के शब्दों को, उसके पीछे संस्कृत के सुगम और प्रचलित शब्दों को, इसके पीछे फारसी आदि विदेशी भाषाओं के साधारण और प्रचलित शब्दों को और सबसे पीछे संस्कृत के अप्रचलित शब्दों को स्थान दिया जाय। फारसी आदि विदेशी भाषाओं के कठिन शब्दों का प्रयोग कदापि न हो।'

श्यामसुन्दर दास ने अपनी भाषा के निर्माण में उक्त आदर्श का ही अनुगमन किया। उन्होंने विषय के अनुकूल अपनी भाषा बनाई। उनके ग्रन्थों के विषय गंभीर और दुरूह हैं। इसलिए उनकी भाषा भी गंभीर है। वाक्य छोटे, पर भावपूर्ण हैं और उनमें संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों का उचित प्रयोग हुआ है। उनके निबन्धों में उनकी भाषा इससे कुछ भिन्न है। उन्होंने साधारण पाठकों के लिए निबन्ध लिखे हैं। इसलिए उनकी भाषा अपेक्षाकृत सरल और प्रसाद गुणयुक्त है। इस प्रकार उनकी भाषा के दो रूप हमारे सामने आते हैं : (१) ग्रन्थों में भाषा का साहित्यिक रूप और (२) निबन्धों में प्रचलित भाषा का सरल रूप। उनकी भाषा के इन दोनों रूपों में उनके विषय भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम में गंभीर और दूसरे में प्रायः साधारण। उनकी भाषा का प्रथम रूप ही उनका प्रतिनिधित्व करता है।

श्यामसुन्दर दास की शैली

श्यामसुन्दर दास की शैली उनके स्वभावानुकूल और उनके व्यक्तित्व से परिपूर्ण है। उसमें उनका अपनापन है। उनका शब्द-विधान विषयानुकूल, उत्कृष्ट, संयत और विशद है। उनका वाक्य-विन्यास भी इसी प्रकार का है। उन्होंने जटिल विषयों के निरूपण में छोटे और सरल-सुबोध विषयों के प्रतिपादन में अपेक्षाकृत कुछ बड़े वाक्यों का प्रयोग किया है। कहावतों और मुहावरों का तो सर्वथा अभाव ही है। अपनी भाषा को व्यापक बनाने और उसमें अपने विषय का भलीभाँति निदर्शन करने के लिए उन्होंने अपने विचारों को बार-बार दोहराया है और 'सारांश यह है,' अथवा

'जैसे' कहकर उन्हें पुनः एकत्र करने की चेष्टा की है। इस प्रकार उन्होंने अपनी शैली में सर्वत्र सतर्कता और उत्तरदायित्व से काम लिया है और अपने भावों तथा विचारों की व्यंजनात्मक शक्ति का पूरा ध्यान रखा है। उनकी शैली में शब्दाडंबर नहीं है। वह साधारणतः संगठित, सुव्यवस्थित, प्रवाहपूर्ण और भावों के अनुरूप कहीं सरल और कहीं शुष्क है। गंभीर विचारों के स्पष्टीकरण एवं प्रतिपादन में भाषा कुछ आवश्यकता से अधिक क्लिष्ट, पर स्पष्ट और बोधगम्य है। विदेशी शब्दों का प्रयोग उनकी शैली में कम हुआ है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त उनकी शैली की एक विशेषता और है और वह है उनका अपने वक्तव्य-वस्तु पर पूरा अधिकार। इसलिए वह अपने प्रत्येक कठिन एवं दुरूह विषय को सरल शैली में व्यक्त कर सकते हैं। उनकी शैली के विभिन्न रूप इस प्रकार हैं :—

(१) विचारात्मक शैली—इस प्रकार की शैली उनकी साहित्यिक रचनाओं में पायी जाती है। इस शैली में संस्कृत के क्लिष्ट तत्सम शब्दों का बाहुल्य तथा शब्द-योजना उत्कृष्ट एवं विचारानुकूल है। वाक्य छोटे-छोटे और भावपूर्ण हैं। आवश्यकता पड़ने पर लम्बे वाक्यों का भी प्रयोग हुआ है। इस शैली में न तो विचारों की अतिरंजना है, न भाषा का काव्योपम शृङ्गार और न शब्दाडम्बर। देखिए :—

'कर्तव्य-पालन और सत्यता में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो मनुष्य अपना कर्तव्य-पालन करता वह अपने कामों और वचनों में सत्यता का बर्ताव भी रखता है। वह ठीक समय पर उचित रीति से अच्छे कामों को करता है। सत्यता ही एक ऐसी वस्तु है जिससे इस संसार में मनुष्य अपने कार्यों में सफलता पा सकता है, क्योंकि संसार में कोई काम झूठ बोलने से नहीं चल सकता।'

(२) गवेषणात्मक शैली—इस शैली में उनकी गवेषणात्मक रचनाएँ हैं। ऐसी रचनाओं की भाषा में न तो क्लिष्ट शब्दों की भरमार है और न विचारों की दुरूहता। एक खोजी जिस प्रकार अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने के लिए अपने पथ का स्वयं निर्माण करता है उसी प्रकार श्यामसुन्दर

ने अपनी गवेषणात्मक शैली का अपने साधारण पाठकों और विद्यार्थियों के लिए निर्माण किया है। अपनी इस शैली में वह गंभीर चिन्तक के रूप में नहीं, वरन् एक खोजी के रूप में हमारे सामने आते हैं। देखिए :—

'हिन्दी-साहित्य का इतिहास ध्यानपूर्वक पढ़ने से विदित होता है कि हम उसे भिन्न-भिन्न कालों में ठीक विभक्त नहीं कर सकते। उस साहित्य का इतिहास एक बड़ी नदी के समान है जिसकी धारा उद्गम स्थान में तो बहुत छोटी होती है, पर आगे बढ़कर और छोटे छोटे टीलों या पहाड़ियों के बीच में पड़ जाने पर वह अनेक धाराओं में बहने लगती है।

उपर्युक्त गद्यांश की शैली गवेषणात्मक कही जाती है। इस शैली की विचारात्मक शैली से तुलना करने पर दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। विचारात्मक शैली में भाव और भाषा का जो गांभीर्य है वह गवेषणात्मक शैली में नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें न तो प्रवाह है और न ओज भाषा की सरलता और उसका प्रसाद गुण इसमें अवश्य पाया जाता है। विषय को समझाने के लिए रूपक आदि का सहारा भी लिया गया है।

(३) **व्याख्यात्मक शैली**—इस शैली में उनकी आलोचनात्मक रचनाएँ मिलती हैं जो प्रायः व्याख्यात्मक हैं। अपनी समस्त आलोचनाओं में उन्होंने व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग किया है। उनकी व्याख्या में गहनता नहीं है। हिन्दी-भाषा और साहित्य में भी इसी शैली का प्रयोग मिलता है। इस शैली के अन्तर्गत ही निर्णयात्मक, तुलनात्मक आदि कई प्रकार की आलोचना शैलियों का समावेश किया गया है। ऐसा उन्होंने अपने विद्यार्थियों की सुविधाओं को ध्यान में रखकर किया है। एक उदाहरण लीजिए :—

'संगीत का आधार नाद है, जिसे या तो मनुष्य अपने कंठ से या कई प्रकार के यंत्रों-द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार किया गया है। इन सिद्धान्तों के स्थिरीकरण में मनुष्य-समाज को अनन्त समय लगा है। संगीत के सप्त स्वर इन सिद्धान्तों के आधार हैं।'

कामता प्रसाद गुरु

जन्म सं० १६३२ मृत्यु सं० २००५

जीवन परिचय

कामता प्रसाद गुरु का जन्म मध्यप्रदेशान्तर्गत सागर में पौष बदी २, सं० १६३२ अर्थात् २४ दिसम्बर, सन् १८७५ को हुआ था। उनके पिता का नाम पं० गंगा प्रसाद गुरु था। पं० गंगा प्रसाद गुरु कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और उनका आस्पद कनिता के पांडेय था। वह मध्य प्रदेश के मूल निवासी नहीं थे। लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व उनके पूर्वजों में से पं० देवताराम पांडेय कानपुर से आकर सागर जिले के गढ़पहरा ग्राम में बस गए थे। उस समय गढ़पहरा दाँगी-राजपूत राजाओं की राजधानी थी। पं० देवताराम योग्य और कार्य-कुशल थे, इसलिए दाँगी-दरबार में उनकी पहुँच हो गई और वह रानियों के दीक्षा-गुरु हो गये। तब से इस वंश के लोगों की उपाधि 'गुरु' हो गयी। इससे चारों ओर उनका सम्मान बढ़ गया। धीरे-धीरे वह राज्य-कार्य में भी सहयोग देने लगे। बुन्देलों के उपद्रव के कारण जब गढ़पहरा से राजधानी सागर जिले के परकोटा ग्राम में लायी गयी तब उन्हें भी वहाँ आकर बसना पड़ा। वह राज-भक्त थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् भी उनका वंश राज-भक्त बना रहा। इसलिए इस वंश को राजाओं से जागीर भी मिली।

कामता प्रसाद गुरु की प्रारंभिक शिक्षा सागर में हुई और वहीं के हाई स्कूल से उन्होंने सं० १६४६ में एंट्रेंस-परीक्षा पास की। उच्च शिक्षा प्राप्त करने की उनकी बड़ी लालसा थी, पर अपनी माता के स्नेहपूर्ण आग्रह के कारण वह सागर छोड़कर कहीं न जा सके। ऐसी दशा में उन्होंने बन्दोबस्त के दफ्तर में कुछ समय तक काम करने के पश्चात्

सागर-हाई स्कूल में २० रु० मासिक वेतन पर शिक्षक का पद ग्रहण कर लिया। यहाँ उन्हें अपनी साहित्यिक रुचि बढ़ाने का अवसर मिला। घर पर उन्होंने उर्दू और फारसी पढ़ी। इस पद पर तीन वर्ष तक सफलता-पूर्वक कार्य करने के पश्चात् वह रायपुर के हाई स्कूल में चले गये। रायपुर से वह छुइखदान और बाद में कालाहंडी गये। कालाहंडी-राज्य के मिडिल स्कूल के वह प्रधानाध्यापक तथा अन्य स्कूलों के डिप्टी इंस्पेक्टर थे। यहाँ उन्होंने उड़िया भाषा का विशेष रूप से अध्ययन किया। फलतः वह रायपुर में उड़िया के शिक्षक हो गये। रायपुर से सं० १९६५ में वह जबलपुर आये और यहाँ के नार्मल स्कूल में शिक्षक का कार्य करने लगे। इसी स्कूल से उन्होंने सं० १९८८ में अवकाश ग्रहण किया। अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् वह जबलपुर के दीक्षित पुरा मोहल्ले में सकुटुम्ब रहने लगे।

कामता प्रसाद गुरु लोक-प्रिय और सफल शिक्षक थे। यह कार्य उनकी रुचि के सर्वथा अनुकूल था। अतः इस पद पर रह कर उन्हें साहित्य-सेवा का अच्छा अवसर मिला। स्कूल छोड़ते ही उनकी रुचि समाचार-पत्रों की ओर गयी। उस समय 'जबलपुर-टाइम्स' और 'शुभचिन्तक' जबलपुर से निकलते थे। इन दोनों पत्रों के लिए वह बराबर लेख लिखते थे। इनके अतिरिक्त 'छत्तीसगढ़ मित्र', 'सरस्वती', 'हितकारिणी', 'माधुरी' और 'सुधा' में भी उनके लेख प्रकाशित होते थे। सं० १९७५ में उन्होंने नार्मल-स्कूल से एक वर्ष की छुट्टी लेकर इंडियन-प्रेस प्रयाग में 'बाल-सखा' तथा 'सरस्वती' का भी सम्पादन किया था। वह कविता भी करते थे। व्याकरण के वह पण्डित थे। उन्होंने कई भाषाओं के व्याकरणों का गंभीर अध्ययन किया था। हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी, मराठी, बंगला, उड़िया और अंग्रेजी के वह अच्छे ज्ञाता थे। इसलिए हिन्दी-जगत में उनका अच्छा मान था। 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन', 'नागरी प्रचारिणी सभा', 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी', 'हिन्दी बोर्ड' आदि प्रसिद्ध साहित्यिक संस्थाओं से उनका घनिष्ट सम्बन्ध था और उनके लिए वह बराबर कार्य करते रहते थे। उनकी ऐसी निःस्वार्थ सेवाओं को ध्यान में रखकर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन ने उनको

'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया था। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वह नागपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी-बोर्ड तथा मध्य प्रान्तीय लिटरेरी एकेडेमी के सदस्य भी थे। उनमें न तो धन का लोभ था और न मान की चिंता। वह निस्पृह व्यक्ति थे। १६ नवम्बर सन् १९४८ (सं० २००५) को जबलपुर में उनका देहान्त हुआ।

गुरुजी की रचनाएँ

गुरुजी हिन्दी के प्रतिभा-सम्पन्न लेखक थे। हिन्दी-व्याकरण के प्रति उनकी विशेष अभिरुचि थी। कई भाषाओं के व्याकरणों का गम्भीर अध्ययन करने के कारण उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से हिन्दी-व्याकरण का वैज्ञानिक विवेचन किया था। हिन्दी में ही नहीं, उड़िया और उर्दू में भी उन्होंने गद्य और पद्य-रचना करके ख्याति प्राप्त की थी। 'पयामें आशिक' में वह उर्दू के भी शेर लिखा करते थे। ब्रजभाषा और खड़ीबोली, दोनों में वह अधिकारपूर्वक कविता करते थे। उन्होंने अनेक प्रकार के ग्रन्थों की रचना की। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) उपन्यास—'सत्य-प्रेम' उनकी सर्वप्रथम रचना है।

(२) काव्य—'भौमासुर' तथा 'विनय-पचासा' ब्रजभाषा में और 'पद्य-पुष्पांजलि' (सं० १९८३) खड़ीबोली में हैं।

(३) नाटक—सुदर्शन (सं० १९८८)

(४) नीति—हिन्दुस्तानी शिष्टाचार

(५) व्याकरण—हिन्दी भाषा-वाचक पृथक्करण (सं० १९५७), सहज हिन्दी-रचना (सं० १९७३) और हिन्दी-व्याकरण (सं० १९७७)। हिन्दी व्याकरण के संक्षिप्त, मध्यम और बाल, तीन छोटे संस्करण भी प्रकाशित हुए हैं।

(६) निबन्ध संग्रह—देशोद्धार

(७) अन्य रचनाएँ—'अन्त्याक्षरी' और 'पद्य समुच्चय'। इन दोनों पुस्तकों में प्राचीन कवियों की रचनाओं का संग्रह है।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त उनकी एक रचना 'पार्वती और यशोदा'

(सं० १६६८) नाम से है। यह उड़िया की एक पुस्तक के आधार पर लिखी गई है। उनके कई विनोदात्मक लेख कल्पित नामों से भी प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने कई पाठ्य पुस्तकें भी लिखी हैं।

गुरुजी की गद्य साधना

गुरुजी अपने समय के अच्छे विद्वान थे। शिक्षा-विभाग से उनका सम्बन्ध था और अध्ययन-अध्यापन कार्य में वह अत्यन्त कुशल थे। इस प्रकार हम उनके व्यक्तित्व में अध्यापक और साहित्यकार—इन दोनों रूपों का सुन्दर समन्वय पाते हैं। साहित्यकार के रूप में वह सम्पादक, उपन्यासकार, नाटककार, कवि, निबन्धकार और व्याकरणाचार्य थे। उन्होंने अनेक प्रकार के ग्रन्थों की रचना की। अपने विद्यार्थी-जीवन से ही वह हिन्दी की सेवा करने लगे थे। इसलिए आगे चलकर उन्हें अपने उद्देश्य में पूरी सफलता मिली।

उपन्यास, नाटक तथा निबन्ध के क्षेत्र में गुरुजी को अधिक यश नहीं मिला। 'सत्य-प्रेम' उनका प्रथम और अन्तिम उपन्यास था और यही उनकी सर्वप्रथम रचना भी थी। इसमें उपन्यास-कला का अच्छा विकास नहीं हो सका। इसी प्रकार उनका 'सुदर्शन' नाटक भी नाट्य-कला की दृष्टि से सफल न हो सका। 'देशोद्धार' में उनके जो निबन्ध प्रकाशित हुए उनमें उन्हें अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली। हिन्दी के निबन्ध-साहित्य में उनके उन निबन्धों को उचित स्थान भी मिला। इसके अतिरिक्त उनकी नीति-सम्बन्धी पुस्तक 'हिन्दुस्तानी शिष्टाचार' ने हिन्दी के नीति-साहित्य में विशेष महत्व प्राप्त किया। यह अपने विषय की हिन्दी में एक नवीन रचना थी। अतः इसका सर्वत्र अच्छा स्वागत हुआ।

कवि के रूप में भी गुरुजी को अधिक प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी। उनकी कविता में भाषा का सौष्ठव तो था, भावों, विचारों तथा कल्पनाओं का सौंदर्य नहीं था। वह अधिकांश नीति-सम्बन्धी कविताएँ लिखते थे। इस दिशा में उनका दृष्टिकोण सुलझा हुआ था और उनकी कविता अत्यंत भावपूर्ण, स्पष्ट और सन्तुलित होती थी। ऐतिहासिक आधार पर वह अपनी

रचनाओं में प्राचीन गौरव का अत्यन्त मार्मिक चित्रण करते थे। 'देवी की विदा', 'परशुराम', 'अहिल्या', 'भील' आदि उनकी रचनाएँ अत्यन्त सुन्दर और सरस हैं। इन मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त उनकी कुछ अनूदित कविताएँ भी हैं। अनूदित कविताओं की भाषा और शैली इतनी सुन्दर है कि वे पाठक को मौलिक-सी जान पड़ती हैं।

व्याकरणाचार्य के रूप में गुरुजी हिन्दी के बेजोड़ विद्वान थे। वास्तव में आरम्भ से ही उनकी विशेष अभिरुचि भाषा-विज्ञान और व्याकरण के प्रति थी। हिन्दी, अँगरेज़ी, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी आदि का ज्ञान होने के कारण उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से हिन्दी-भाषा-व्याकरण का वैज्ञानिक विवेचन किया था। इस दिशा में उन्होंने सर्वप्रथम 'भाषा-वाक्य-पृथक्करण' तथा 'सहज हिन्दी रचना' की रचना की थी। इन दोनों रचनाओं का हिन्दी जगत में अच्छा आदर हुआ। हिन्दी में उस समय तक इस प्रकार की पुस्तकों का सर्वथा अभाव था। वाक्य-रचना आदि के सम्बन्ध में हिन्दी के तत्कालीन आचार्यों ने जो सिद्धान्त निश्चय किए थे वे बिखरे हुए थे। ऐसी दशा में आवश्यकता थी एक सुन्दर व्याकरण-ग्रंथ की। गुरुजी ने हिन्दी की इस आवश्यकता की पूर्ति 'हिन्दी व्याकरण' के विशद-ग्रन्थ के रूप में की। व्याकरण-संशोधन के लिए निर्मित होनेवाली समिति ने इस ग्रन्थ को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया। प्रसिद्ध हिन्दी-भाषा-विज्ञ ग्रियर्सन तथा पेरिस एकडेमी के प्रो० जुले ब्लाक ने इसकी बड़ी प्रशंसा की। वास्तव में पिंगल के क्षेत्र में जो स्थान भी भानु के 'छन्द-प्रभाकर' को प्राप्त है, व्याकरण के क्षेत्र में वही स्थान गुरुजी को प्राप्त है। हिन्दी में वह अपनी इसी रचना के कारण अमर हैं।

गुरुजी की भाषा

गुरुजी भाषा-विज्ञान तथा हिन्दी-व्याकरण के निष्णात पंडित थे। हिन्दी-भाषा-परिष्कारक द्विवेदीजी के सहयोगियों में उनका विशिष्ट स्थान था। हिन्दी में व्याकरण के प्रणयन की आवश्यकता उन्होंने जब समझी थी तब आज का युग नहीं था। उस समय हिन्दी-खड़ीबोली अपने निर्माण-काल में थी। उसका न तो अपना व्याकरण था और न कोई

सिद्धान्त। गुरुजी ने व्याकरण के क्षेत्र में अपने मौलिक विचारों की सूचना दी। उन्होंने भाषा को सैद्धान्तिक रूप दिया और उसे व्याकरण के नियमों से जकड़ दिया। इससे भाषा में स्वतन्त्र मनोवृत्ति का युग समाप्त हो गया।

गुरुजी हिन्दी में सरल भाषा के पक्षपाती थे। वह सुन्दर और प्रसाद गुणयुक्त भाषा लिखते थे। वह जानबूझकर कठिन शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे। विषय की आवश्यकता पूरी करने के लिए जब सरल शब्दों से उनका काम नहीं चलता था तब वह संस्कृत के कठिन तत्सम शब्दों से काम लेते थे। उनका शब्द-चयन सुन्दर, अर्थपूर्ण और विषयानुकूल होता था। उनके वाक्य आवश्यकतानुसार कभी छोटे और कभी बड़े होते थे। उनके विषय गम्भीर थे। इसलिए उनकी भाषा में स्निग्धता नहीं थी, पर वह अपने विषय के प्रतिपादन में समर्थ थी। वह बनावटी भाषा नहीं लिखते थे। उनकी भाषा स्वाभाविक होती थी। 'आर्य' आदि शब्द जो आज की भाषा में अप्रचलित समझे जाते हैं, उनकी भाषा में समय के प्रभाव से मिलते हैं, पर ऐसे शब्दों का बाहुल्य नहीं है। व्याकरण की दृष्टि से उन्होंने अपनी भाषा को शुद्ध बनाने का प्रयत्न किया है। उनकी भाषा में विदेशी शब्दों का सर्वथा अभाव है। कहावतों तथा मुहावरों का भी प्रयोग उनकी भाषा में मिलता है। उनकी भाषा हमारे लिए आदर्श है।

गुरुजी की शैली

शैली की दृष्टि से गुरुजी की रचनाएँ साधारण ही कही जाएँगी। वास्तव में वह शैलीकार नहीं थे। उनके विषय इतने गम्भीर और शुष्क थे कि वह अपनी शैली को विविधता प्रदान नहीं कर सकते थे। इसलिए हम उनकी शैली को केवल व्याख्यात्मक शैली ही कह सकते हैं। इस शैली में उन्होंने अपने व्याकरण की रचना की थी। निबन्धों में वह प्रायः विचारात्मक शैली को स्थान देते थे। कभी-कभी हास्यात्मक शैली में भी वह निबन्ध लिखते थे। उनकी शैली प्रवाहपूर्ण, प्रसाद गुणयुक्त और आकर्षक है।

पद्मसिंह शर्मा

जन्म सं० १९३३ मृत्यु सं० १९८९

जीवन-परिचय

पद्मसिंह शर्मा का जन्म बिजनौर जिले के नगला नामक गाँव में फाल्गुन सुदी १२, सं० १९३३ को हुआ था। उनके पिता श्री उमरावसिंह भूमिहार ब्राह्मण थे। श्री उमरावसिंह अपने गाँव के मुखिया, नम्बरदार और प्रभावशाली व्यक्ति थे। उनके घर जमींदारी और खेती होती थी। उनके पिता गुड़ का व्यवसाय तथा लेन-देन भी करते थे। इस प्रकार पद्मसिंह का जन्म एक सुसम्पन्न परिवार में हुआ था। दस-बारह वर्ष की अवस्था में उनका विद्यारम्भ कराया गया। उन दिनों बालकों को उर्दू-फारसी की शिक्षा ही दी जाती थी। इसलिए आरम्भ में उन्होंने उर्दू और फारसी ही पढ़ी। इसके बाद कई वर्ष तक उन्होंने 'सारस्वत', 'कौमुदी', 'रघुवंश' आदि संस्कृत-ग्रन्थों का अध्ययन किया। कुछ दिनों तक वह पं० भीमसेन की पाठशाला में 'अष्टाध्यायी' भी पढ़ते रहे। इस प्रकार संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् वह काशी गये। काशी में मुरादाबाद, लाहौर, जालन्धर, ताजपुर आदि स्थानों में रहकर उन्होंने अध्ययन किया। हिन्दी, संस्कृत, उर्दू तथा फ़ारसी साहित्य का उन्हें अच्छा ज्ञान था।

शर्माजी आरम्भ से ही वैदिक सिद्धान्तों के पक्षपाती थे। उनमें भाषण और तर्क-शक्ति अच्छी थी। इसलिए सं० १९६१ में संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) की आर्य प्रतिनिधि सभा ने उन्हें उपदेशक नियुक्त किया। उनके उपदेश अत्यन्त गम्भीर, प्रभावशाली और रोचक होते थे। साहित्य में भी उनकी अच्छी गति थी। उस समय महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) ने 'सत्यवादी' नाम का एक साप्ताहिक पत्र पं० इन्द्रदत्त शर्मा के

सम्पादकत्व में निकाला था। इसके सम्पादन-विभाग में एक योग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी। महात्मा मुंशीराम पद्मसिंह शर्मा की योग्यता से परिचित थे। इसलिए उन्होंने उन्हें बुलाकर 'सत्यवादी' के सम्पादन-विभाग में नियुक्त कर दिया। यहीं से उनकी सम्पादन तथा लेखन-कला का श्रीगणेश हुआ। इसके बाद सं० १९६५ में वह अजमेर गये और वहाँ 'परोपकारी' तथा 'अनाथ रक्षक' का लगभग एक वर्ष तक सम्पादन करते रहे। उनके सम्पादकत्व में इन पत्रों ने अच्छी उन्नति की। यहाँ से त्याग पत्र देकर वह ज्वालापुर गये और वहाँ के महाविद्यालय में ८ वर्ष तक काम करते रहे। इसी बीच सं० १९७४ में उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। इसलिए वह ज्वालापुर की नौकरी छोड़कर अपने गाँव चले आये। गाँव में उनका जी नहीं लगता था। इसलिए एक वर्ष ज्यों त्यों बिताकर वह काशी के ज्ञानमण्डल-कार्यालय के प्रकाशन-विभाग में काम करने लगे। यहीं उनकी 'बिहारी-सतसई' की भूमिका-भाग का प्रकाशन हुआ इसी समय से 'सतसई संहार' पर उनकी लेखमाला 'सरस्वती' में निकलने लगी और लगभग एक वर्ष तक बराबर निकलती रही। इससे हिन्दी-जगत में उनकी ख्याति बढ़ गयी। फलतः सं० १९७७ में वह मुरादाबाद के प्रान्तीय 'हिन्दी-साहित्य सम्मेलन' के सभापति निर्वाचित हुए। सं० १९८० के 'हिन्दी-साहित्य सम्मेलन' में सब से पहले उन्हें 'बिहारी सतसई' के सबतक के प्रकाशित अंश पर 'मङ्गला प्रसाद पारितोषिक' मिला। इसके पाँच वर्ष बाद सं० १९८५ में वह मुजफ्फरपुर के 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के सभापति हुए। सं० १९८६ में उनकी दो रचनाएँ 'पद्म-पराग' और 'प्रबंध मञ्जरी' प्रकाशित हुईं। इन पुस्तकों ने हिन्दी-संसार पर उनके विद्वता की छाप लगा दी। सं० १९८८ में उन्होंने प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी एकाडामी' में 'हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी' पर एक व्याख्यानमाला दी जिसे एकाडामी ने स्वयं प्रकाशित किया।

शर्माजी का स्वभाव सरल और आडम्बरहीन था। उनमें बनावट नहीं थी। आर्य-समाजी होने के नाते उनमें तर्क और आलोचना-

शक्ति अच्छी थी। वह प्रत्येक विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार करते थे और गम्भीर शब्दों में उसे व्यक्त करते थे। उनकी योग्यता, प्रतिभा, भावुकता तथा भाषा-शक्ति का उनके समकालीन सभी साहित्यिक लोहा मानते थे। बातचीत में उनको चुहुलबाजी और मीठी चुटकियों का बड़ा आनन्द आता था। स्वास्थ्य भी उनका अच्छा था। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वह अपने गाँव में ही रहते थे। वहीं प्लेग की बीमारी से ७ अप्रैल सन् १९३२ (सं० १९८९) को उनका स्वर्गवास हुआ।

शर्माजी की रचनाएँ

शर्माजी हिन्दी के उन गद्यकारों में से हैं जिन्होंने बहुत-सी पुस्तकें नहीं लिखीं। उनके तीन ही ग्रन्थ मिलते हैं : 'बिहारी सतसई', 'पद्मपराग' (सं० १९८८) और 'प्रबन्ध मञ्जरी'। 'बिहारी-सतसई' उनका आलोचनात्मक ग्रन्थ है। इसमें बिहारी के कुछ दोहों की टीका भी की गयी है। हिन्दी-पाठकों और काव्य-मर्मज्ञों के लिए यह अत्यन्त सुन्दर और प्रौढ़ रचना है। इसके अतिरिक्त शेष दो पुस्तकों में उनके निबन्धों का संग्रह है। उनके बहुत से व्याख्यान और लेख अभी असङ्कलित ही हैं। उनकी एक पुस्तक 'हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी' (सं० १९८९) है।

शर्माजी की गद्य-साधना

शर्माजी की उक्त रचनाओं के आधार पर उनके चार रूप : (१) सम्पादक, (२) टीकाकार, (३) आलोचक और (४) निबन्धकार—हमारे सामने आते हैं। हिन्दी-साहित्य में वह आलोचक के नाते अधिक प्रसिद्ध हैं। सबसे पहले उन्होंने पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र विद्यावारिधि की 'बिहारी-सतसई' की टीका की आलोचना 'सतसई-संहार' के नाम से 'सरस्वती' में प्रकाशित करायी थी। इसी लेख से उनका प्रवेश हिन्दी-जगत् में हुआ और इसके द्वारा उन्हें अच्छी ख्याति भी मिली।

टीकाकार के रूप में शर्माजी ने केवल बिहारी के कतिपय दोहों की टीका की। बिहारी के वह अधिक प्रशंसक थे। इसलिए उन्होंने बिहारी के सम्बन्ध में गम्भीर अध्ययन किया था। 'बिहारी-सतसई' पर उस समय तक

जितनी प्राचीन और नवीन टीकाएँ उपलब्ध थीं, उन्होंने उन सबका अनुशीलन और विवेचन करने के पश्चात् उनके सम्बन्ध में अपने स्वतंत्र विचारों को हिन्दी-जगत् के सामने उपस्थित किया था। इस प्रकार टीकाकार के साथ-साथ वह आलोचक के रूप में भी हमारे सामने आये। हिन्दी में वह अपनी तुलनात्मक आलोचना की नवीन शैली के कारण ही प्रसिद्ध थे। बिहारी पर लिखी हुई उनकी आलोचनात्मक पुस्तक में सातवाहन-द्वारा संगृहीत 'गाथा सप्तशती' (प्राकृत), गोवर्धनाचार्य-प्रणीत 'आर्या सप्तशती' (संस्कृत) तथा अन्य कवियों की पद्यमयी रचनाओं से बिहारी के दोहों की तुलना की गयी है। इस तुलना के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अपनी आलोचना में निष्पक्ष नहीं थे। वास्तव में उनकी तुलना काव्य के केवल वाह्य तत्त्वों पर अवलंबित थी। उसमें गंभीर चिन्तन और भावों के अभ्यांतरिक तथ्यों का निरूपण नहीं था। उनकी रचना को देखने से ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने शृङ्गार के क्षेत्र में बिहारी को सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध करने तथा बिहारी के अन्य टीकाकारों की टीकाओं में दोष दिखाने के अभिप्राय मात्र से अपनी तुलनात्मक आलोचना को जन्म दिया था। इसीलिए वह अपनी आलोचना में अधिक गंभीर नहीं हो सके। उर्दू-आलोचना-शैली से परिचित होने के कारण उन्होंने प्रायः उसी शैली का समर्थन किया। विरह और प्रेम की जैसी गंभीर विवेचना 'बिहारी' के दोहों के सम्बन्ध में होनी चाहिए थी, वैसी न होकर केवल 'वाह-वाह' और 'क्या खूब' की शैली में हुई। उनकी यह शैली चटपटी अवश्य थी, पर अनुभूतियों के चित्रण और तथ्यातथ्य-निरूपण की दृष्टि से वह शिथिल थी। भाषा की चटक-मटक, उछल-कूद और कारीगरी के कारण उसे स्थायित्व नहीं मिल सका। शुक्लजी का कहना है—'शर्माजी की यह समीक्षा भी रूढ़िगत है। दूसरे शृङ्गारी कवियों से अलग करनेवाली बिहारी की विशेषताओं के अन्वेषण और अंतः प्रवृत्तियों के उद्घाटन का—जो आधुनिक समालोचना का प्रधान लक्ष्य समझा जाता है—प्रयत्न इसमें नहीं हुआ है। एक खटकने वाली बात है, बिना जरूरत के जगह-जगह चुहलबाजी और शाबाशी या

महाँगली वर्ड।' पर इससे एक लाभ अवश्य हुआ और वह यह कि हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में तुलनात्मक आलोचना की ओर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट हो गया।

शर्मांजी निबन्धकार भी थे। उनके तीन निबन्ध-संग्रह: 'प्रबन्ध-मंजरी', 'पद्म-पराग' और 'हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी'—हिन्दी के निबन्ध-साहित्य में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। उनके निबन्धों में उनकी आलोचना-शैली अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर है। इसका कारण विषय और स्थिति का सचयन जान पड़ता है। उनके निबन्ध के विषय गम्भीर हैं और गंभीर शैली में ही उनका प्रतिपादन हुआ है। उनकी भाषा भी विषयानुकूल सबल, शिष्ट और ओजमयी है। 'हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी' में उनकी भाषा मजी हुई, शुद्ध और प्रौढ़ है। यह उनके भाषण का लिखित रूप है। इसमें उनका स्वतन्त्र अंश कम है। अधिकांशतः उर्दू के मौलवी-मुल्लाओं तथा अन्य विद्वानों के तत्सम्बन्धी विचारों तथा कथनों का खंडन-मंडन ही इसकी विशेषता है।

शर्मांजी की भाषा

शर्माजी की भाषा उनकी स्वाभाविक रुचि और उनके प्रतिपादित-विषय के अनुकूल है। उनकी भाषा विनोदमयी है। उससे पाठकों का अत्यधिक मनोरंजन होता है। इसका कारण उनकी भाषा का व्यावहारिक रूप है। वह चलती हुई भाषा के समर्थक थे। उनका शब्द-चयन और मुहावरों का प्रयोग ऐसा होता था जिससे भाषा में जान आ जाती थी। उनकी भाषा के दो स्पष्ट रूप हैं; एक तो विशुद्ध हिन्दी और दूसरा उर्दू-शब्द-प्रधान हिन्दी। उनकी विशुद्ध हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्राधान्य रहता है और भाषा विषयानुकूल गंभीर, सबल तथा प्रवाहपूर्ण होती है। उर्दू-शब्द-प्रधान-हिन्दी में 'खालिस', 'महदूद', 'तमन्ना', 'आलम', 'तलाश', 'मुश्किल', 'इस्तलाहात' आदि फ़ारसी के तत्सम शब्दों का अत्यधिक प्रयोग मिलता है। इससे कहीं-कहीं भाषा में अस्वाभाविकता आ गयी है, पर जहाँ भावों का प्राबल्य हुआ है वहाँ उनकी भाषा स्वाभाविक

दो गयी है। उनकी भाषा में दुरूहता नहीं, एक प्रकार का बांकपन है।

शर्माजी की शैली

शर्मा जी एक अच्छे शैलीकार हैं। उनकी शैली पर उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप है। उनकी शैली की दूसरी विशेषता उनके शब्द-चयन में सन्निहित है। वह अपने शब्द-चयन में बड़े सतर्क हैं। उर्दू और हिन्दी के शब्दों के सफल समन्वय में ही उनकी शैली का आकर्षण है। वह वक्तव्य-वस्तु के अनुकूल अपने शब्दों का चयन करते हैं और उन्हें सार्थक सिद्ध करने के लिए उनकी शक्तियों—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—का सफल प्रयोग करते हैं। उनके वाक्य-विन्यास से उनकी शैली की तीसरी विशेषता का परिचय मिलता है। जिन स्थानों पर भावों का प्राबल्य होता है उन स्थानों पर स्वभावतः उनके वाक्य-विन्यास अधिक संयत और प्रभावशाली होते हैं। वह जो कुछ कहते अथवा कहना चाहते हैं उसे वह सजा-सँवार कर अपने ढंग से अपने वाक्यों में प्रस्तुत करते हैं। उनकी भाषा-शैली के संबंध में प्रेमचन्द ने लिखा है—'आप में नवीन और प्राचीन का अभूतपूर्व मेल हो गया था। हिन्दी में आप एक खास शैली के जन्मदाता हैं—जिसमें चुलबुलापन है, शोख़ी है, प्रवाह है और उसके साथ गाम्भीर्य भी। उनका पाण्डित्य उनके काबू में है। वह उस पर शहसवार की भाँति सवार होते हैं।' उनकी शैली के विभिन्न रूप इस प्रकार हैं :—

(१) आलोचनात्मक शैली—शर्माजी की आलोचनात्मक शैली हमें दो रूपों में मिलती है. एक तो 'बिहारी-सतसई' में और दूसरे उनके स्फुट निबन्धों में। 'बिहारी सतसई' में उनकी आलोचनात्मक शैली का रूप तुलनात्मक है। इस शैली के वह प्रवर्तक हैं। उर्दू-काव्य में विशेष रुचि रखने के कारण वह उर्दू-कवियों के मुशायरों—कवि-सम्मेलनों—में भाग लेते थे। उन मुशायरों में एक एक 'शेर' पर कवि को 'दाद' मिलती थी और 'वाह वाह', 'वल्लाह-वल्लाह', 'क्या खूब' आदि प्रशंसा-सूचक शब्दों से सारा वातावरण काव्यमय हो जाता था। ऐसे ही उर्दू-कवि-सम्मेलनों से प्रभावित होकर शर्माजी ने 'बिहारी' के कुछ दोहों का चयन किया और उन

पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करके हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में एक नवीन शैली की उद्भावना की। इस शैली के अन्तर्गत ही उनकी भावात्मक शैली मिलती है। उनकी दूसरे प्रकार की आलोचना शैली गंभीर है। इसमें न भाषा की चुलबुलाहट है और न भावों की रंगीनी। ऐसा जान पड़ता है कि आलोचक अपने प्रत्येक शब्द, अपने प्रत्येक वाक्य और अपनी प्रत्येक पंक्ति में अपेक्षाकृत गंभीर और चिन्तनशील हो उठा है। इस शैली का प्रयोग उन्होंने प्राय आलोच्य विषय की भूमिका का रूप स्थिर करने में किया है।

(२) **वर्णनात्मक शैली**—इस शैली में शर्माजी ने कुछ निबन्धों की रचना की है। इसमें उनके वाक्य छोटे-छोटे होते हैं और भाषा वक्तव्य-विषय के अनुकूल सजग और प्रसाद-गुणयुक्त होती है। अपने कथन को प्रभावशाली और चुटीला बनाने के लिए उन्होंने इसमें हास्य और व्यंग का पुट भी दिया है। उनका हास्य और व्यंग, शिष्ट, संयत और साहित्यिक है। उनकी विचारात्मक शैली का एक उदाहरण लीजिए :—

'संस्कृत में गद्य का अभाव न इस कारण है कि वह कभी व्यवहार की भाषा नहीं थी, और न इसलिए कि वह एक मृत भाषा है। संस्कृत में भी गद्य के अभाव का वही कारण है जो दूसरी उन्नतिशील भाषाओं में है। बात यह है कि साहित्य वस्तुतः कुशल, स्वस्थ और सन्तुष्ट चित्त का प्रतिबिम्ब होता है। जब मनुष्य के हृदय में आनन्द की लहर उठती है, तो अनायास एक उच्छ्वास निकलता है। उसके साथ ही कहनेवाला गुनगुनाने लगता है। भले ही वह गाना न जानता हो, स्वर बुरा हो या भला हो, मच्छर के भिनभिनाने का अनुकरण हो या सन्नाद का। साहित्य के साथ संगीत की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। इसीलिए रूपक के रूप में साहित्य और संगीत सरस्वती माता के दो स्तन कहे गये हैं— 'संगीतमपि साहित्य सरस्वत्या' स्तनद्वयम। जब यह बात है, तो असाधारण कल्पनाशक्ति प्रतिभाशाली आर्य कवियों के हृदय का उल्लास पद्य प्रणाली को छोड़कर गद्य के साँचे में क्यों ढलकर निकलता।'

प्रेमचन्द

जन्म सं० १६३७ . मृत्यु सं० १६६३

जीवन परिचय

काशी से चार मील उत्तर पाडेपुर नामका एक मौज़ा है। इसी मौजे में लमही एक छोटा-सा ग्राम है। हमारे प्रसिद्ध कलाकार प्रेमचन्द का जन्म इसी ग्राम में सावन बदी १०, सं० १६३७, शनिवार को हुआ था। उनके पिता का नाम श्री अजायब राय और माता का नाम आनन्दीदेवी था। साधारण कायस्थ-परिवार था, पर व्यय अधिक। पूर्वजों से खेती-बारी का काम होता चला आ रहा था, पर जीविका के लिए उससे अधिक आय न होती थी। ऐसी परिस्थिति में अजायब राय ने डाक-विभाग में नौकरी कर ली थी। उन्हें केवल बीस रुपया मासिक वेतन मिलता था।

प्रेमचन्द के बचपन के दो नाम थे। पिता उन्हें 'धनपत राय' कहते थे और चाचा 'नवाब राय'। अपने माता-पिता का स्नेह प्राप्त होने पर भी उन्हें अधिक सुख नहीं मिला। माता-पिता दोनों संग्रहणी रोग से पीड़ित रहते थे। जब प्रेमचन्द ८-६ वर्ष के थे तब उनकी माता का देहान्त हो गया। इस घटना के पश्चात् उनके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया। इस विवाह से उनके दो सौतेले भाई भी हुए। सौतेली माँ और सौतेले भाई का व्यवहार उनके प्रति अच्छा नहीं था।

प्रेमचन्द की शिक्षा पाँचवें वर्ष से आरम्भ हुई। पहले वह मौलवी साहब से उर्दू-फारसी पढते रहे। इसके पश्चात् वह काशी के क्वींस कालेज में प्रविष्ट हुए। वह पढ़ने-लिखने में बहुत तेज थे। उनकी फीस माफ थी, पर शिक्षा की अन्य आवश्यकताओं के लिए उन्हें 'ट्यूशन' करना पड़ता था। स्कूल से छुट्टी पाने पर वह बालकों को पढ़ाते थे। इसके बाद पाँच मील पैदल

चलकर लमही जाते थे और वहाँ से फिर प्रातः काल स्कूल आते थे। ऐसी सकटापन्न परिस्थितयों में इन्होंने द्वितीय श्रेणी में मैट्रीकुलेशन की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् वह हिन्दू कालेज में प्रविष्ट हुए, पर गणित में कमजोर होने के कारण कई बार इन्टर की परीक्षा में अनुत्तीर्ण हुए। अन्त में निराश होकर उन्होंने कालेज छोड़ दिया।

प्रेमचन्द का प्रथम विवाह (सं १६५२) बस्ती के रामापुर ग्राम में हुआ था, पर यह विवाह सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुआ। उनकी पत्नी उनसे अवस्था में बड़ी थीं। इसके अतिरिक्त वह कुरूपा और स्वभाव की चिड़-चिड़ी भी थीं। प्रेमचन्द की उनसे पटरी नहीं बैठी। अतः थोड़े ही दिनों बाद उन्होंने उन्हें त्याग दिया और स० १६६२ में फतेहपुर के मौजा सलीमपुर निवासी मु० देवीप्रसाद की विधवा-पुत्री शिवरानीदेवी के साथ विवाह कर लिया। इस विवाह से उनके दो पुत्र हैं—श्रीपतराय और अमृतराय। शिवरानीदेवी विदुषी महिला हैं। हिन्दी के कहानी-साहित्य में उनकी कहानियों का अच्छा स्थान है।

पिता की मृत्यु के पश्चात् प्रेमचन्द को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। घर में उनकी पहली पत्नी थीं, सौतेली माँ थीं और उनके दो पुत्र थे। इन सबके भरण-पोषण का भार प्रेमचन्द पर था। पढ़ने की अधिक लालसा थी, पर निर्धनता उनके उत्साह में बाधक हो रही थी। ऐसी दशा में विवश होकर स० १६५६ में वह १८) मासिक वेतन पर अध्यापक हो गये। इसके पश्चात् वह सरकारी शिक्षा-विभाग में सब-डिप्टी इन्सपेक्टर हो गये। इस पद पर रहने के कारण उन्हें अधिक दौरा करना पड़ता था। उनका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं था। इसलिए कुछ समय तक अवकाश ग्रहण करने और दौरे की नौकरी त्यागने के पश्चात् वह बस्ती के सरकारी स्कूल में अध्यापक हो गये। बस्ती से वह गोरखपुर गये और वहाँ से उन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की। उस समय देश की राजनैतिक परिस्थिति अत्यन्त भीषण रूप धारण करती जा रही थी। इन परिस्थितियों का प्रेमचन्द पर भी प्रभाव पड़ा और उन्होंने लगभग २० वर्ष

तक सरकारी नौकरी करने के पश्चात् स० १६७७ के भयकर तूफान में पड़कर अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया।

गोरखपुर से प्रेमचन्दजी बनारस चले आये और अपने ग्राम में रहकर साहित्य तथा देश-सेवा में लग गये। इस प्रकार एक वर्ष ज्यों-त्यों कटा। अन्त मे आर्थिक सकटों से विवश होकर स० १६७८ में उन्होंने कानपुर के मारवड़ी विद्यालय में नौकरी कर ली और वहाँ के प्रधानाध्यापक हो गये, पर अधिक दिनों तक वह इस पद पर कार्य न कर सके। अधिकारियों से झगड़ा हो जाने के कारण उन्होंने नौकरी छोड़ दी और काशी जाकर 'मर्यादा' का सम्पादन करने लगे। उन्होंने लगभग डेढ़ वर्ष तक 'मर्यादा' का सम्पादन किया। इसके बाद वह काशी-विद्यापीठ के प्रधानाध्यापक हो गये। इस पद पर भी वह अधिक दिनों तक न रह सके और त्याग-पत्र देकर अपने गाँव चले गये। स० १६८१ में अलवर-नरेश ने उन्हें बुलाया और ४०० रु० वेतन देना स्वीकार किया, पर वह नहीं गये। कुछ दिनों तक उन्होंने लखनऊ से निकलनेवाले मासिक पत्र 'माधुरी' का सम्पादन किया। उनके जीवन का यह वह समय था जब कांग्रेस का आन्दोलन चल रहा था। कांग्रेस की विचार-धारा का उन पर पहले ही से प्रभाव था। अत. वह इस आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। अपने स्वास्थ्य के खराब होने के कारण वह जेल तो नहीं गये, पर शिवरानीदेवी जेल अवश्य गयीं। आन्दोलन शान्त होने पर उन्होंने 'माधुरी' का सम्पादन-कार्य त्याग दिया और काशी में अपना प्रेस खोला। इस प्रेस से वह 'हस' और 'जागरण' का सम्पादन करने लगे, पर इस व्यवसाय में उन्हें घाटा ही रहा। उन्हीं दिनों बम्बई की एक फिल्म कम्पनी ने उन्हें आमंत्रित किया। 'हस' और 'जागरण' पर उनका मोह था और वह इन पत्रों को जीवित रखना चाहते थे। इसलिए बम्बई जाने पर भी वह इनकी सेवा करते रहे। बम्बई में उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा। ऐसी दशा में विवश होकर स १६६२ मे वह अन्तिम बार अपने गाँव गये। वहाँ १६ जून सन् १६३६ को वह बीमार पड़े। चिकित्सा होती रही, पर अधिक लाभ नहीं हुआ। ८

अक्तूबर सन् १९३६ (सं० १९९३) को प्रातःकाल उनका स्वर्गवास हो गया।

प्रेमचन्द की रचनाएँ

प्रेमचन्द हिन्दी के उच्च कोटि के कलाकार थे। अपने विद्यार्थी-जीवन से ही उन्होंने लिखना आरंभ कर दिया था और वह अंतिम साँस आने-आने तक बराबर लिखते रहे। लिखने का उन्हें व्यसन-सा था। पहले वह उर्दू में कहानियाँ लिखते थे, पर जब हिन्दी के सम्पर्क में आये तब उन्होंने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया। हिन्दी में हम उनकी रचनाओं को कई रूपों में पाते हैं :—

(१) अनूदित रचनाएँ—प्रेमचन्द ने कई अंगरेजी पुस्तकों का हिन्दी-अनुवाद किया है। ऐसी अनूदित पुस्तकों में उपन्यास, नाटक और कहानियों की गणना की जाती है। 'अहंकार' फ्रांस के प्रसिद्ध उपन्यासकार अनातोले के 'थायस' का अनुवाद है। 'सुखदास' (सं० १९७७) इलियट के 'साइलस मारनर' का अनुवाद है। 'चाँदी की डिबिया' (सं० १९८७), 'हड़ताल' (सं० १९८७) तथा 'न्याय' (सं० १९८७) उनके अनूदित नाटक हैं। 'टालस्टाय की कहानियाँ' एक कहानी-संग्रह है। 'सृष्टि का आरम्भ' जार्ज बर्नर्डशा के एक नाटक का अनुवाद है। उन्होंने रतननाथ सरशार के 'फिसानये आज़ाद' का अनुवाद 'आज़ाद-कथा' (सं० १९८४) के नाम से किया है। यह दो भागों में है। 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' भी उनका एक अनूदित-ग्रंथ है।

(२) संपादित ग्रंथ—मनमोदक (सं० १९८३), गल्प समुच्चय (सं० १९८५) और 'गल्प-रत्न' (सं० १९८६)।

(३) नाटक—संग्राम (सं० १९८०), कर्बला (सं० १९८१) तथा प्रेम की वेदी (सं० १९९०)। 'चंद्रहार' 'गबन' के आधार पर लिखा गया नाटक है।

(४) कहानी संग्रह—सप्तसरोज (सं० १९७४), नवनिधि (सं० १९७५), प्रेमपूर्णिमा (सं० १९७५), प्रेम पचीसी (सं० १९८०), प्रेम प्रसून (सं० १९८१), प्रेम-प्रतिमा (सं० १९८३), प्रेम-द्वादशी (सं० १९८३), अग्नि-समाधि (सं० १९८६), सप्त-सुमन (सं० १९८७), समर-यात्रा (सं० १९८७),

प्रेम सरोवर (सं० १९८८), प्रेरणा (सं० १९८६), नवजीवन (सं० १९९२), मानसरोवर : दो भाग (सं० १९९३), कुत्ते की कहानी (सं० १९९३), कफन (सं० १९९३), जङ्गल की कहानियाँ (सं० १९९४)।

(५) उपन्यास—प्रेमा (सं० १९६१), वरदान (सं० १९६६), सेवा-सदन (सं० १९७५), प्रेमाश्रम (सं० १९७८), रंगभूमि (सं० १९७६), कायाकल्प (सं० १९८१), निर्मला (सं० १९८५), प्रतिज्ञा (सं० १९८६), गबन (सं० १९८८), कर्म-भूमि (सं० १९८६), गोदान (सं० १९९३), दुर्गादास (सं० १९९५) और मंगल-सूत्र (अपूर्ण)।

(६) निबन्ध-संग्रह—स्वराज्य के फायदे (सं० १९७८), कुछ विचार (सं० १९९६)।

(७) जीवनियाँ आदि—महात्मा शेख सादी (सं० १९७५), राम-चर्चा चर्चा (सं० १९९८), कलम-तलवार और न्याय तथा दुर्गादास।

प्रेमचन्द का समय

प्रेमचन्द की जिन कला कृतियों की ऊपर चर्चा की गयी है उनके अध्ययन से उनके समय का यथार्थ चित्र सामने आ जाता है। उनका रचना-काल सं० १९५८ से आरम्भ होता है। इस समय वह अपने जीवन के लगभग इक्कीसवें वर्ष में थे और उर्दू में लिखा करते थे। सबसे पहले उन्होंने कहानियाँ लिखना आरम्भ किया। उनका पहला कहानी-संग्रह 'सोजे वतन' (सं० १९६४) जमाना प्रेस, कानपुर में प्रकाशित हुआ। वास्तव में इसी कहानी-संग्रह ने प्रेमचन्द को कहानीकार प्रेमचन्द बनाया। इस रचना के पश्चात् वह उपन्यास लिखने लगे और लगभग पन्द्रह वर्ष तक बराबर उर्दू के कथा-साहित्य को अपनी प्रतिभा का दान देते रहे। उर्दू-साहित्य का क्षेत्र त्यागकर सं० १९७३ में जब वह हिन्दी-कथा-साहित्य के क्षेत्र में आये तब वह अपने जीवन के पैंतीसवें वर्ष में थे। भारतीय इतिहास में यह समय सामाजिक और राजनीतिक चेतनाओं का युग था। राज-नीतिक क्षेत्र में नेताओं का और सामाजिक क्षेत्र में सुधारकों का एक ऐसा दल उत्पन्न हो गया था जो प्राण-पण से भारत को राजनीतिक तथा सामाजिक

तिक बन्धनों से मुक्त करने में सलग्न था। गांधीजी के असहयोग-आंदोलन से हम सम्पूर्ण विश्व के सम्पर्क में आ गये थे और हमें अपनी राजनीतिक तथा सामाजिक दुर्बलताओं का पूर्ण परिचय मिल चुका था। ऐसी दशा में हमारा साहित्य इन प्रभावों से अछूता न रह सका। प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य में राजनीतिक तथा सामाजिक चेतनाओं का सफल चित्रण किया और अपनी प्रतिभा के दान से उसका मस्तक ऊँचा कर दिया।

पूछा जा सकता है कि प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी-कथा-साहित्य किस प्रकार का था और उसमें जीवन की किन प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों का अंकन होता था? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें हिन्दी-साहित्य के इतिहास के दो महत्त्वपूर्ण युगों—'भारतेन्दु-युग' तथा 'द्विवेदी-युग'—पर विचार करना होगा। हम पहले बता चुके हैं कि 'भारतेन्दु-युग' प्रचार का युग था। इसलिए उस युग में उद्देश्य-पूर्ण कथा-साहित्य की प्रधानता रही और साधारण जनता की रुचि के अनुसार शृंगारिक भावनाओं का ही चित्रण हुआ। फलतः वस्तु-प्रधान तिलस्मी और ऐयारी के उपन्यासों ने जन्म लिया। अपनी मध्ययुगीन विकृत रुचि के कारण जनता ने इस परंपरा में इतनी दिलचस्पी दिखायी कि अन्य प्रकार के उपन्यासों में भी 'तिलिस्म' और 'लखलखे' की खोज होने लगी। देवकीनंदन खत्री (सं० १९१८-७०) और किशोरीलाल गोस्वामी (सं० १९२२-८९) इस धारा के प्रवर्तक थे और 'चंद्रकांता संतति' की बड़ी धूम थी। जासूसी उपन्यासों की परम्परा हिन्दी में अँगरेज़ी से आयी। यद्यपि इसकी भारतीय जीवन के साथ अनुकूलता न थी, तथापि इन उपन्यासों के अतिरंजित बुद्धिवाद से प्रभावित होकर जनता ने इस परम्परा का स्वागत किया। गोपालराम गहमरी (सं० १९२३-२००५) इस धारा के प्रवर्तक थे। 'द्विवेदी-युग' में इन दोनों धाराओं में कुछ परिवर्तन हुआ। अँगरेज़ी-साहित्य के सम्पर्क में आने से हिन्दी-साहित्य को जो प्रेरणाएँ मिलीं उनके फलस्वरूप उपन्यासों का क्षेत्र कुछ परिमार्जित हुआ, पर इस ओर लेखकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट नहीं हुआ। इसलिए हिन्दी में किसी विशेष परम्परा ने जन्म नहीं लिया। बंकिम बाबू

(सं० १८६५-१६५१) के उपन्यासों की इस समय अवश्य धूम थी और उनकी रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद भी हो रहा था।

प्रेमचन्द का व्यक्तित्व

हिन्दी में प्रेमचन्द का व्यक्तित्व बेजोड़ था। वह असाधारण ग्रन्थकार थे। इकहरा शरीर, भरा हुआ चेहरा, प्रशस्त ललाट, तेजस्वी आँखें जहाँ उनके स्वभाव की गंभीरता और सौम्यता प्रकट करती थीं वहाँ उनसे उनकी अध्ययनशीलता और प्रतिभा का भी परिचय मिलता था। उनका रहन सहन साधारण और उनकी वेश-भूषा सरल थी। उन्होंने अपने जीवन में अकृत्रिम शृंगार को कभी स्थान नहीं दिया। दरिद्रता में ही उनका जन्म हुआ, दरिद्रता में ही उनका पालन-पोषण हुआ और अन्त में दरिद्रता से जूझते-जूझते वह समाप्त हो गये। आरम्भ में तो उनकी स्थिति इतनी भयावह थी कि वह अपना निर्वाह पुरानी पुस्तकें बेच कर भी नहीं कर पाते थे। विद्यार्थी-जीवन के पश्चात् अध्यापक और फिर डिप्टी इन्स्पेक्टर होने तक उनकी आर्थिक दशा में विशेष उन्नति नहीं हुई। महात्मा गांधी की पुकार पर उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ी और साहित्य-सेवा की ओर अग्रसर हुए, पर जीवन की इस नयी परिस्थिति में भी वह आर्थिक संकटों से मुक्त न हो सके। इन संकटापन्न परिस्थितियों में परिश्रम ही उनके जीवन का आभूषण था। रोग-ग्रस्त होने पर भी वह परिश्रम से अपना हाथ नहीं खींचते थे। लिखने का उन्हें व्यसन था और इसी व्यसन में वह अपने परिश्रम की थकान भूल जाते थे। उनका कहना था—"मैं मजदूर हूँ, मजदूरी किए बिना मुझे भोजन करने का अधिकार नहीं।" उनके इस कथन में अनेक जीवन का रहस्य निहित था। अपना तथा अपने बाल-बच्चों का पेट पालने के लिए ही वह परिश्रम नहीं करते थे। वह परिश्रम करते थे इसलिए कि उनके हृदय में अनेक वेदनाएँ, अनेक पीड़ाएँ, अनेक चिनगारियाँ भरी हुई थीं कि वह उन्हें बिना व्यक्त किए सुख से सो नहीं सकते थे। कहने से मन की व्यथा हलकी हो जाती है। प्रेमचन्द जब तक जीते रहे तब तक बराबर कुछ-न-कुछ

कहते, कुछ-न कुछ लिखते रहे। फिर भी 'मंगल-सूत्र' में कहते-कहते वह सो गये और ऐसे सो गये कि फिर न उठ सके। यही उनकी कृति थी जो उनकी असामयिक मृत्यु के कारण अधूरी रह गयी।

प्रेमचन्द जितने ही निर्धन और दरिद्र थे उतने ही उदार, सरल और विनयी भी थे। उनमें स्वाभिमान की मात्रा अधिक थी। आजीवन आर्थिक संकटों के बीच रहने पर भी उन्होंने कभी किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। जागरूक तो वह इतने थे कि उन्हें अपनी जाति, अपने समाज और अपने देश की प्रत्येक स्थिति का सम्यक् ज्ञान था। उनकी आँखों के सामने राजा-महाराजों की अट्टालिकाएँ भी थीं और भिखारियों की झोपड़ियाँ भी, सेठ-साहूकारों की धन-राशि भी थी और भोले-भाले किसानों की परिश्रम की कमाई भी, अन्तःपुर में निवास करनेवाली रानियाँ भी थीं और कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करनेवाली असहाय विधवाएँ भी; इसलिए उन्होंने कभी अपनी स्थिति के प्रति असंतोष प्रकट नहीं किया। वह दरिद्रता को भृंगार थे और वरदान के रूप में ही उसे ग्रहण करते थे। संसार की सारी अभिलाषाओं का उन्हें अच्छा ज्ञान था। इसीलिए वह उदार और सरल थे। धार्मिक दर्शनों में उनका विश्वास नहीं था। उन्होंने ईश्वर पर कभी विश्वास नहीं किया। वह मानवता के पुजारी थे। मानव की सद्वृत्तियों में उनका अडिग विश्वास था। वह बुद्धिवादी थे। वह अपने विश्वास के भीतर ही प्रत्येक बात को स्वीकार करते थे। साहित्य के वह एकान्त साधक और वर्तमान के भक्त थे। उन्होंने न तो कभी पीछे मुड़कर देखा और न आगे देखने की चिन्ता की। वर्तमान ही उनके लिए सत्य था। भूत और भविष्य के चक्कर में वह कभी नहीं पड़े। वह जिन बातों में विश्वास करते थे उन्हें ही अपने जीवन में स्थान देते थे। मनसा, वाचा और कर्मणा से वह एक थे। उनके भौतिक जीवन और साहित्यिक जीवन में अन्तर नहीं था। दोनों के समन्वय में ही उनके जीवन की और उनके कला एवं उनके साहित्य की सफलता का रहस्य था। वह मान-मर्यादा के भूखे नहीं थे। सरस्वती के मन्दिर में बैठकर उन्होंने कभी लक्ष्मी की आराधना नहीं की।

वह समाज के सेवक और साहित्य के मौन साधक थे। वह जीवन के पारखी और उसके कलाकार थे।

प्रेमचन्द का महत्व

ऐसे थे प्रेमचन्द और ऐसा था शक्तिशाली उनका व्यक्तित्व। हिन्दी-कथा-साहित्य को उनके व्यक्तित्व से बहुत बल मिला। उनके पूर्व उसका रूप अत्यन्त विकृत, चिन्ताजनक और असंतोषप्रद था। वह इतना निर्जीव और उबड़-खाबड़ था कि उसकी गणना साहित्य की परिधि के भीतर हो ही नहीं सकती थी। वास्तविक जीवन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। उसमें जीवन के उठान की शक्ति नहीं थी। प्रेमचन्द ने इस कमी को पूरा किया और हिन्दी-कथा-साहित्य में एक परिवर्तन की सूचना दी।

प्रेमचन्द जीवन और उसकी वास्तविक परिस्थितियों के कलाकार थे। जितना उन्हें अपनी परिस्थिति का परिचय था उतना ही उन्हें अपने समाज और अपने देश की परिस्थितियों का ज्ञान था। उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, वेश-भूषा, रहन-सहन, आशा-निराशा, इच्छा-अनिच्छा, सुख-दुःख, राग-द्वेष और सूझ-बूझ के वह पूर्ण ज्ञाता थे। सर्वत्र उनकी गति थी। जीवन के निम्नतम और उच्चतम सभी प्राणियों, सभी वर्गों और सभी समाजों से उनका सम्बन्ध था। उनके पूर्व किसी हिन्दी-कथाकार का अनुभव-क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं था और इसलिए उस समय का कथा-साहित्य प्रायः कल्पना-प्रसूत था। प्रेमचन्द ने उसे कल्पना-लोक के दूषित वातावरण से निकालकर जीवन की यथार्थ भाव-भूमि पर खड़ा किया। और उसे जीवन की समस्याओं से अनुप्राणित किया।

प्रेमचन्द सामाजिक प्राणियों के प्रतिनिधि थे, उन प्राणियों के प्रतिनिधि थे जो शताब्दियों से पद-दलित, अपमानित और उपेक्षित थे। वह उस नारी समाज के वकील थे जो पर्दे में कैद, पद-पद पर लांछित और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हेय समझी जाती थी। वह उन कृषकों की आवाज थे जो निरीह, निष्प्राण और पूँजीपतियों की वासना के शिकार थे। इस प्रकार उन्होंने निम्न और मध्य श्रेणी के व्यक्तियों का ही चित्रण किया। उच्च

श्रेणी के चरित्रों को चित्रित करने की ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया। उसकी आवश्यकता भी उन्होंने नहीं समझी। प्राचीन साहित्य ही उन्हीं का साहित्य था। भारत के जो मेरुदण्ड हैं, जो संस्कृत और सभ्यता के वाहक और संरक्षक हैं, जो अशिक्षित होते हुए भी न्याय और समता के पोषक हैं, जो पद-दलित होते हुए भी परोपकारी हैं और जो अपमानित होकर भी दूसरों का सम्मान करते हैं उनको सबसे पहले साहित्य में स्थान दिया प्रेमचन्द ने। वह मूक जनता की वाणी होकर हमारे सामने आये। अपनी इस धुन में उन्होंने भूत की चिन्ता नहीं की और भविष्य का स्वप्न नहीं देखा। वह बड़ी ईमानदारी से वर्तमान की अवस्था का ही विश्लेषण करते रहे।

प्रेमचन्द मानवता के उपासक थे। 'भारतेन्दु-युग' और 'द्विवेदी-युग' जातीय और सामाजिक घेरे में ही सीमित थे। इसलिए उन युगों की वाणी को अखिल भारतीय रूप न मिल सका। प्रेमचन्द ने हमारे सामाजिक जीवन के प्रश्नों को समस्त देश के जीवन-मरण के रूप में सम्पूर्ण विश्व के सामने रखा और उनके प्रति अधिक-से-अधिक लोगों की सहानुभूति प्राप्त की। इस प्रकार उन्होंने सबसे पहले अपनी सामाजिक चेतनाओं, आवश्यकताओं और अनुभूतियों को अखिल भारतीय रूप देकर उसे मानवता की ओर अग्रसर किया। हिन्दी कथा-साहित्य को उनकी यही सबसे बड़ी देन है।

प्रेमचन्द में एक विशेषता और है और वह है उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण। उनसे पूर्व हिन्दी-कथाकारों का एक ऐसा समूह था जो काल्पनिक पात्रों में विश्वास करता था। उन पात्रों का वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। हिन्दी-कथा-साहित्य में उस युग का अन्त होने पर उस पर रवीन्द्रनाथ और शरच्चन्द्र का प्रभाव पड़ा। इन दोनों महान कलाकारों में से रवीन्द्रनाथ बंगला के ने विभिन्न मनोवृत्तियों के अनुकूल अपने पात्रों की कल्पना की। उनके ऐसे पात्रों में हमें जीवन की विभिन्न मनोवृत्तियों के घात-प्रतिघात जीवित रूप में देखने को मिले। इसके विपरीत शरच्चन्द्र ने व्यक्तियों को हमारे सामने उपस्थित किया, ऐसे व्यक्तियों को लाकर खड़ा किया जिनके सुख-दुःख में हम बुरी तरह उलझ गये। कभी हम उनके

दुःख से विदीर्ण हो गये और कभी उनके सुख से प्रफुल्लित। हिन्दी में ऐसे पात्रों का अनुकरण हुआ। परन्तु प्रेमचन्द ने अपने पात्रों के चयन में न तो रवीन्द्र की शैली का अनुकरण किया और न शरद् का अनुगमन। इस दिशा में उन्होंने अपनी स्वतन्त्र मनोवृत्ति का परिचय दिया। वह समाज को उठाना चाहते थे, उसकी त्रुटियाँ उसे बताना चाहते थे, उसे उसकी शक्ति का परिचय कराना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपने पात्रों को विशेष वर्गों के प्रतिनिधियों के रूप में चित्रित किया। फलतः हम उनके दुःख में व्यक्तिगत दुःख का अनुभव नहीं करते; हम उस समाज और उस वर्ग के लिए चिन्तित हो जाते हैं जिसका वह प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका यही भाव हमें मानवता की ओर अग्रसर करता है। उनके सम्पर्क में आने पर हम व्यक्तियों के सुख-दुःख पर नहीं, समाज और राष्ट्र के सुख-दुःख पर विचार करने लगते हैं। हम भूल जाते हैं अपने आपको, हम भूल जाते हैं अपनी समस्याओं को और हम चिन्ता करते हैं सम्पूर्ण समाज की, सम्पूर्ण राष्ट्र की। कहा जा सकता है कि उन वर्गवादी संघर्षों में आर्थिक समस्याओं को ही प्रधानता मिली, और यह सत्य भी है, पर इस प्रकार के संघर्षों का अन्त संघर्षों में ही नहीं हुआ। उसका अन्त हुआ है सेवा और त्याग में, आपस के मेल-जोल में, पारस्परिक सहयोग और सच्ची सहानुभूति में। कथा-साहित्य में यह उदार भावना हमें प्रेमचन्द से ही मिली है।

प्रेमचन्द ने केवल वक्तव्य-वस्तु के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का परिचय नहीं दिया, उन्होंने भाषा का स्वयं संस्कार किया और उर्दू के उन प्रभावों को हिन्दी के अन्तर्गत स्वीकार किया जिनकी उसको आवश्यकता थी। इस प्रकार उन्होंने अपनी रुचि और अपनी विचार-धारा के अनुकूल उसका शृंगार करके हमारे सामने रखा। वह भाषा की आत्मा को पहचानते थे। वह यह भी समझते थे कि जबतक भाषा को व्यावहारिक रूप न दिया जायगा तबतक उसके सामाजिक तथा राष्ट्रीय विचारों को जनतन्त्रात्मक रूप न मिलेगा। इसलिए उन्होंने उर्दू-हिन्दी का झगड़ा दूर करके दोनों का समन्वय किया और भाषा में नयी शक्ति फूँक दी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द ने हिन्दी-कथा-साहित्य को एक ही साथ कई प्रकार का दान दिया। उन्होंने उसे कल्पना के क्षेत्र से निकाल, कर जीवन के क्षेत्र में लाकर खड़ा किया और तत्कालीन समाज की समस्याओं का राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इतना मोहक चित्र उपस्थित किया कि उसकी ओर सब का ध्यान आकृष्ट हो गया। उनके पात्र वास्तविक जीवन के पात्र थे। उनके विचार वास्तविक जीवन के विचार थे और उनके सुख-दुःख वास्तविक जीवन के सुख-दुःख थे। कथा-साहित्य में उन्होंने सबसे पहले जनतत्र की आवाज उठाई। उन्होंने कोई नयी दुनिया नहीं बसायी, बसाने की क्षमता भी उनमें नहीं थी। पर वर्तमान संसार की जिन त्रुटियों से उन्होंने हमें परिचित कराया उनकी ओर से हम सावधान हो गये और उन्हें दूर करने के लिए प्राणपण से लग गये।

प्रेमचन्द की साधना

प्रेमचन्द ने सं० १९५७ से लिखना आरम्भ किया और सं० १९९३ तक बराबर लिखते रहे। इन पैंतीस वर्षों में वह दो रूपों में हमारे सामने आये: (१) उर्दू-साहित्यकार के रूप में और (२) हिन्दी-साहित्यकार के रूप में। उर्दू-साहित्य में उनका प्रवेश सं०१९५७ में हुआ और सं० १९६१ में उनका पहला उपन्यास 'हमखुर्मा व हम सवाब' प्रकाशित हुआ। उनका दूसरा उर्दू-उपन्यास 'जलवए ईसार' था। हिन्दी में इसका अनुवाद 'वरदान' के नाम से हुआ। हिन्दी में आने पर इसी का संशोधित संस्करण 'प्रेमा' के नाम से प्रकाशित हुआ। सबसे पहले उन्होंने कहानियाँ लिखना आरम्भ किया। उनकी सबसे पहली कहानी थी—'संसार का सबसे अनमोल रत्न' (सं० १९५७)। यह कानपुर से निकलनेवाले मासिक पत्र 'जमाना' में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद चार-पाँच कहानियाँ उन्होंने और लिखीं जिनका संग्रह 'सोज़ेवतन' के नाम से सं० १९६४ में प्रकाशित हुआ। यह उनका पहला कहानी संग्रह था जिसकी अधिकांश कहानियाँ राष्ट्र-प्रेम से भरी थीं। इसलिए सरकार ने इसे जब्त कर लिया। इससे उनकी ख्याति बढ़ गयी। उस समय वह 'नवाब राय' के नाम से कहानियाँ

लिखते थे। 'सोजेवतन' के पश्चात् 'खाके परवाना', 'प्रेम पचीसी', 'प्रेम बत्तीसी', 'प्रेम चालीसा', 'फिरदोसए ख्याल', 'जादेराह', 'दूध की कीमत', 'वारदात', 'नजात' आदि कहानी-संग्रह निकले। इन कहानियों में प्रेमचन्द ने सामाजिक जीवन की विभिन्न समस्याओं का मार्मिक चित्रण किया और उनके द्वारा अपनी कला का परिचय दिया। उर्दू में उन्होंने कुल तीन उपन्यास और लगभग १७८ कहानियों की रचना की।

हिन्दी में प्रेमचद ने सं० १९७१ के लगभग प्रवेश किया और वह अपने उन समस्त संस्कारों को अपने साथ लेते आये जिनके कारण उर्दू में उन्हें लोक-प्रियता मिल चुकी थी। कथावस्तु पर तो उनका पूरा अधिकार था ही, धीरे-धीरे भाषा पर भी उन्होंने अपना अधिकार स्थापित कर लिया और वह शीघ्र ही इस नवीन क्षेत्र में लोकप्रिय हो गये। उनका पहला उपन्यास 'सेवासदन' लगभग इसी समय प्रकाशित हुआ। इसने तत्काल ही उच्चकोटि के पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। इसके पश्चात् उन्होंने 'प्रेमाश्रम' और फिर सं० १९७८-७९ के सत्याग्रह-आन्दोलन के साथ ही 'रंगभूमि' नाम का बड़ा उपन्यास निकाला। इन तीनों उपन्यासों ने उन्हें अपने युग का श्रेष्ठ उपन्यासकार बना दिया। इनके अतिरिक्त उन्होंने और कई उपन्यास लिखे। उन्होंने लगभग ३०० कहानियाँ लिखीं जो विभिन्न नामों से संग्रह के रूप में प्रकाशित हुईं। इन कहानियों से हिन्दी-कथा-साहित्य का स्तर बहुत ऊँचा हो गया और भावी कहानीकारों को उनसे बहुत प्रोत्साहन मिला। साहित्यिक दृष्टि से प्रेमचन्द पाँच रूपों में हमारे सामने आये: (१) कहानीकार प्रेमचन्द, (२) उपन्यासकार प्रेमचन्द, (३) नाटककार प्रेमचन्द (४) पत्रकार प्रेमचन्द और (५) निबंधकार प्रेमचन्द।

(१) **कहानीकार प्रेमचन्द**—कहानीकार के रूप में प्रेमचन्द अपने समय के सर्वोच्च कलाकार थे। उनके साहित्यिक जीवन का आरंभ उनकी कहानियों से ही हुआ था। अपने प्रथम कहानी संग्रह 'सोजेवतन' में

उन्होंने कहानी-कला की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की वही उनकी अमर ख्याति की पृष्ठभूमि बन गयी और उर्दू में वह भावी कहानीकारों के पथ-प्रदर्शक हो गये। हिन्दी में भी उनकी कहानियों का अच्छा स्वागत हुआ। उस समय हिन्दी में बंगला-साहित्य की कहानियों को पढ़कर कतिपय हिन्दी लेखक कहानियाँ लिखने का अभ्यास कर रहे थे। ऐसी कहानियों में कहानीकारों की मौलिक सूझ-बूझ का अभाव रहता था। प्रेमचन्द ने सर्व प्रथम हिन्दी-कहानी-कला की रूप-प्रतिष्ठा की। अपने 'कहानी' शीर्षक निबंध में उन्होंने लिखा—'वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती है।' अपने इस दृष्टिकोण के अनुसार ही प्रेमचन्द ने अपनी कहानी-कला का विकास किया है। वह जीवन के कहानीकार थे और उसी कहानी को उत्तम समझते थे 'जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।' इसलिए वह अपनी कहानियों में जीवन की कोई-न-कोई प्रधान समस्या का उद्‌घाटन करते थे। वह घटना प्रधान कहानियाँ न लिखकर चरित्र-प्रधान कहानियाँ लिखते थे। 'मैं कहानी कैसे लिखता हूँ' शीर्षक निबंध में उन्होंने लिखा है—'मेरे किस्से प्रायः किसी-न-किसी प्रेरणा अथवा अनुभव पर आधारित होते हैं, उसमें नाटक का रंग भरने की कोशिश करता हूँ। मगर घटना-मात्र का वर्णन करने के लिए मैं कहानियाँ नहीं लिखता। मैं उसमें किसी दार्शनिक और भावात्मक सत्य को प्रकट करना चाहता हूँ। जब तक इस प्रकार का कोई आधार नहीं मिलता, मेरी कलम ही नहीं उठती। आधार मिल जाने पर मैं पात्रों का निर्माण करता हूँ।' संक्षेप में यही है प्रेमचन्द की कहानी-कला। उनकी कहानियों में आधार यथार्थ और उद्देश्य आदर्श की ओर उन्मुख रहता है।

प्रेमचन्द का कहानी-साहित्य अत्यन्त समृद्ध और विशाल है। उन्होंने जितनी कहानियाँ लिखी हैं उतनी हिन्दी का कोई कहानीकार अब

तक नहीं लिख सका है। उनके मस्तिष्क में कहानियों के अनेक 'प्लाट' भरे पड़े थे और वह जब चाहते थे तब उनका उपयोग करते थे। वह जीवन की प्रत्येक छोटी बड़ी समस्या से परिचित थे और उसे कहानी का रूप देने में सफल होते थे। उन्होंने लगभग तीन सौ कहानियाँ लिखीं जिनमें से कुछ घटना-प्रधान हैं और अधिक चरित्र-प्रधान। विषय की दृष्टि से उनकी कहानियाँ सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक और राष्ट्रीय हैं। सामाजिक कहानियों में प्रेमचन्द को विशेष सफलता मिली है। ऐसी कहानियों में उन्होंने समाज-सुधार, ग्रामीण-जीवन तथा नारी जीवन की विविध समस्याओं को स्थान दिया है। अछूतोद्धार, विधवा-विवाह, बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, देवी, देवता, भूत-प्रेत, अंधविश्वास, घूस, राजकर्मचारियों के अत्याचार, जमींदारों की निरंकुशता, किसानों के पारस्परिक राग-द्वेष, ग्राम-पचायत, वकीलों की करतूतें, पंडितों का पाखण्ड, पुलिसवालों के हथकण्डे, पण्डों की करतूतें, महाजनों की सूदखोरी, पटवारियों की शरारतें, गुण्डों की हरकतें, विधवाओं की विवशता, सधवाओं का सतीत्व, वेश्याओं की आवभगत, विमाता की निर्ममता, अध्यापकों की सरलता, शिष्यों की गुरु-भक्ति और उनकी उद्दण्डता, कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय सामाजिक जीवन की कोई ऐसी समस्या नहीं है जो उनकी कहानियों में अभिव्यक्ति का माध्यम न बनी हो। सामाजिक जीवन की समस्याओं के अतिरिक्त 'प्रारब्ध', 'अधिकार', 'चिन्ता', 'लाटरी', 'स्वर्ग की देवी' आदि में उन्होंने मनोदशा का भी सफल चित्रण किया है। पशु तक उनकी कहानी के विषय बने हैं। इस प्रकार उनकी कहानियों का चित्रपट अत्यन्त विशाल है। अपनी कहानियों की रचना में उन्होंने अपने मानवतावादी दृष्टिकोण को प्रधानता दी है, इसलिए उत्पीड़ितों और शोषितों के प्रति उनकी पूरी सहानुभूति है। पापियों के हृदय में भी उन्होंने पुण्यात्मा का दर्शन किया है। साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से उनकी कहानियाँ अछूती हैं। उन्होंने मानवता को परखा है, हिन्दू अथवा मुसलमान को नहीं। वह किसी जाति अथवा धर्म के उपासक नहीं

थे। वह मानवता के उपासक थे। यही उनका धर्म था, यही उनकी जाति थी और इसी के वह कलाकार थे।

(२) उपन्यासकार प्रेमचन्द—उर्दू में पं० रतननाथ सरशार और और हिन्दी में लल्लूलालजी से जिस उपन्यास-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ उसे प्रेमचन्द ने कला और अपनी शैली से बहुत ही ऊँचा उठा दिया। प्रेमचन्द के पूर्व उर्दू तथा हिन्दी-साहित्य में ऐसे उपन्यासों का सर्वथा अभाव था जो टैगोर, ह्यूगो और हार्डी के उपन्यासों के सामने रखे जा सकें और जिन्हें वास्तविक अर्थ में उपन्यास कहा जा सके। प्रेमचन्द ने लगभग एक दर्जन उपन्यास लिखकर इस अभाव की पूर्ति की। उन्होंने अपने उपन्यासों में अपने युग का चित्रण किया। मानव-जीवन की यथार्थ परिस्थितियों का अध्ययन करके उनके आवश्यक अंगों को प्रकाश में लाना ही उपन्यास-लेखक का कार्य होता है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में यही कार्य किया है। उन्होंने अपने देश और समाज की सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक तथा इसीप्रकार की अन्य परिस्थितियों को अपनी सहज बुद्धि से तौल और परख कर बड़े कौशल से चित्रित किया है। इससे उनका प्रत्येक उपन्यास उनके देश और काल का 'अभिनय रंगमंच' बन गया है। सामाजिक और नैतिक दृष्टि से उनके उपन्यासों में क्या नहीं है—यह बताना कठिन है। आप उनका कोई भी उपन्यास उठा लीजिए। उसे पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होगा कि हम कोई फिल्म देख रहे हैं।

प्रेमचन्द ने प्रायः सामाजिक उपन्यास ही लिखे हैं। अपने इन उपन्यासों में उन्होंने युग-धारा के साथ चलने का प्रयत्न किया है। उन्होंने जिस समस्या को उठाया है उसका समाधान उन्होंने अपने युग के अनुकूल ही किया है। हिन्दी में उनका पहला उपन्यास है सेवासदन। इसमें उन्होंने वेश्याओं के सुधार की समस्या उठाई है। इस मूल समस्या के साथ नारी-जीवन की अन्य छोटी-बड़ी समस्याएँ भी संबद्ध हैं। वेश्या-जीवन में 'सुधार' का समाधान प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' की स्थापना-द्वारा

किया है। यह उन पर आर्य समाज का प्रभाव है। जब उन्होंने उपन्यास लिखना आरंभ किया था तब आर्य-समाज के सुधार-कार्य की बड़ी धूम थी। अनमेल विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह, अछूतोद्धार आदि सामाजिक समस्याएँ हिन्दू मस्तिष्क में हलचल उत्पन्न कर रही थीं। प्रेमचन्द भी इन समस्याओं से प्रभावित थे। अतः उन्होंने 'वरदान' में अनमेल विवाह, प्रतिज्ञा में विधवा-विवाह, कर्मभूमि में अछूतोद्धार', निर्मला में दहेज-प्रथा, कायाकल्प में सामाजिक व्याभिचार और प्रेमाश्रम में विदेश-गमन और जाति-पाँति के बन्धन की समस्या उठाई। इस प्रकार उन्होंने अपने युग की सभी राजनीतिक एवं सामाजिक चेतनाओं को अपने उपन्यासों में स्थान दिया। मुख्य समस्या की दृष्टि से यदि देखा जाय तो 'वरदान', 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन', 'निर्मला', 'गबन', और 'गोदान' उनके सामाजिक उपन्यास है, 'प्रेमाश्रम' उनका राजनीतिक उपन्यास है, 'रंगभूमि' एवं कर्मभूमि' सामाजिक राजनीतिक है और 'कायाकल्प' मूलतः सामाजिक होते हुए जन्मजन्मान्तर-सबंधी विलक्षण बातों से भरा है। उनकी अंतिम कृति 'मंगलसूत्र' है। यह उनकी अधूरी रचना है। सम्भवतः इसमें वह अपनी जीवन-गाथा प्रस्तुत करना चाहते थे, परन्तु अपनी कथा कहते-कहते ही वह चिरनिद्रा में मग्न हो गये। अपने उपन्यासों की रचना में उन्होंने जहाँ आर्य-समाज से प्रभाव ग्रहण किया वहाँ उन्होंने गाधीजी की विचार-धारा से भी बहुत कुछ लिया। इन दोनों प्रभावों को उन्होंने अपने मानवतावादी दृष्टिकोण के अनुसार जाँचा और परखा और उसी के अनुकूल अपने कथानक को गतिशील बनाया। वह आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कलाकार थे। उनका कहना था—'इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया है। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं।' उनकी यही दृष्टिकोण उनके उपन्यासों में मिलता है। उनके सभी उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में घटना-सूत्र पात्रों के हाथ में रहता है। पात्र उस घटना-सूत्र पर अपना नियंत्रण रखते हैं। वह उसके साथ

गतिशील नहीं बनते, उन्हें ही गतिशील बनाते हैं। जीवन की परिस्थितियाँ उनके अधिकार में रहती हैं। यही चरित्र-प्रधान उपन्यासों की विशेषता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में सर्वत्र यही विशेषता पाई जाती है। उनके पात्र वर्गवादी हैं। वे अपने वर्ग की समस्याओं के वास्तविक प्रतिनिधि हैं। ऊँचे श्रेणी के पात्रों का चित्रण उनके उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य नहीं है। उन्होंने मध्य और निम्न श्रेणी के पात्रों को ही अपने उपन्यासों में स्थान दिया है। उनके मानसिक जीवन के पात्र अधिक सजीव हैं।

( ) **नाटककार प्रेमचन्द**—नाटककार के रूप में प्रेमचन्द इतने सफल नहीं हो सके जितने कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में। उनके दो नाटक हैं 'करबला' और 'संग्राम'। साहित्य और कला की दृष्टि से इन नाटकों का विशेष महत्त्व नहीं है। इनके बाद उन्होंने स्क्रीन के लिए दो ड्रामे लिखे। इन दोनों ड्रामों के नाम हैं—'मजदूर' और 'शेरदिल औरत'। अजन्ता मोवीटोन ने इन्हें रजत-पट पर प्रदर्शित किया है। इन दोनों ड्रामों से प्रेमचन्द को विशेष स्फूर्ति नहीं मिली। इसलिए उन्होंने इस दिशा में फिर लेखनी नहीं उठाई।

(४) **पत्रकार प्रेमचन्द**—प्रेमचन्द की पत्रकारिता का आरंभ श्री दयानारायण निगम के सम्पादकत्व में निकलनेवाले मासिक उर्दू-पत्र 'ज़माना' से हुआ। इसके पश्चात् वह नवलकिशोर-प्रेस से निकलनेवाले मासिक पत्र 'माधुरी' के सम्पादक (सं० १९८१) रहे। 'माधुरी' का सम्पादन-भार त्यागने (सं० १९८८) के पश्चात् उन्होंने बनारस से हिंदी के दो पत्र निकाले जिनमें से एक था मासिक पत्र 'हंस' और दूसरा था साप्ताहिक पत्र 'जागरण'। इन दोनों पत्रों ने उनके सम्पादकत्व में अच्छी ख्याति प्राप्त की। साप्ताहिक पत्र 'जागरण' तो कुछ दिनों तक चलकर बन्द हो गया, पर 'हंस' अब भी निकल रहा है। इन पत्रों को देखने से ज्ञात होता है कि प्रेमचन्द अपने समय के बहुत सुलझे हुए पत्रकार थे। अपने राष्ट्र और समाज के प्रत्येक पहलू पर वह गंभीर दृष्टि से विचार करते थे और उस पर अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त करते थे। उनका समग्र

राष्ट्रीय उथल-पुथल का समय था। ऐसे समय में वह निर्भीकतापूर्वक तत्कालीन सरकार की आलोचना करते थे। वह उदार पत्रकार, गम्भीर समालोचक और अध्ययनशील साहित्यकार थे। समाचारों का वह बहुत शुद्ध अनुवाद करते थे। 'सुखदास', 'महात्मा शादी' और 'आजाद कथा' का हिन्दी-अनुवाद उन्होंने अपने सम्पादन-काल में ही किया था।

(२) निबन्धकार प्रेमचन्द—निबन्धकार के रूप में भी हम प्रेमचन्द को अत्यन्त सफल पाते हैं। उनके निबन्धों की संख्या अधिक नहीं है, फिर भी उन्होंने जो निबन्ध लिखे हैं उनका एक सग्रह 'कुछ विचार' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें उनके अधिकांश निबन्ध साहित्यिक हैं और उनकी शैली विवेचनात्मक और विचारात्मक है। उनके निबन्धों का एक दूसरा सग्रह 'साहित्य का उद्देश्य' भी मिलता है। इसमें उनके वे निबंध सकलित किए गए हैं जो उन्होंने अपने मासिक पत्र 'हंस' में समय-समय पर लिखे थे। 'साहित्य का उद्देश्य', 'जीवन में साहित्य का स्थान', 'साहित्य का आधार', 'साहित्य में बुद्धिवाद', 'साहित्य में समालोचना', 'साहित्यिक उदासीनता,' 'साहित्य की नयी प्रकृति' आदि उनके साहित्यिक निबन्ध हैं। इनके अतिरिक्त 'उर्दू हिन्दी और हिन्दुस्तानी', 'हिन्दी-उर्दू की एकता' 'राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएँ' आदि उनके भाषा-सबधी निबंध हैं। 'उपन्यास', 'उपन्यास का विषय', 'कहानी कला,' 'हिन्दी गल्प-कला का विकास', 'गल्प-कथाओं का महत्त्व' आदि उनके सैद्धान्तिक समीक्षा के निबंध हैं और 'शिरोरेखा क्यों हटानी चाहिए' उनका लिपि सबंधी निबन्ध है। इस प्रकार उनके निबन्धों के विषय साहित्य और भाषा तक ही सीमित हैं। साहित्यिक निबन्धों में साहित्य के व्यावहारिक मूल्यों पर ही विचार किया गया है। उनमें चिन्तन की गहराई अवश्य है, पर शास्त्रीय व्याख्या का अभाव है। उनमें प्रेमचन्द की अपनी सूझ-बूझ है। उनके विचार उदार, उनका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और उनकी कथन-शैली अत्यन्त सरल है। यही उनके निबंधों की विशेषता है। कुछ निबंध

सामयिक विषयों पर भी मिलते हैं, पर उन्हें निबंध कहना उचित नहीं जान पड़ता। ये टीका-टिप्पणी के रूप में ही लिखे गए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं प्रेमचन्द ने हमें अपनी प्रतिभा का परिचय कई रूपों में दिया, पर वह मुख्यतः उपन्यासकार और कहानीकार ही थे। हिन्दी-कथा-साहित्य के इतिहास में उनके प्रवेश से एक ऐसे युग का आरंभ हुआ जिसने जीवन और साहित्य के बीच के अभाव की पूर्ति की और भविष्य के लिए उसका क्षेत्र विस्तृत कर दिया।

प्रेमचन्द की कला -

कला की दृष्टि से प्रेमचन्द का कथा-साहित्य अपनी उन समस्त विशेषताओं के साथ हमारे सामने आया जिनका उनके पूर्व अभाव था। वह हिन्दी-कथा-साहित्य के प्रथम कलाकार थे। साहित्य में उपन्यास और कहानी कला के मर्म को वह समझते थे। जीवन की विविध समस्याओं की पकड़ और उसकी अभिव्यक्ति में वह कुशल थे। उनके पूर्व अधिकांश घटना-प्रधान उपन्यास ही लिखे जाते थे। इन घटना-प्रधान उपन्यासों में समाज-सुधार, धर्म नीति, सामाजिक आचार आदि की भावना ही रहती थी। ऐसे उपन्यास प्रायः उपदेश ग्रन्थ ही होते थे। तिलस्मी और जासूसी उपन्यास पाठकों के मनोरंजन-मात्र के साधन थे, उनमें जीवन की समस्याएँ नहीं रहती थीं। प्रेमचन्द ने इन परिस्थितियों के बीच अपनी स्वस्थ कला का परिचय दिया। उनकी कला के विभिन्न रूप इस प्रकार हैं :—

(१) **कथावस्तु**—प्रेमचन्द ने अपने कथानक में जीवन के विस्तृत क्षेत्रों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से ग्राम, ग्राम से नगर, नगर से प्रान्त, प्रान्त से देश, इस प्रकार उनकी कथाओं का क्षेत्र क्रमशः विस्तृत होता गया है। इस विस्तृत क्षेत्र में उन्होंने सामाजिक समस्याओं के साथ-साथ राजनीतिक समस्याओं का समावेश इतनी सुन्दरता से किया है कि देश की तत्कालीन स्थिति का वास्तविक चित्र हमारे सामने आ जाता है। विषय की दृष्टि से उनके कथा-साहित्य में सामाजिक भावनाओं की ही प्रधानता है, राजनीतिक और

ऐतिहासिक तत्व गौण हैं। कथावस्तु के अनुसार उनका कथा-साहित्य मूलतः दो प्रकार का मिलता है . (१) घटना प्रधान और (२) चरित्र-प्रधान। घटना-प्रधान कथानक में मूल कथा के अन्तर्गत प्रासंगिक कथाओं का सन्निवेश भी हुआ है, पर इस दिशा में प्रेमचन्द को सर्वत्र पूरी सफलता नहीं मिली है। कहीं-कहीं व्यर्थ की ठूँस-ठास से उनके कथानक में आवश्यकता से अधिक विस्तार आ गया है और उनका प्रवाह मन्द हो गया है। आकर्षक घटनाओं के संकलन, चयन और उनके सुसम्बद्ध आयोजन में घटना-प्रधान-कथा-साहित्य की सफलता का रहस्य निहित रहता है। प्रेमचन्द इस दिशा में आंशिक सफल हुए हैं। चरित्र प्रधान-कथानक घटना-प्रधान-कथा-साहित्य की अपेक्षा अधिक कलापूर्ण होता है। इस प्रकार की कथाओं में बहिर्जगत का चित्रण कम, अन्तर्जगत का चित्रण अधिक रहता है। प्रेमचन्द ने अपनी चरित्र-प्रधान कथाओं में मानव को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उसके अन्तर्जगत का, उसकी अनुभूतियों एवं उसकी आशा-निराशा का विश्लेषण बड़े कौशल से किया है। इस दिशा में वह अपने घटना-प्रधान-कथानकों की अपेक्षा अधिक सफल हैं।

'रंगभूमि' का कथानक कला की दृष्टि से अत्यन्त सजग है। इसमें प्रेमचन्द ने औद्योगिक सभ्यता के दोषों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया है। आर्थिक दृष्टि से यही उनके युग की मूल समस्या थी और आज भी है। यही उनके युग का प्रतिनिधि उपन्यास है। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम,' 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' के कथानकों में वह हृदय-मथन और मस्तिष्क का चिन्तन नहीं है जो 'रंगभूमि' के कथानक में है। 'रंगभूमि' के बाद प्रेमचन्द का दूसरा उपन्यास 'ग़बन' है। 'ग़बन' का कथानक 'पारिवारिक जीवन का मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत करता है। इसमें 'पति-पत्नी के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक है। पत्नी आभूषण-प्रिय है और पति आत्मदर्शी। विषय आकर्षक और सजीव है, परन्तु इसके साथ कुछ प्रासंगिक कथाएँ भी हैं जो अजागल की भाँति लटकी हुई प्रतीत होती हैं। मूल कथानक के विकास में उनसे विशेष सहायता नहीं मिलती।

उदाहरण के लिए 'रतन की कथा'। प्रेमचन्द की उपदेशात्मक प्रवृत्ति भी इसमें खटकती है। 'गोदान' का कथानक ठोस और प्रौढ़ है। इसमें प्रेमचन्द के समस्त जीवन-अनुभव ने उपन्यास का रूप धारण कर लिया है। मूल अथवा आधिकारिक कथा में 'होरी' का चरित्र अत्यन्त प्रशंसनीय है। प्रासंगिक कथा में नागरिक जीवन के चित्र हैं। इस प्रकार कथानक की दृष्टि से उनके तीन उपन्यास 'रंगभूमि,' 'गबन' और 'गोदान' ही उत्कृष्ट हैं। इनमें भी अन्य उपन्यासों की भाँति आधिकारिक कथा के साथ इतनी प्रासंगिक कथाओं का मेल बैठाया गया है कि कभी-कभी, उनमें जी ऊब जाता है। प्रेमचन्द का अनुभव अत्यन्त विस्तृत था। उपन्यास लिखते समय वह अपने उस अनुभव का लोभ संवरण नहीं कर सकते थे। इससे उनके उपन्यास उनकी युग की समस्याओं के कोष बन गये, उनके कथानकों का कलेवर बढ़ गया, उनमें उपदेशात्मक प्रवृत्ति आ गयी और इन सब के कारण कथानक का उत्तरार्द्ध शिथिल हो गया।

(२) **कथोपकथन** – कथा-साहित्य में कला की परख का दूसरा स्थान कथोपकथन का है। कथोपकथन ही कथा-साहित्य का आकर्षक स्थल होता है। इसी से कथानक में गतिशीलता आती है और पात्रों के चरित्र का विकास होता है। प्रेमचन्द के कथोपकथन में इन दोनों प्रकार की विशेषताओं के साथ-साथ नाटकीय छटा भी है। उनके कथोपकथन पात्र, देश, काल, परिस्थिति, स्वभाव तथा रुचि के अनुकूल होते हैं। वह शिक्षित-अशिक्षित, राजा रंक, सेठ-मजदूर, सबके मुँह से मर्यादानुकूल उन्हीं की भाषा में बात-चीत कराते हैं। इसके साथ ही वह कथोपकथन की सुसम्बद्धता, उसकी शृंखला और उसके निरन्तर स्वरूप का भी ध्यान रखते हैं। कहीं-कहीं आवेश में आने पर वह अनियन्त्रित भी हो गए हैं और आवश्यकता से अधिक विस्तार में चले गए हैं, पर ऐसे स्थल कम ही हैं। जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ पात्रों के चरित्र-चित्रण में बाधा पहुँची है और घटनाओं के प्रतिपादन में शिथिलता आ गयी है। उस समय वह कथाकार न होकर उपदेशक बन गए हैं।

(३) **चरित्र-चित्रण**—प्रेमचन्द ने अपने पात्रों का संकलन वास्तविक जीवन के विभिन्न वर्गों से किया है। इसलिए उनके पात्र वर्गवादी हैं। वे अपना नहीं, अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी आवश्यकताएँ उनके वर्ग की आवश्यकताएँ हैं, उनकी समस्याएँ उनके वर्ग की समस्याएँ हैं। व्यक्तिगत रूप से उनका कोई महत्व नहीं है। उनके पात्रों में मजदूर, किसान, पूँजीपति, जमींदार, महन्त, कवि, लेखक, विद्यार्थी, अध्यापक, डाक्टर, वैद्य, मूर्ख, पण्डित, चमार, धोबी, मेहतर, शराबी, सन्त, दुर्जन, भिखारी, चपरासी, क्लर्क, हाकिम, ईमानदार, बेईमान, शूद्र और ब्राह्मण—सबको उचित स्थान मिला है, पर हैं सब वर्गवाद ही। उनके पात्र सभी वर्गों के हैं, सभी जातियों के हैं, सभी दलों के हैं, सभी पेशों के हैं, सभी श्रेणियों के हैं। इन पात्रों के चरित्र-चित्रण में वह यथार्थवाद से आदर्शवाद की ओर गए हैं। पहले उन्होंने अपने पात्रों का यथातथ्य चित्रण किया है और फिर इसके पश्चात् उनके सामने जीवन का आदर्श उपस्थित किया है। चरित्र-चित्रण की यही भारतीय शैली है। कहीं-कहीं इस शैली की अतिरंजना से चरित्रों की स्वाभाविकता में बाधा भी पड़ी है। जहाँ घटना के अनुकूल चरित्र के विकास तथा उसके पथ प्रदर्शन के लिए आदर्श उपस्थित करने की आवश्यकता आ पड़ी है वहीं ही उन्होंने इस परम्परा का पालन किया है। उनकी कई कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें केवल यथार्थ-चित्रण तो है, पर आदर्श का राग नहीं है। ऐसी कहानियाँ मनोविकार-सम्बन्धी हैं। मनोविकार-सम्बन्धी कहानियों में किसी आदर्श-स्थापन की आवश्यकता नहीं होती।

प्रेमचन्द अपने चरित्र-चित्रण में बड़े संयमी हैं। मानव-चरित्र की दुर्बलताओं के अंकन में उन्होंने बड़े संयम एवं नियन्त्रण से काम लिया है। वह कभी उनकी असंयत अवस्था का चित्र उपस्थित नहीं करते, उसका आभास मात्र देते हैं। उनका यही संयम उनके पात्रों को ऊँचा उठाने में समर्थ है। आदर्शोन्मुख कलाकार होने के कारण वह हमें कभी एक निष्पक्ष विचारक के रूप में, कभी निर्देशक के रूप में, कभी पथ-प्रदर्शक और उपदेशक के रूप में और कभी गुरु के रूप में दिखाई देते हैं। वह अपने

पात्रों के सुख-दुःख में द्रवीभूत होकर भी उनसे तटस्थ रहते हैं और दूर से ही उनका पथ-प्रदर्शन करते हैं।

कला की दृष्टि से पात्रों का चित्रण (१) संकेत, (२) वर्णन, (३) संवाद अथवा (४) घटनाओं के विकास द्वारा किया जाता है। प्रेमचन्द ने इन चारों साधनों से अपने पात्रों का चित्रण बड़े कलात्मक ढङ्ग से किया है। संकेत-द्वारा चित्रण उत्तम होता है। इसमें लेखक पात्र की विशेषताओं का उल्लेख करके परिणाम निकालने का भार पाठकों की विचार-शक्ति पर छोड़ देता है। प्रेमचन्द ने इसी शैली से काम लिया है। उन्होंने वर्णन, संवाद तथा घटनाओं द्वारा ही अपने पात्रों का चित्रण अधिक किया है। उनके चरित्र-चित्रण में कृत्रिमता नहीं है, कल्पना नहीं है, सरलता, वास्तविकता, स्वाभाविकता और ईमान्दारी है। उनके सभी पात्र क्रियाशील, सतर्क, अपनी शक्ति और अपनी समस्याओं से परिचित, जागरूक तथा आगे बढ़ने की क्षमता से परिपूर्ण हैं।

(४) वातावरण का चित्रण—प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य में परिस्थितियों एवं वातावरण का चित्रण बड़े कौशल से किया है। उनके प्रायः सभी वर्णन सजीव और पात्रों के चरित्र-विकास में सहायक हैं। कुछ प्रारम्भिक रचनाओं में अस्वाभाविकता अवश्य है, पर इसके कारण अधिक बाधा नहीं पड़ी है। उनके स्थूल वर्णन में ग्रामीण चित्र अधिक हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने मनोभावों के भी बड़े सरल और मार्मिक चित्र उतारे हैं। जिस प्रकार चरित्रों के चित्रण और कथावस्तु के चयन में उन्होंने अपनी परिचयात्मक शक्ति का आभास दिया उसी प्रकार उन्होंने तत्सम्बन्धी वातावरण तथा मनोभावों के चयन एवं चित्रण में अपनी अनुभूति शक्ति और अपनी औपन्यासिक कला का सम्यक् ज्ञान हमें कराया है।

(५) अन्य विशेषताएँ—इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य में उन समस्त विशेषताओं और परम्पराओं को स्थान दिया है जिनके कारण उन्हें लोक-प्रियता मिलती है। उनमें दोष भी हैं, गुण भी हैं। पर दोष इतने कम और गुण इतने अधिक हैं कि

उनकी चकाचौंध में दोषों का पता नहीं चलता। उनका प्रधान दोष है, कहीं-कहीं कथा-वस्तु की महत्ता और वातावरण का अनावश्यक विस्तार। यह उनका स्वभावगत-दोष है। उनके मस्तिक में इतनी घटनाएँ, जीवन के इतने कटु अनुभव भरे पड़े हैं कि उन्हें जब कभी बाहर निकलने का अवसर मिलता है तब वे अनियन्त्रित होकर निकल पड़ते हैं। उनके इस दोष ने पात्रों को दबाया है और कथा के प्रवाह में बाधा पहुँचाई है, परन्तु इस दोष के होते हुए भी वह अपने कथा-साहित्य में अत्यन्त सफल हैं। उसमें भारतीय जीवन का व्यापक दृष्टिकोण है। उसके अध्ययन से ऐसा लगता है कि उन्होंने उपन्यास और कहानियों के रूप में अपने देश का सामाजिक इतिहास लिखा है। यही उनकी कला का महत्व है और इसी महत्व के कारण हम उनके आविर्भाव से हिन्दी के कथा-साहित्य के इतिहास में एक नवीन युग का आरम्भ स्वीकार करते हैं।

प्रेमचन्द पर प्रभाव

अब हमें देखना यह है कि प्रेमचन्द ने जीवन तथा साहित्य के किन-किन क्षेत्रों से प्रभावित होकर अपने कथा-साहित्य को जन्म दिया है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें पहले उनके बौद्धिक वातावरण पर विचार करना होगा। इस सम्बन्ध में हम यह बता चुके हैं कि बचपन से ही उन्हें कहानियों से प्रेम था। वह अपनी दादी तथा माता से खूब कहानियाँ सुनते थे और उन्हें स्मरण रखते थे। इस प्रकार बाल्यावस्था से ही उनके हृदय में कथा-साहित्य के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया था। अपने विद्यार्थी-जीवन में वह बराबर कहानियाँ पढ़ते रहते थे। प० रतननाथ दर का 'फसाना आजाद' उन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवन में ही पढ़ा था। इसके अतिरिक्त 'चन्द्रकान्ता सन्तति' तथा बंकिम की कहानियाँ भी उन्होंने पढ़ी थीं। प० विष्णुनारायण दर तथा डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर के साहित्य से भी वह परिचित थे। भाषा पर अधिकार होने पर उन्होंने टैगोर की कई कहानियों का अनुवाद भी किया था और मौलिक कहानियाँ भी लिखीं थीं। वह अपने विद्यार्थी-जीवन से ही लिखने का अभ्यास करने लगे थे। अपनी तत्कालीन

रुचि के सम्बन्ध में वह स्वयं लिखते हैं—'मौलाना शरर, पं० रतननाथ 'सरशार', मिर्ज़ा रुसवा, मौलवी मुहम्मद अली उस वक्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। इनकी रचनाएँ जहाँ कहीं मिल जाती थीं, स्कूल की याद भूल जाती थी और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता था। उस ज़माने में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। उर्दू में उनके अनुवाद धड़ाधड़ निकल रहे थे और हाथों हाथ बिकते थे। मैं भी उनका आशिक़ था। हज़रत रियाज़ ने, जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि हैं और जिनका हाल में देहान्त हुआ है, रेनाल्ड की एक रचना का अनुवाद 'हरमसरा' के नाम से किया था। उसी ज़माने में लखनऊ के साप्ताहिक 'अवधपंच' के सम्पादक स्वर्गीय मौलाना सज्जाद हुसैन ने, जो हास्य रस के अमर कलाकार हैं, रेनाल्ड के एक दूसरे उपन्यास का अनुवाद 'धोखा' या 'तिलस्मी फ़ानूस' के नाम से किया था। ये सारी पुस्तकें मैंने उसी ज़माने में पढ़ीं और पं० रतननाथ सरशार से तो मुझे तृप्ति ही नहीं होती थी। उनकी सारी रचनाएँ मैंने पढ़ डालीं।' इस प्रकार प्रेमचन्द ने सैकड़ों उपन्यास पढ़े। उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने पुराणों के उर्दू अनुवादों का भी अध्ययन किया। 'तिलस्म होशरुबा' नामक एक तिलस्मी ग्रन्थ के कई भाग भी पढ़े। इन सब का उनपर प्रभाव पड़ा और उनमें औपन्यासिक कला का स्फुरण हुआ।

प्रेमचन्द के कथा साहित्य पर दूसरा प्रभाव है उनकी व्यक्तिगत परिस्थितियों का। उनकी व्यक्तिगत परिस्थितियाँ इतनी संकटापन्न थीं कि वह आरम्भ से अन्त तक उन्हीं से जूझते रहे। उन्हें कभी विश्राम नहीं मिला। लोगों का कहना है कि अपने दुःख-कथन से हृदय का भार हलका हो जाता है। प्रेमचन्द ने यही किया। उन्होंने अपने हृदय की उथल-पुथल को अभिव्यक्ति देने के लिए कथा-साहित्य का आंचल पकड़ा। उनका अपना जीवन ही एक बहुत बड़े उपन्यास का कथानक था। प्रतिदिन उन्हें जो अनुभव होते थे वे इतने मार्मिक होते थे कि कहानी के कथानक बन सकते थे। उनके पास कहने और लिखने के लिए बचपन से ही पर्याप्त सामग्री थी। परिवार की दरिद्रता, माता की मृत्यु, विमाता के दुर्व्यवहार,

विद्यार्थी-जीवन के अनुभव, पति-पत्नी के झगड़े, सौतेले भाइयों के कटु व्यवहार, अध्यापक की कठिनाइयाँ, पत्रकार और लेखक का जीवन—इन सबको प्रेमचन्द ने अपने कथा साहित्य में स्थान दिया। थोड़े शब्दों में हम इसी बात को यों कह सकते हैं कि उन्होंने अपने कथा साहित्य में अपने जीवन को ही खोलकर रखने का प्रयास किया। 'सौतेली माँ', 'अलग्योझा', 'लाटरी', 'बोझ', 'कप्तान साहब', 'कज़ाकी', 'चोरी', 'बूढ़ी काकी', आदि कहानियाँ और 'कर्मभूमि', 'निर्मला' आदि उपन्यास उनकी जीवन परिस्थितियों से ओत-प्रोत हैं। उनके कथा-साहित्य में दलित और पीड़ित वर्ग को जो महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है उस पर उनके जीवन का प्रभाव है और इसी प्रभाव के चित्रण में उनकी प्रतिभा, उनकी कला और उनकी साहित्यिक क्षमता का विकास हुआ है।

प्रेमचन्द के कथा-साहित्य पर तीसरा प्रभाव है मुसलिम-सभ्यता का। वह मुसलमानों के सम्पर्क में भी रहे और उन्होंने आरम्भ से ही उनकी भाषा तथा उनकी सभ्यता का अध्ययन किया। इसे हम बौद्धिक वातावरण का प्रभाव कह सकते हैं। इस प्रभाव के अन्तर्गत ही उन्होंने मुसलमानी सभ्यता का अत्यन्त उज्ज्वल चित्र अपने कथा-साहित्य द्वारा हमारे सामने रखा है और इस क्षेत्र के वह सब से पहले लेखक हैं। 'कर्बला', 'ईदगाह' 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि रचनाओं में मुसलिम संस्कृति का जैसा चित्रण मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। आरम्भ में उर्दू तथा फारसी पढ़ने के कारण मुसलिम संस्कृति से उनका प्रथम परिचय हुआ। यह परिचय अवस्था तथा अनुभूति के साथ-साथ प्रौढ़ होता गया जिसने आगे चलकर उनके विचारों को ही नहीं, उनकी भाषा और शैली को भी प्रभावित किया। उनकी भाषा में जो लोच, जो चुलबुलाहट और जो रवानी, शोख़ी तथा आकर्षण है वह उर्दू की ही देन है।

प्रेमचन्द पर चौथा प्रभाव है बंगला-कथा साहित्य का। हिन्दी कथा-साहित्य के इतिहास के पाठक जानते हैं कि सबसे पहले बंगला-साहित्य ही पाश्चात्य कहानी-कला के सम्पर्क में आया। हिन्दी में गोपालराम

गहमरी के जासूसी-युग के साथ-साथ कई बंगला-उपन्यासों तथा कहानियों का अनुवाद हुआ और उन्हीं के द्वारा हिन्दी-लेखकों को पाश्चात्य कला का परिचय मिला। प्रेमचन्द भी उस कला से प्रभावित हुए। उन्होंने टैगोर की रचनाएँ पढ़ीं और कई कहानियों की रचना की। उन्होंने रवीन्द्र की कई कहानियों का उर्दू में भी अनुवाद किया।

प्रेमचन्द पर पाँचवाँ प्रभाव गाँधीजी की विचार-धारा का है। गाँधीजी के सामाजिक एवं राजनीतिक आन्दोलनों ने उनकी प्रतिभा को, उनकी कथा-सामग्री को और उनके पात्रों को सुचारु रूप दिया है। प्रेमचन्द के पात्रों में जो संयम, जो मानव-प्रेम जो आत्म-निग्रह, जो राष्ट्र-प्रेम, जो त्याग और जो सेवा-भाव है, उस पर महात्मा गाँधी की विचार-धारा का स्पष्ट प्रभाव है।

महात्मा गाँधी के प्रभाव के अतिरिक्त प्रेमचन्द पर छठा प्रभाव आर्य-समाज का भी है। उनके हृदय में पाखण्ड के प्रति जो विद्रोह-भावना और समाज के प्रति जो सुधार की मनोवृत्ति है वह उन्हें आर्य-समाज से ही मिली है। वह सनातन धर्म के पक्षपाती नहीं थे। स्वामी दयानन्द के जीवन और कार्य-प्रणाली के वह प्रशंसक थे। नारी-आन्दोलन-द्वारा वह समाज को स्वस्थ बनाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने विधवा-विवाह का समर्थन किया, पर्दा प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई और अछूतों के कल्याण के लिए मूर्ख पंडितों को फटकार बताई। वह अपने विचारों में उदार थे और इस प्रकार की सामाजिक उदारता उन्हें आर्य-समाज से ही मिली थी।

प्रेमचन्द ने पाश्चात्य साहित्य का भी अध्ययन किया था। उनके समय में जितने प्रसिद्ध उपन्यासकार तथा कहानीकार पाश्चात्य देश में थे-उनके साहित्य से प्रेमचन्द परिचित थे। इसलिए उन्होंने उनकी विशेषताओं को अपनाया। उनके कथा-साहित्य में कहीं 'स्काट' का रंग है, कहीं 'डिकेंस' की शैली है, कहीं 'गो' अथवा 'मोपांसा' का प्रभाव है। 'एच० जी० वेल्स', 'अनातोले,' 'हनियट' आदि की रचना-शैली की छाया भी यत्रतत्र देखी जा सकती है। फ्रांस के लेखकों ने यथार्थवाद, भारतीय साहित्य ने

आदर्शवाद और रूस से पूँजीवाद के विरुद्ध विद्रोह-भावना लेकर उन्होंने अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया था। वह 'टालस्टाय' की रचनाओं से भी बहुत प्रभावित थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द पर पड़े हुए प्रभावों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। बाल्यावस्था में उन्हें जो कहानी-प्रेम बीजरूप में मिला उसे वह बराबर अपने ऊपर पड़े हुए प्रभावों से सींचते रहे। अन्त में वही बीज हमारे सामने विशाल वृक्ष के रूप में आया। आज उसकी प्रत्येक शाखा हमारे लिए महत्त्वपूर्ण और हमारे साहित्य की अमूल्य निधि है।

प्रेमचन्द की भाषा

हम बता चुके हैं कि प्रेमचन्द आरम्भ में उर्दू-साहित्यकार थे। इसलिए हिन्दी-साहित्य में प्रवेश करने पर वह अपने उन समस्त साहित्यिक संस्कारों को अपने साथ लेते आये जिनके कारण उर्दू-साहित्य में उनकी ख्याति थी। हिन्दी के वह पूर्ण पंडित नहीं थे। उसके व्याकरण से भी वह परिचित नहीं थे। उसका उन्हें साधारण ज्ञान था। ऐसी दशा में उन्हें आरम्भ में भाषा सम्बन्धी विशेष कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ा। उन्होंने हिन्दी में उस समय प्रवेश किया जब उसका रूप बहुत कुछ स्थिर हो चुका था। उसमें शिथिलता थी, पर इतनी नहीं जितनी प्रेमचन्द की भाषा में पायी जाती थी। एक भाषा के क्षेत्र को त्यागकर दूसरी भाषा के क्षेत्र को अपनाने के कारण लेखक जो भद्दी भूलें कर बैठते हैं उनसे वह मुक्त नहीं थे। उनकी भाषा का प्रथम रूप इन पंक्तियों में देखिए :—

'फाल्गुन का महीना था। अबीर और गुलाल से जमीन लाल हो रही थी। कामदेव का प्रभाव लोगों को भड़का रहा था। रबी ने खेतों में सुनहरा फर्श बिछा रखा था और खलिहानों से सुनहले महल उठा दिये गये थे।'

यह था प्रेमचन्द की भाषा का प्रारम्भिक रूप। हिन्दी को भाषा का यह रूप ग्राह्य न था। इसमें अरबी-फारसी शब्दों के तत्सम रूपों की प्रधानता थी, मुहावरों का अनुचित प्रयोग था, व्याकरण की अशुद्धियाँ थीं, शब्द-चयन शिथिल और वाक्य-विन्यास प्रवाहहीन था। 'मैं जवाब देते

है', 'इन लोगों से जो भूल-चूक हुई वह क्षमा किया जाय,' 'वह उन्हें समझाते' आदि वाक्यों में शिथिलता तो थी ही, इनकी रचनायें व्याकरण के सामान्य नियमों का भी पालन नहीं किया गया था। 'फुरता-कुरती', 'निरंग,' 'कैफ़ेत' 'कहूथारा' 'गुजरान' 'अवके' आदि अव्यवस्थित, असंगत और अप्रचलित शब्दों के भावहीन प्रयोग भी मिलते थे। वाक्य छोटे, पर शिथिल होते थे। लम्बे वाक्यों में सम्बन्ध-क्रम का निर्वाह बहुत कम पाया जाता था। विरामादि चिह्नों का भी यथोचित प्रयोग नहीं था। इन त्रुटियों के कारण अर्थ-बोध में बड़ी बाधा उपस्थित होती थी और भाषा का रूप विकृत हो जाता था।

प्रेमचन्द की इस भाषा से यह स्पष्ट है कि वह उस समय अपनी उर्दू की भाव-व्यंजना को हिन्दी का चोला पहनाने की प्रबल चेष्टा कर रहे थे। अपनी इस चेष्टा में वह पहले तो सफल न हो सके, पर ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ते गये त्यों-त्यों उनकी भाषा में निखार आता गया और वह अपनी त्रुटियों से परिचित होते गये। इसलिए उन्होंने शीघ्र ही अपनी भाषा का परिष्कार किया। उनकी परिष्कृत भाषा का यह रूप देखिए: —

'मेरी कक्षा में सूर्यप्रकाश से ज्यादा ऊधमी कोई लड़का न था, बल्कि यों कहो कि अध्यापन-काल के दस वर्षों में मुझे ऐसी विषम प्रकृति के शिष्य से साबका न पड़ा था। कपट-क्रीड़ा में उसकी जान बसती थी। ऐसे-ऐसे षड्यंत्र रचता, ऐसे फन्दे डालता, ऐसे बाँधनू बाँधता कि देखकर आश्चर्य होता था।'

यह था प्रेमचन्द की भाषा का दूसरा रूप! उनका यह रूप पहले की अपेक्षा अधिक परिष्कृत तथा परिमार्जित था। इसमें उर्दू शब्दों का प्रयोग तो था, पर बहुत कम। व्याकरण की भद्दी भूलें भी नहीं थीं। शब्द-चयन में प्रौढ़ता तो नहीं आयी थी, पर पहले की अपेक्षा वह अधिक संयत था। मुहावरों के प्रयोग भी शुद्ध नहीं थे। पर इन त्रुटियों के होते हुए भी उनकी भाषा बहुत कुछ सुधर गयी थी। पहले की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का अनाड़ी प्रयोग मिलता था, इसलिए शब्द प्रायः भावहीन होते थे, पर अब वह बात न थी। आगे चलकर इन त्रुटियों का भी परिहार हो

गया और हमें उनकी भाषा का तीसरा रूप देखने को मिला। 'रंगभूमि' की भाषा देखिए :—

'यह सोचता हुआ वह अपने द्वार पर आया।। बहुत ही सामान्य झोंपड़ी थी। द्वार पर एक नीम का वृक्ष था। किवाड़ों की जगह बाँस की टहनियों की एक टट्टी लगी हुई थी। टट्टी हटाई। कमर से पैसों की छोटी पोटली निकाली जो आज दिन भर की कमाई थी।'

प्रेमचन्द की इस भाषा में सौंदर्य और चित्रोपमता है। उनके उपन्यासों में भाषा का यही रूप उनका प्रतिनिधित्व करता है। इसमें उनकी भाषा सम्बन्धी सभी दोषों का परिहार, परिमार्जन एवं परिष्कार हो गया है। इस भाषा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

(१) सरल और सजीव भाषा—प्रेमचन्द व्यावहारिक भाषा के पक्षपाती थे। इसलिए उनकी भाषा में आवश्यकतानुसार विदेशी शब्दों को भी स्थान मिल जाता था। आरंभ में तो नहीं, पर आगे चलकर उन्होंने उर्दू की उन्हीं विशेषताओं को अपनाया जिनकी भाषा की दृष्टि से, हिन्दी में कमी थी अथवा जो खटक नहीं सकते थे। इसके साथ ही उन्होंने हिन्दी की प्रकृति और उसकी विशेषताओं का भी ध्यान रखा। इससे उनकी भाषा प्रवाहपूर्ण और प्रसाद गुणयुक्त, सरल, सजीव और सरस हो गयी थी।

(२) विषय, भाव और विचार के अनुकूल भाषा—प्रेमचन्द की भाषा भावों और विचारों के अनुकूल होती थी। वह गंभीर भाव गंभीर भाषा में और सरल भाव सरल भाषा में व्यक्त करते थे। इससे उनकी भाषा में स्वाभाविक उतार-चढ़ाव बना रहता था। उनकी कहानी और उपन्यास के वक्तव्य-विषय सामाजिक होते थे, इसलिए उनकी भाषा भी सामाजिक होती थी। संस्कृत अथवा उर्दू-फारसी के क्लिष्ट तत्समों का प्रयोग वह आवश्यकतानुसार ही करते थे।

(३) पात्र के अनुकूल भाषा—प्रेमचन्द की भाषा पात्र, समय, स्थान, अवसर और तत्सम्बधी वातावरण के अनुकूल होती थी। उन्होंने अपने कथोपकथन में इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा था। उसमें मुसल-

मानों की भाषा उर्दू और हिन्दू की भाषा शुद्ध हिन्दी है। इसी प्रकार यदि कोई पात्र देहात का रहनेवाला है तो उसकी भाषा ग्रामीण है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रेमचन्द कई प्रकार की भाषा लिख सकते थे। समय, स्थान और वातावरण के अनुसार उनकी भाषा का रूप बदला है। इस प्रकार उनकी भाषा में कहीं फारसी-अरबी के तत्सम शब्दों की प्रधानता है, कहीं संस्कृत के तत्समों का प्राचुर्य है और कहीं दोनों का सुन्दर सम्मिश्रण। उनकी लिखी भाषा में कहीं-कहीं शब्दों के प्रांतीय रूप तथा अँगरेजी के 'गवर्मेंट', 'कोर्ट', 'चार्ज', 'कैरेक्टर' आदि शब्द भी मिलते हैं।

प्रेमचन्द की शैली

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द की भाषा विकासोन्मुखी थी। यही बात उनकी शैली के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। प्रारम्भ में उनकी भाषा की भाँति ही उनकी शैली उखड़ी हुई, शिथिल, प्रवाहहीन तथा प्राणहीन थी, परन्तु ज्यों-ज्यों उनकी भाषा हिंदी-व्याकरण के अनुकूल प्रवाहपूर्ण होती गयी त्यों-त्यों उनकी शैली भी निखरती गयी। अन्त में उनकी शैली के चार रूप हमारे सामने आये: (१) परिचयात्मक, (२) विचारात्मक, (३) भावात्मक और (४) आलोचनात्मक। परिचयात्मक, विचारात्मक, विश्लेषणात्मक, अभिनयात्मक तथा भावात्मक शैलियों का निरूपण उनकी कहानियों एवं उपन्यासों में और उनकी आलोचनात्मक शैली का निरूपण उनके निबंधों में हुआ है। कला की दृष्टि से उन्होंने अपने कहानी-साहित्य में आत्म-कथन-प्रणाली, वर्णनकथन-प्रणाली, डायरी-प्रणाली और पत्र-प्रणाली का अनुकरण किया है। इन की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) **दो शैलियों का समन्वय**—प्रेमचन्द की हिंदी-शैली उर्दू-शैली से प्रभावित है। उनकी शैली हिंदी-उर्दू-शैलियों का सम्मिश्रण है जिसमें प्रधानता हिंदी-शैली की आंतरिक विशेषताओं को ही मिली है। उनकी शैली में जो रवानी, चुलबुलापन और निखार है वह उर्दू के कारण और जो गंभीरता, सजीवता और सरलता है वह हिंदी के कारण। इस प्रकार उनकी

शैली में दोनों शैलियों की विशेषताओं के सुन्दर समन्वय से विशेष चमत्कार और आकर्षण आ गया है। उनकी-सी शैली हिंदी में किसी की नहीं है।

(२) सरलता और सजीवता—प्रेमचंद की शैली सरल और सजीव है। उन्होंने वक्तव्य-विषय और तत्सम्बन्धी भावों के अनुकूल अपनी शैली के रूप में आवश्यकतानुसार ही परिवर्तन किया है। हिंदी उर्दू के शब्द-भांडार पर उनका इतना अधिकार था कि भावों को सरलतम रूप देने में उन्हें सरल और उपयुक्त शब्द शीघ्र मिल जाते थे। कथन की क्लिष्टता उनमें नहीं थी। वह सरलतम ढंग से अपनी बात कहते थे।

(३) आलंकारिकता—प्रेमचंद ने अपनी शैली में भाषा का आलंकारिक प्रयोग भी किया है। ऐसा उन्होंने अपने विचारों को स्थूल रूप देने और अपने वक्तव्य-विषय को अधिक प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से किया है। 'जैसे, 'तैसे' 'मानो' आदि शब्दों के प्रयोग से उनकी भाषा में लालित्य आ गया है।

(४) चित्रोपमता—चित्रोपमता प्रेमचंद की शैली का विशेष गुण है। पात्रों की परिस्थितियों तथा उनके कार्य-कलापों के चित्रण में उनका शब्द-चयन बड़ा सहायक होता है। वह उसकी सहायता से प्रत्येक परिस्थिति का चित्र एक चित्रकार की भांति बड़े कौशल से उतारते हैं। उस समय उनकी लेखनी तूलिका का काम करती है और पात्र का प्रत्येक कार्य हमारी आँखों के सामने चित्र की भाँति आता रहता है।

(५) प्रभावोत्पादकता—प्रेमचंद की शैली में प्रभावोत्पादकता भी है। समाज की दीन-हीन दशा से प्रभावित होकर जब वह अवसरानुकूल अपने हृदय के उद्गारों को व्यक्त करना चाहते हैं तब उनकी शैली में इस विशेषता का प्रादुर्भाव होता है। उनकी कहानियों तथा उनके उपन्यासों में ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं जहाँ इस विशेषता ने उनकी शैली में संजीवनी-शक्ति का काम किया है।

(६) अभिनयात्मकता—प्रेमचन्द की शैली की यह विशेषता उनके कथोपकथन में पायी जाती है। उनके कथोपकथन में नाटकीय कला का

अग्र रहता है। ऐसे अवसर पर उनकी भाषा बड़ी सरलता से एक हृदय का भाव दूसरे हृदय तक पहुँचा देती है। उस समय उसका प्रवाह जितना प्रखर होता है, उतना ही गंभीर भी होता है।

(७) हास्य और व्यंग—प्रेमचन्द की शैली में हास्य और व्यंग का भी पुट रहता है। सामाजिक कुरीतियों, राजनीतिक चालों, धार्मिक पाखंडों तथा नैतिक ह्रासों के चित्रण में उन्होंने हास्य और व्यंग से बहुत काम लिया है। उनका व्यंग्य मार्मिक होता है, तीर की भाँति नुकीला नहीं होता। उसमें सर्वत्र मिठास बनी रहती है। पाठक उसे समझकर खुश हो जाता है, आह नहीं करता।

(८) मुहावरे और सूक्तियाँ—प्रेमचन्द की शैली में मुहावरों और सूक्तियों का भी प्रयोग मिलता है। मुहावरों पर उनका पूरा अधिकार है। उनकी आत्मा से भी वह भलीभाँति परिचित हैं। इसलिए उन्होंने खुलकर उनका प्रयोग किया है। मुहावरों की भाँति उनकी सूक्तियाँ भी मार्मिक हैं। उनकी सूक्तियाँ अनुभूतिमूलक और मर्मभेदी होती हैं। 'प्रेम हृदयों को मिलाता है, देह पर उसका वश नहीं चलता।'—एक सूक्ति है। इसमें मुहावरों का प्रयोग सोने में सुगन्ध का काम करता है।

(९) व्यक्तित्व की छाप—प्रेमचन्द की शैली की यह अन्तिम और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है। उनकी शैली उनके व्यक्तित्व के संसर्ग से सजीव हो उठी है। वह लाखों में अपनी विशेषता के कारण शीघ्र पहचाने जा सकते हैं।

हिन्दी में प्रेमचन्द का स्थान

इस प्रकार प्रेमचन्द हिन्दी-कथा-साहित्य के उपवन में एक युग प्रवर्तक कलाकार थे। देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी तथा गोपालराम गहमरी के पश्चात् हिन्दी में प्रेमचन्द को ही यश मिला। प्रेमचन्द एक नयी कला लेकर सामने आये। उन का निर्माण सामाजिक और राजनीतिक हलचल में हुआ था। इसलिए वह जीवन के प्रत्येक छोर को छूने तथा उसका वास्तविक चित्रण करने में सफल हो सके। उनके सामने वर्तमान

समाज की विशाल पुस्तक थी। उन्होंने उसके प्रत्येक पृष्ठ को उलट-पुलट कर देखा और उसका गंभीर अध्ययन किया। इस अध्ययन को कथा का रूप देने में उन्होंने आर्य-समाज से सुधारवादी भावना, गांधीजी से सेवा एवं त्याग की भावना, भारतीय संस्कृति से मानव-धर्म की भावना तथा टालस्टाय से आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की भावना ग्रहण की और इन सब भावनाओं को उन्होंने पाश्चात्य कला के साँचे में ढालकर एक ऐसी भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति की जो सरल, सुबोध, सजीव और उर्दू-हिन्दी की विशेषताओं से परिपूर्ण थी। इसलिए उनका साहित्य संगम के जल से कम महत्वपूर्ण नहीं है। उसमें अनुभूतियों का संगम है, आदर्शों का संगम है, सामाजिक प्रवृत्तियों का संगम है, मानव की आशा-आकांक्षा का संगम है, दो सभ्यताओं और दो संस्कृतियों का संगम है। गंगा और यमुना की भाँति इसकी धाराएँ भिन्न-भिन्न नहीं हैं, वे मिलकर एक रंग हो गयी हैं। यही प्रेमचन्द के साहित्य का सौंदर्य है।

प्रेमचन्द अपने समय की उपज थे। उनकी जीवन की परिस्थितियों ने उनके व्यक्तित्व का निर्माण किया था। उनमें जो स्वतन्त्रता-प्रेम था, जो आत्म-सम्मान और स्वाभिमान की भावना थी, जो त्याग और सेवा की लगन थी वह सब उनके समय की देन थी। जीवन की खुली पुस्तक से ही उन्होंने अपने कथा-साहित्य की सामग्री एकत्र की थी। वह काल्पनिक नहीं थे। उनका कहना था—'कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है। उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें यह निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की है या अपने पात्रों की ज़बान से वह खुद बोल रहा है।' प्रेमचन्द के इस कथन से उनके साहित्य का आदर्श स्पष्ट हो जाता है।

प्रेमचन्द की कथाओं का आधार मुख्यतः सामाजिक है। सामाजिक घटनाओं के संकलन एवं सम्पादन में ही उनकी प्रतिभा का विकास हुआ है। उनके पात्र नये और जीवन के प्रति आस्था रखनेवाले हैं। उन्हें

अपने परिवार से, अपने समाज से और अपने देश से मोह है। उनमें विरक्ति-भावना नहीं है। उनमें संयम और नियंत्रण है। वे अपनी परिस्थितियों से जूझनेवाले हैं, उनसे भागनेवाले नहीं हैं। वे अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व भी बड़े कौशल से करते हैं। उनमें दुर्बलताएँ हैं, पर ऐसी नहीं जो समाज को छिन्न-भिन्न कर दें, उनमें वासना है, पर ऐसी नहीं जो समाज की रीढ़ तोड़ दे, उनमें लालसा है, पर ऐसी नहीं जो समाज को विकृत कर दे। ऐसे ही सुन्दर पात्रों और उनकी ऐसी ही मनोवृत्तियों के बीच उनके चरित्र का विकास है। हिन्दी-कथा-साहित्य में हम इन बातों के लिए प्रेमचन्द के ही ऋणी हैं।

कलाकार की दृष्टि से भी प्रेमचन्द अपने युग की विभूति हैं। उनकी भाषा में, उनकी शैली में, उनकी कथन प्रणाली में अपनत्व है। वह किसी से प्रभावित होकर नहीं लिखते थे। उनके पास इतनी सामग्री, जीवन की अनुभूतियों का इतना प्रचुर भंडार था कि वह उन्हें रिक्त न कर पाते थे। नयी अनुभूतियों के लिए उनके हृदय का द्वार सदा खुला रहता था। इसलिए उन्होंने किसी से कभी कथा की सामग्री उधार नहीं माँगी। वह सदा नयी-नयी रचनाएँ लेकर ही हमारे सामने आते रहे। विषयों की भाँति ही उनकी रचना-शैली में भी नवीनता रही। उन्होंने हिन्दी में प्रचलित उन सभी पद्धतियों का अनुसरण किया जिनके आधार पर हिन्दी कथा-साहित्य का निर्माण हो रहा था। ऐसी पद्धतियाँ थीं—आत्मकथन प्रणाली, ऐतिहासिक प्रणाली, कथोपकथन प्रणाली, डायरी-प्रणाली और पत्र-प्रणाली। इन प्रणालियों में प्रयोग कर उन्होंने कथानक की गतिशीलता पर ध्यान रखने के साथ-साथ पात्रों के चरित्र-चित्रण पर भी ध्यान रखा। इस प्रकार प्रेमचन्द अपने युग के सफल कलाकार और हिन्दी में कलात्मक कथा-साहित्य के जनक थे।

: १२ :

अध्यापक पूर्णसिंह

जन्म सं० १९३८ : मृत्यु सं० १९८८

जीवन-परिचय

अध्यापक पूर्णसिंह का जन्म सीमाप्रान्त के ऐबटाबाद जिले के एक गाँव में सं० १९३८ में हुआ था। उनके पिता एक साधारण सरकारी नौकर थे। वर्ष के अधिकांश भाग में सीमाप्रान्त की पहाड़ियों पर वह दौरा करते थे और फसल तथा भूमि-सम्बन्धी कागज-पत्रों की देख-रेख किया करते थे। इस प्रकार घर-गृहस्थी की देख-रेख का कुल भार पूर्णसिंह की माता पर था। पूर्णसिंह की माता अत्यन्त धर्मपरायणा, साध्वी और साहसी महिला थीं। उनके सात्विक जीवन का बालक पूर्णसिंह पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उन्हीं के उद्योग और प्रयत्न से रावलपिंडी के एक स्कूल में पूर्णसिंह की शिक्षा आरम्भ हुई। रावलपिंडी में पूर्णसिंह अपनी माता के साथ रहते थे। पढ़ने-लिखने में वह अधिक तेज न थे, पर मन लगाकर परिश्रम करने से वह स्कूल की परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाते थे। वहाँ से एंट्रेंस पास करने के पश्चात् आगे पढ़ने के लिए वह लाहौर गये। वहाँ अभी वह ग्रेजुएट भी न हो पाए थे कि उन्हें जापान जाने के लिए राजकीय छात्रवृत्ति मिली। इसलिए सं० १९५७ में वह जापान चले गये। वहाँ तीन वर्ष रहकर उन्होंने इम्पीरियल यूनीवर्सिटी में व्यावहारिक रसायन शास्त्र का अध्ययन किया। वहीं स्वामी रामतीर्थ (सं० १९३०-६३) से उनकी भेंट हुई। स्वामी रामतीर्थ अपने समय के प्रसिद्ध वेदान्ती थे। उनके व्याख्यान बड़े मार्मिक होते थे। अध्यापक पूर्णसिंह उनके व्याख्यानों से बहुत प्रभावित हुए और वेदान्ती हो

गये। इस सम्बन्ध में अध्यापक पूर्णसिंह स्वयं लिखते हैं—"इसी समय जापान में एक भारतीय सन्त से, जो भारतवर्ष से आया था, मेरी भेंट हो गयी। उन्होंने मुझे एक ईश्वरीय ज्योति से स्पर्श किया और मैं सन्यासी हो गया। मगर मैं देखता हूँ कि उन्होंने मेरे हृदय में अनेक भाव, जिनके लिए भारत के आधुनिक साधु बहुत कम हैं, भर दिए, जैसे राष्ट्र का निर्माण, भारत की महत्ता को जाग्रत करना और कर्म में निरत रहना। यद्यपि मैं जीवन की व्यर्थ की बातों में आकर्षित नहीं होता था, तथापि जिसने मुझे आत्मज्ञान की इतनी बातें बताई थीं, उनकी आज्ञा शिरोधार्य करने में अपनी रसायन की पुस्तकें फेंक-फांक कर भारत की ओर चल दिया।"

भारत में आकर सरदार पूर्णसिंह कुछ दिनों तक संन्यासी-वेश में रहे। अन्त में उन्होंने गृहस्थाश्रम-धर्म का पालन करना उचित समझा। उनका विवाह हुआ। इसके बाद उन्होंने देहरादून के इम्पीरियल फारेस्ट इन्स्टीट्यूट में नौकरी कर ली। वह केमिस्ट थे और ७०० रु० मासिक वेतन पाते थे। पर सन्त-स्वभाव होने के कारण उनके वेतन का अधिक भाग साधु-सन्तों की सेवा तथा अतिथि-सत्कार में ही व्यय हो जाता था। उनकी पत्नी घर का सब काम अपने हाथों करती थीं। इस प्रकार गार्हस्थ्य-जीवन में प्रवेश करने पर भी स्वामी रामतीर्थ के वेदान्तिक सिद्धान्तों का प्रभाव उन पर बना ही रहा। पर आगे चलकर यह स्थायी रूप ग्रहण न कर सका। उन दिनों (सं० १९७१) देहली षड्यन्त्र का मुकदमा चल रहा था। इस मुकदमे के निर्णयानुसार मास्टर अमीरचन्द को फाँसी की सजा दी गई। मास्टर अमीरचन्द अध्यापक पूर्णसिंह के गुरु-भाई थे। इसलिए सबूत या सफाई में अध्यापक पूर्णसिंह बुलाए गये। उस समय देश की दशा कुछ और थी। बहुत से निरपराध व्यक्ति भी ऐसे मुकदमों की लपेट में आ जाते थे। ऐसी दशा में पूर्णसिंह के फँस जाने की पूरी संभावना थी। फलत: उनके मित्रों ने मास्टर अमीरचन्द और स्वामी रामतीर्थ के सिद्धान्तों से अपना सम्बन्ध विच्छेद करने की सलाह दी। विवश होकर सरदार पूर्णसिंह ने अदालत में उनके विरुद्ध ही अपना बयान दिया। इस प्रकार रामतीर्थ के वेदान्तिक

सिद्धान्तों से उनका सम्बन्ध छूट गया और वह एक सिख-साधु के प्रभाव में आ गये। उस साधु ने उनका जीवन ही पलट दिया।

उपर्युक्त घटना के पश्चात् अध्यापक पूर्णसिंह देहरादून में अधिक दिनों तक नहीं रहे। फारेस्ट इन्स्टीट्यूट के प्रिंसिपल से उनकी पटरी नहीं बैठती थी। इसलिए उन्होंने नौकरी छोड़ दी और ग्वालियर चले गये, पर वहाँ भी वह अधिक समय तक न रह सके। ग्वालियर से वह पंजाब के अन्तर्गत जड़ाँवाला गये और वहाँ उन्होंने कृषि-कार्य आरम्भ किया। अपने अन्तिम जीवन में उन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ा। उनका देहान्त ३१ मार्च सन् १९३१ (सं० १९८८) को हुआ।

पूर्णसिंह की रचनाएँ

अध्यापक पूर्णसिंह हिन्दी-प्रेमी थे। जापान में रसायन शास्त्र का अध्ययन करते हुए भी वह हिन्दी को न भूल सके। उन्हें संस्कृत-साहित्य का भी अच्छा ज्ञान था। हिन्दी में वह निबन्धकार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। गुलेरीजी की भाँति उनकी भी रचनाएँ अत्यन्त कम हैं, पर उन्हीं के बल पर उन्होंने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। उनके अबतक केवल छः निबन्ध मिले हैं : (१) कन्यादान या नयनों की गंगा, (२) पवित्रता, (३) आचरण की सभ्यता, (४) मजदूरी और प्रेम, (५) सच्ची वीरता तथा (६) अमरीका का मस्त जोगी वाल्ट ह्विटमैन। उनके ये निबन्ध हिंदी में अमर हैं।

पूर्णसिंह की गद्य-साधना

पूर्णसिंह हिंदी के उच्च कोटि के निबन्धकार थे। उन्होंने बहुत कम लिखा, पर उनसे हमें जो कुछ मिला वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। हिंदी में उनके छः निबन्ध हैं। इन निबन्धों से हमें उनकी प्रतिभा, उनकी योग्यता तथा उनकी विचार-धारा का अच्छा परिचय मिल जाता है। उनमें भावुकता अधिक थी। इतिहास के वह अच्छे पंडित थे। सभी धर्मों के प्रति उनके हृदय में आस्था थी। भारतीय संस्कृत एवं सभ्यता के वह पोषक थे। इसलिए उनके निबन्ध भारतीय सभ्यता के

साँचे में ढले हुए होते थे। वह अपने विषय की सीमा के भीतर ही अपने विचारों को इतना स्पष्ट, इतना संयत और इतना भावपूर्ण रूप देते थे कि उनका हृदय पर सीधा प्रभाव पड़ता था। किसी बात को किस ढंग से कहना चाहिए, इस कला में वह मनीषी थे। इसीलिए उनके निबन्ध प्रभावोत्पादक होते थे। उनकी निबन्ध-पटुता अद्वितीय थी। अपने विषय के अनुकूल वह ऐसे विचारों, ऐसे भावों और ऐसी ऐतिहासिक घटनाओं का चयन करते थे जिनके सरल निर्वाह से उनके निबन्धों में जान आ जाती थी। भावावेश में आने पर ही वह निबन्ध लिखते थे। इसलिए उनके तर्क भावों का परिधान पहनकर सजीव हो उठते थे और पाठक को अपने में तन्मय कर लेते थे।

पूर्णसिंह के निबन्ध मुख्यतः भाव-प्रधान हैं जो विचार और तर्क के साथ-साथ भावों से भरे हुए हैं ऐसे निबन्धों में धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारों की गम्भीर शैली में विवेचना की गयी है। गांधीजी के युग-धर्म की भी उन पर छाप है। किसान और मजदूरों से भी वह प्रभावित हैं और उनके साथ उनकी पूरी सहानुभूति है। भावों को क्रम देने और उनका स्पष्टीकरण करने में वह अपने समय के अन्यतम् कलाकार हैं। उनके निबन्धों का आकार-प्रकार भी अपनी सीमा के भीतर सरल है। उन्हें पढ़ने से हमारा जी नहीं उकताता, उनमें एक प्रकार की तरलता, सरसता और सजीवता है जिसमें हमारा हृदय तन्मय हो जाता है।

अप्रत्यक्ष पूर्णसिंह के निबन्धों पर पाश्चात्य निबन्ध-कला का स्पष्ट प्रभाव है। पाश्चात्य निबन्ध-कला के अनुसार लघुता निबन्ध की एक ऐसी विशेषता है जिसके द्वारा पाठक थोड़े समय में किसी समस्या से सम्बन्ध रखनेवाले मुख्य विचार अथवा विचारों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ऐसी स्थिति में उसका स्वतः पूर्ण और प्रभावशाली होना भी वाञ्छनीय है। विचारों की रूक्षता एवं गम्भीरता दूर करने के लिए यत्र-तत्र प्रसङ्गानुसार हास्यविनोद और व्यङ्ग का उचित आयोजन उसे प्रभावशाली रोचक एवं सजीव बनाने में अधिक सफल होता है। विचारों की व्यवस्थित शृङ्खला

उसके लिए आवश्यक नहीं है। शिथिल विचार-शृंखला उसकी आत्मा के अधिक निकट है। इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें विचार-सूत्र का अभाव रहता है। विचार-सूत्र उसमें रहता है, पर उस विचार-सूत्र में इतना तनाव नहीं रहता कि वह निबन्धकार की व्यक्तिगत रुचि तथा हास्य एवं व्यङ्ग के कोमल झोंकों का स्पर्श पाकर तार की भाँति झंकृत हो उठे और टूट जाय। कहने का तात्पर्य यह कि उसमें विचार-सूत्र का फैलाव ऐसे कलात्मक ढङ्ग से किया जाय कि यदि लेखक विषयान्तर भी हो जाय तो वह मूल विचार-सूत्र को जब चाहे तब लपक कर पकड़ ले। अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्ध इन विशेषताओं से परिपूर्ण हैं। उनके निबन्धों में सहृदयता, सरलता, सम्भाषण-चातुर्य, हास्य-व्यङ्ग, विषय की पकड़, प्रसङ्ग-गर्भत्व, भावोत्कृष्टता, भाषा-शैली की चुस्ती—सब कुछ एक साथ देखने को मिलती है।

पूर्णसिंह 'द्विवेदी-युग' के निबन्धकार हैं। इसलिए उनके निबन्धों पर उस युग के नैतिकतापूर्ण आचार का स्पष्ट प्रभाव है। उनके निबंध 'लोक-मङ्गल' की उच्च भावना से ओत प्रोत हैं। अपने निबंधों में उन्होंने जीवन के व्यावहारिक मूल्यों पर ही विचार किया है। जाति, धर्म और देश की सङ्कुचित सीमाओं से ऊपर उठकर उन्होंने सत्य, अहिंसा, त्याग, प्रेम, उदारता, आदि उच्च गुणों की प्रतिष्ठा की है और व्यावहारिक जीवन में उनकी ओर सङ्केत किया है। वह मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने के पक्षपाती हैं। वह मानव-मानव के बीच त्याग और प्रेम को महत्व देते हैं। आडम्बर, पुस्तकों में वर्णित आदर्श और ज्ञान तथा कल्पना के हवाई महलों में उनका विश्वास नहीं है। वह जीवन में श्रम का महत्त्व स्वीकार करते हैं। किसानों और श्रमिकों का जीवन उनके लिए आदर्श जीवन है। दान, ब्रह्मचर्य, जप, तप के कोरे उपदेश उनके लिए ढोल के भीतर पोल हैं। वह चाहते हैं—मनुष्य सक्रिय हो, कर्त्तव्य परायण हो, परिश्रमशील हो, उदार हो, त्यागी हो, प्रेमी हो। एक शब्द में वह स्वामी रामतीर्थ के 'नक़द धर्म' के समर्थक हैं। उनके सभी निबन्ध इसी भावना से भरे हुए हैं। अपनी

इस भावना को पुष्ट करने के लिए उन्होंने अपने निबन्धों में स्थान-स्थान पर सामाजिक, धार्मिक, पौराणिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भों की अत्यन्त सुन्दर योजना की है जिससे उनकी निबन्ध पटुता और अध्ययनशीलता का परिचय मिलता है।

पूर्णसिंह की भाषा

पूर्णसिंह की भाषा शुद्ध हिन्दी खड़ीबोली है। उन्होंने संस्कृत शब्दों का तत्सम रूप में प्रयोग किया है और उनकी शुद्धता की ओर विशेष ध्यान दिया है। इनके अतिरिक्त उर्दू के शब्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया है। 'हके', 'दरवेशी', 'बेसरोसामान', 'शिकारी' 'दीदार' आदि ऐसे ही शब्द हैं। कहीं कहीं 'मार्च', 'वालंटियर' 'ट्रेनिंग' आदि अँग्रेजी के शब्द भी मिलते हैं। इन विदेशी शब्दों के प्रयोग में उन्होंने बड़ी सतर्कता से काम लिया है। इससे उनकी भाषा में अबाध प्रवाह है।

पूर्णसिंह की भाषा के दो रूप हैं : (१) साधारण और (२) क्लिष्ट। कथानक के वर्णन में उनकी भाषा का रूप साधारण रहता है और उसमें वह उर्दू, अँगरेजी तथा संस्कृत के चलते हुए शब्दों का प्रयोग करते हैं, पर जहाँ उनकी रचना विचार-प्रधान होती है वहाँ उनकी भाषा क्लिष्ट हो जाती है। भाषा के इन दोनों रूपों पर उनका पूरा अधिकार है। उनकी भाषा प्रौढ़, संयत, परिमार्जित एवं व्याकरण के नियमों के अनुकूल है। कहीं-कहीं व्याकरण की भूलें भी हैं। लगता है, ऐसा भावावेश के कारण ही हुआ है।

पूर्णसिंह की शैली

शैली की दृष्टि से पूर्णसिंह की रचनाओं में कई विशेषताएँ पाई जाती हैं। उनकी शैली की प्रथम विशेषता है—साधारण वाक्य लिखकर उसके तोड़-जोड़ के कई वाक्य उपस्थित कर देना। इस शैली के वह स्वयं जन्मदाता हैं। इस शैली के अनुसरण से उनकी भाषा अधिक चमत्कृत और आकर्षक हो गयी और उसमें काव्यमय प्रवाह आ गया है। देखिए—

'इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत को अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है, विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्र-कला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनानेवालों के सामने नए कपोल, नए नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।'

इस अवतरण से उनकी शैली की दूसरी विशेषता भी सामने आ जाती है और वह है—उनकी भावनाओं का रहस्यमय रूप। उनके शब्द-चयन में लाक्षणिक विलक्षणता रहती है और भाव-व्यञ्जना अनूठी और दूर तक बढ़ी हुई होती है। 'नाद करता हुआ भी मौन है', 'मौन व्याख्यान' 'मौन राग' आदि वाक्यों तथा पदों में विशेषण और विशेष्य के विरोधाभास का विलक्षण प्रकार मिलता है। निर्जीव में सजीवता का आभास उनकी रचना-शैली में विशेष आकर्षण और प्रवाह उपस्थित करता है। इस प्रकार उन्होंने अपनी भावनाओं और अपने विचारों को सुन्दर लाक्षणिक शब्दों-द्वारा रहस्यमय रूप देकर एक नयी शैली की उद्भावना की है।

उनकी शैली की तीसरी विशेषता है—व्यङ्ग का पुट। उन्होंने अपनी शैली में व्यङ्गात्मक पदों तथा वाक्यों-द्वारा विशेष आकर्षण और चमत्कार उत्पन्न किया है। इन वाक्यों में उनकी शैली का मार्मिक व्यङ्ग देखिए :—

'यह वह आम का पेड़ नहीं है जिसको मदारी एक क्षण में तुम्हारी आँखों में धूल झोंक अपनी हथेली पर जमा दे।

× × ×

'परंतु अँगरेजी भाषा का व्याख्यान चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस के पंडितों के लिए रामरौला ही है।

इन वाक्यों से उनके कथन की व्यङ्गात्मक प्रणाली का अच्छा उदाहरण मिल सकता है। इनमें उनका शब्द-चयन भी देखने योग्य है। अपने भावों को तीव्रतर करने और उन्हें आकर्षक एवं चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए ही उन्होंने अपनी शैली में इन विशेषताओं का सन्निवेश किया है।

उनकी शैली मुख्यतः भावात्मक है। इस शैली का प्रयोग उन्होंने अपने गम्भीर विचारात्मक निबंधों में किया है। विचारों की गम्भीरता और भावों की वेगवती धारा के अनुसार उनकी भाषा में उतार-चढ़ाव आया है और वाक्यों की लघुता भी लुप्त हो गयी है। कहीं-कहीं तो वाक्य इतने लम्बे हो गए हैं कि उनसे प्रवाह नष्ट हो गया है और अर्थ बोधकता में बाधा पड़ी है। इस प्रकार क्लिष्टता और दुरूहता ने उनकी इस शैली का वेग मंद कर दिया है। उनके वाक्य सरल, छोटे, भावपूर्ण और अर्थ-व्यञ्जक हैं, पर जहाँ वह अधिक भावावेश में आ गए हैं वहाँ उनके वाक्य आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गए हैं। अनेक वाक्य तो ऐसे हैं जिनका अर्थ ही स्पष्ट नहीं होता। ऐसे स्थलों पर उनकी भावुकता उनका दोष बन गयी है।

भाषा प्रयोग की दृष्टि से उनकी शैली समास-प्रधान है। उनकी वर्णन-शैली अत्यन्त सजीव और आकर्षक है। अपने विषय को उन्होंने श्लेषया विशिष्ट निगमन शैली में प्रस्तुत किया है। इस शैली के अनुसार उन्होंने अपने विचारों को सूत्र-रूप में प्रस्तुत कर उदाहरणों एवं संस्कृत तथा अँगरेजी के उद्धरणों-द्वारा परिपुष्ट किया है। उनकी इस शैली पर स्वामी रामतीर्थ की भाषण-शैली का अधिक प्रभाव है। वही शब्द-योजना, वही वाक्य-योजना और वही कहने का ढंग। चुरदार शब्दों के प्रयोग, प्रश्न्यात्मक प्रश्नों के आयोजन, रूपक और उपमाओं के विधान, मुहावरों तथा लाक्षणिक शब्दों के सन्निवेश, प्रश्नात्मक वाक्य के प्रयोग आदि द्वारा उन्होंने अपनी शैली को जो रोचकता और उत्कृष्टता प्रदान की है वह हिंदी के अन्य शैलीकारों में बहुत कम देखने को मिलती है। वह एक प्रौढ़ निबंधकार ही नहीं, उच्च कोटि के एक शैलीकार भी हैं।

: १३ :

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

जन्म सं० १६४०   मृत्यु सं० १९७६

जीवन परिचय

पंजाब का कांगड़ा-प्रान्त प्राचीन काल में त्रिगर्त कहलाता था। वहाँ के सोमवंशी-नरेश मुलतान छोड़कर अपने पुरोहितों के साथ पहाड़ों में आकर बस गए थे। कहते हैं, इसी वंश के एक राजा हरिश्चन्द्र ने गुलेर में अपना राज्य स्थापित किया और सं० १४७७ में हरिपुर को अपनी राजधानी बनाया। उन्होंने अपने पुरोहितों को 'जडोट' ग्राम जागीर-रूप में दिया था। इसलिए उनके पुरोहित 'जडोटिए' कहलाने लगे। इसी जडोटिए पुरोहित वंश में सं० १८९२ में पं० शिवराम का जन्म हुआ। काशी में रह कर उन्होंने श्री गौड़ स्वामी तथा अन्य कई विद्वानों से व्याकरण आदि शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की। वह अपने समय के प्रसिद्ध विद्वानों में से थे। उनकी योग्यता और विद्वत्ता से प्रभावित होकर जयपुर के तत्कालीन नरेश सवाई रामसिंह ने उन्हें अपने पास बुला लिया। वहाँ रहकर उन्होंने सैकड़ों विद्यार्थियों को विद्या-दान दिया और अच्छी ख्याति प्राप्त की। सं० १९६८ में उनका परलोकवास हुआ।

गुलेरीजी पं० शिवरामजी के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनका जन्म २५ आषाढ़ सं० १९४० को जयपुर में हुआ था। बाल्यावस्था में उन्होंने अपने विद्वान् पिता से ही पढ़ना-लिखना सीखा। आरम्भ में उन्होंने संस्कृत पढ़ी। उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। पाँच-छः वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने संस्कृत में बोलने का अच्छा अभ्यास कर लिया। उन्हें तीन-चार सौ श्लोक तथा अष्टाध्यायी के दो अध्याय कंठस्थ थे। नौ-दस वर्ष की अवस्था में तो उन्होंने

संस्कृत में एक छोटा-सा व्याख्यान देकर भारतधर्म महामण्डल के बड़े उपदेशकों को आश्चर्यचकित कर दिया था। सं० १६५० में उन्होंने जयपुर महाराज कालेज में अँगरेजी पढ़ना आरम्भ किया और सं० १६५६ में वह प्रयाग-विश्वविद्यालय की एंट्रेंस-परीक्षा में सर्वप्रथम और कलकत्ता-विश्वविद्यालय की उसी परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। उनकी इस प्रकार की सफलता से प्रसन्न होकर जयपुर राज्य ने उन्हें स्वर्ण-पदक देकर प्रोत्साहित किया। वह विद्या व्यसनी थे। संस्कृत-साहित्य में उनकी विशेष रुचि थी। एंट्रेंस की परीक्षा पास करने के पश्चात् उन्होंने महाभाष्य का अध्ययन किया। सं० १६५६ में उन्होंने जयपुर के मानमंदिर के जीर्णोद्धार में सहायता दी और सम्राट-सिद्धान्त नामक ज्योतिष ग्रन्थ के कई अंशों का बड़ी योग्यतापूर्वक अनुवाद किया। उसी समय लेफ्टिनेंट गैरेट के साथ उन्होंने अँगरेजी में 'दि जयपुर आब्ज़रवेटरी एंड इट्स बिल्डर्स' नामक ग्रन्थ लिखा। यह कार्य उन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवन में ही किया था। इसके एक वर्ष पश्चात् सं० १६६० में उन्होंने प्रयाग-विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में बी० ए० पास किया। इस बार उन्हें फिर जयपुर-राज्य ने स्वर्ण-पदक और बहुत-सी पुस्तकें पुरस्कार-रूप में दीं। उनका विचार दर्शन-शास्त्र में एम० ए० की परीक्षा देने का था, पर जयपुर-राज्य के आग्रह से खेतड़ी-नरेश जयसिंह का संरक्षक बनकर उन्हें अजमेर के मेयो कालेज में जाना पड़ा। वहाँ वह संस्कृत के प्रधानाध्यापक हो गये। सं० १६७४ में वह जयपुर-राज्य के समस्त सामंतों के अभिभावक नियुक्त हुए। मेयो कालेज में जोधपुर के महाराज हरीसिंह, प्रतापगढ़ के नरेश रामसिंह, ठाकुर अमरसिंह, ठाकुर कुशालसिंह तथा ठाकुर दलपतसिंह उनके प्रिय शिष्यों में थे। सं० १६७७ में वह अजमेर से काशी आये और काशी-विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हो गये। यहाँ दो वर्ष तक कार्य करने के पश्चात् ११ सितम्बर सन् १६२२ (सं० १६७८) को ३६ वर्ष की अल्पावस्था में उनका स्वर्गवास हो गया।

डा० नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'विचार और अनुभूति' में उनके

सम्बन्ध में लिखा है कि 'गुलेरीजी का संक्षिप्त जीवन सभी प्रकार से सफल रहा। विद्यार्थी जीवन में उन्हें स्पृहणीय सफलता मिली थी। हाई स्कूल और बी० ए० में वह सर्वप्रथम रहे। यौवन-काल में भी सफलता उनके चरण चूमती रही। पहले वह जयपुर राज्य के सभी सामन्त-पुत्रों के अभिभावक रहे, बाद में उन्होंने काशी में हिन्दू-विश्वविद्यालय के अन्तर्गत 'कालेज आव ओरिएन्टल लर्निंग एण्ड थियालोजी' के प्रिंसिपल पद को सुशोभित किया। लोक जीवन में भी उनको अक्षय गौरव प्राप्त हुआ। 'काशी-नागरी प्रचारिणी सभा' का सभापतित्व, 'देवी प्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला' एवं 'सूर्यकुमारी पुस्तकमाला' का सम्पादन, अनेक लेखकों का स्वदेशी-विदेशी विद्वानों-द्वारा अभिनन्दन—ये सब उनके गौरव की स्वीकृति के विभिन्न रूप थे। उनका व्यक्तित्व बेजोड़ था। उच्च कोटि की विद्वत्ता के साथ ही उनकी प्राणवत्ता भी उनके व्यक्तित्व में पायी जाती है। वह अपने युग के प्रथम श्रेणी के विद्वान् थे। पुरातत्व, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, साहित्य, भाषा-विज्ञान, सभी में उनकी अबाध गति थी। शरीर से भी वह हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर और क्रियाशील थे।'

गुलेरीजी कई विषयों के पंडित थे। उन्होंने वैदिक साहित्य, भाषा-शास्त्र-दर्शन और पुरातत्व का गंभीर अनुशीलन किया था। अँगरेजी, जर्मन, फ्रेंच और संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, पाली, बंगला और मराठी का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। सं० १६५४ में जयपुर के स्वर्गीय जैन वैद्य जी से जब उनका परिचय हुआ तब हिन्दी के प्रति उनके हृदय में अनुराग उत्पन्न हुआ। फलस्वरूप दोनों सज्जनों ने हिन्दी-सेवा की प्रतिज्ञा की और इसी उद्देश्य से सं० १६५७ में जयपुर में 'नागरी-भवन' की स्थापना की। 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' के प्रति उनको बड़ी सहानुभूति थी और वह बराबर उसके सदस्य रहे। साहित्य के वह मौन साधक थे। अपनी विद्वत्ता को उन्होंने सदैव जीवन का साधन बनाया, साध्य नहीं बनने दिया। किसी प्रकार का आडम्बर उन्हें अरुचिकर था। अपने समय के प्रकाड पंडित होने पर भी उनमें अभिमान नहीं था। औरों का शिक्षक बनने की अपेक्षा

वह स्वयं विद्यार्थी बनना अधिक पसन्द करते थे। इसलिए उनके जीवन का अधिक समय पुस्तकावलोकन में ही व्यतीत होता था। भारत के कई राज-वंशों से उनकी घनिष्ठता थी। उनके प्रिय शिष्यों में खेतड़ी के राजा जयसिंह थे। राजा जयसिंह की बड़ी बहन महारानी सूर्यकुमारी शाहपुराधीश राजाधिराज उम्मेदसिंह की पत्नी थीं। उनके स्वर्गवास होने पर गुलेरीजी के कहने से महाराज उम्मेदसिंह ने उनकी स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए बीस हजार रुपया दान देकर 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा 'सूर्य-कुमारी-पुस्तक-माला' की स्थापना करायी थी। इससे उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व और हिन्दी-प्रेम का यथेष्ट प्रमाण मिल जाता है।

गुलेरीजी की रचनाएँ

गुलेरीजी संस्कृत-साहित्य के महापंडित थे। उनका झुकाव अध्ययन की ओर ही विशेष रूप से था। इसलिए किसी मौलिक ग्रंथ की रचना उन्होंने नहीं की। वह लिखना चाहते तो लिख सकते थे, पर इस साधन से उन्होंने लाभ उठाने और यश प्राप्त करने की कामना नहीं की। हिन्दी के प्रति प्रेम उत्पन्न होने पर उनका कार्य मुख्यतः प्रचारात्मक ही रहा। स्थायी रूप से उन्होंने हिन्दी में भी लिखने की चेष्टा नहीं की। उनके लेख मासिक पत्रों में प्रकाशित होते थे। 'कछुआ धर्म', 'मारेसि मोहिं कुठाउँ', 'पुरानी हिन्दी' और 'शिशुनाग-मूर्तियाँ' पर लिखे हुए उनके लेख अब भी अधिक प्रसिद्ध हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उनके ऐसे समस्त लेखों का संग्रह किया है, पर अभी वह प्रकाश में नहीं आया। हिन्दी-जगत में उनकी तीन कहानियाँ—'सुखमय जीवन', 'उसने कहा था' और 'बुद्धू का काँटा' अवश्य प्रसिद्ध हैं। इन्हीं तीन कहानियों के कारण वह हिन्दी के श्रेष्ठ कहानीकार माने जाते हैं। उनकी इन कहानियों का एक संग्रह प्रयाग विश्वविद्यालय के ओरिएन्टल विभाग ने प्रकाशित किया है। इसका नाम है 'गुलेरीजी की अमर कहानियाँ'। 'ब्रज' भाषा-दर्शन सम्बन्धी एक रचना है जो सं० १९६२ में प्रकाशित हुई थी।

गुलेरीजी की गद्य साधना

गुलेरीजी हिन्दी के उन साहित्यिकों में से थे जिन्होंने कम लिखा, पर ख्याति अधिक प्राप्त की। उनकी समस्त रचनाएँ हमें इस समय उपलब्ध नहीं हैं। उनके लेखों का एक संग्रह 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' के पास है जो अभी अप्रकाशित है। वास्तव में उन्होंने कोई पुस्तक नहीं लिखी। जिस समय उन्होंने लिखना आरम्भ किया उस समय 'सरस्वती' निकलती थी। इसी पत्र में उनकी कहानी 'उसने कहा था' सं० १६७२ में प्रकाशित हुई थी। हिन्दी में इस कहानी ने उन्हें अमर कर दिया।

सम्पादक के रूप में गुलेरीजी कई वर्षों तक 'समालोचक' निकालते रहे। इसके द्वारा हिन्दी-प्रचार में बड़ी सहायता मिली और साहित्य का स्तर कुछ ऊँचा उठा। अपने समय का यह लोक-प्रिय पत्र था। इस पत्र को देखने से गुलेरीजी की सम्पादन-कला का परिचय मिल जाता है। इसी पत्र में उनके निबंध प्रकाशित होते रहते थे। उनके निबंध के विषय मुख्यतः सामयिक होते थे। तत्कालीन वातावरण के अनुसार वह अपने सामयिक विषयों में आलोचना, इतिहास और समाज-सुधार के प्रश्नों पर विशेष रूप से विचार करते थे। संस्कृत-भाषा और उसके साहित्य के अच्छे विद्वान होने के कारण वह अपने निबंधों में गंभीर विषयों का ही विवेचन और विश्लेषण करते थे। इसलिए उनकी रचनाओं में विचारों की गंभीरता होती थी। उनमें अपने विषय-प्रतिपादन की अपूर्व क्षमता थी। वह पांडित्य-पूर्ण लेख लिखते थे जिनमें प्रासंगिक कथाओं का प्राय: बाहुल्य रहता था। इसलिए साधारण पाठक बिना प्रसंग गर्भत्व समझे हुए उनके लेखों का आनंद नहीं उठा सकते थे। उनके लेख चार प्रकार के होते थे: (१) साहित्यिक, (२) ऐतिहासिक, (३) सामाजिक और (४) आलोचनात्मक। इन लेखों में भावों और विचारों की विभिन्नता के साथ-साथ भाषा-शैली भी विभिन्न प्रकार की होती थी।

गुलेरीजी एक सफल कहानीकार थे। उन्होंने जिस समय कहानी लिखना आरंभ किया उस समय तक प्रसादजी, प्रेमचन्द, कौशिकजी आदि कहानी-

क्षेत्र में आ चुके थे और उनकी एक-दो कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। गुलेरीजी ने उनसे भिन्न अपनी कहानी-कला का परिचय दिया। उनकी तीन कहानियाँ निकलीं जिनमें से उनकी एक कहानी—'उसने कहा था'—हिन्दी कथा-साहित्य में अधिक प्रसिद्ध हुई और इसी कहानी के कारण वह कहानीकार के रूप में हमारे सामने आए। इसी कहानी ने उनके साहित्यिक जीवन का स्तर अत्यन्त ऊँचा उठा दिया। कहानी-कला की दृष्टि से उनकी यह रचना उत्कृष्ट और बेजोड़ है। इसमें प्रथम महायुद्ध की सिक्ख-सेना की वीरता, धीरता, दृढ़ता, एवं कर्तव्य-परायणता का बड़ा ही मनोहर दृश्य चित्रित किया गया है। युद्ध का वर्णन भी अत्यन्त सजीव और आकर्षक है। कहानी का आरम्भ बाल और यौवन की सन्धिकाल की आयु के लड़की-लड़के के परस्पर सहज आकर्षण से होता है। यह आकर्षण ही लहनासिंह में त्याग और शौर्य की उदात्त भावना का बीजारोपण करता है और वह हँसते-हँसते अपना प्राण उत्सर्ग कर देता है। इस प्रकार इस कहानी में प्रेम और त्याग के बीच विश्व-युद्ध की विभीषिका का वर्णन है। प्रेम, करुणा, दया, त्याग, ममता, राष्ट्र-प्रेम, विश्व-प्रेम, घृणा, शौर्य आदि भावनाओं से परिपूर्ण यह कहानी अपने में चिरनवीन है। पंजाबी संस्कृति की इससे जैसी सुन्दर झाँकी मिलती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। कहानी-कला की दृष्टि से इसका आरम्भ जितना आकर्षक है उतना ही इसका अन्त। लहनासिंह की मृत्यु के साथ हमारी सारी सहानुभूति सजग हो उठती है। यही कहानी की चरम सीमा है। इसके अतिरिक्त 'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा' नाम की उनकी दो कहानियाँ और हैं। 'सुखमय जीवन' में एक ऐसे नवयुवक का चित्र अंकित किया गया है जिसमें विद्या-बल तो है, संसार का अनुभव-बल नहीं है। इसलिए उसे जीवन का सुख नहीं मिलता। अन्त में परिस्थितियाँ उसकी आँखें खोल देती हैं और वह सुखमय जीवन प्राप्त करने में सफल हो जाता है। 'बुद्धू का काँटा' भी इसी प्रकार के एक अनुभवहीन युवक की कहानी है। ये तीनों कहानियाँ जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के सजीव चित्र प्रस्तुत करती

है। इनकी प्रमुख विशेषता यह है कि इनमें भिन्न-भिन्न पात्रों की भाव-भंगी उनके व्यक्तिगत परिस्थिति के अनुसार सुन्दर और उपयुक्त भाषा में अंकित की गयी है। ये कहानी की शास्त्रीय विधियों से मुक्त हैं। इनमें किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। इनका विषय है 'मनुष्य'। मनुष्य की दुर्बलताओं और उसके सुख-दुःख का अंकन इनमें मिलता है। इनके पात्र 'जीवन को सजीव सृष्टियाँ' हैं जिनके मन में सुप्त भावनाएँ कुरेद कर उभार दी गयीं हैं। डा० नगेन्द्र के शब्दों में गुलेरीजी की कहानियों का प्रमुख आकर्षण रस है। वह अपनी कहानियों में रस-बोध कराकर स्थिर हो जाते हैं। इस प्रकार 'प्रभाव की एकता' का सुन्दर और सफल निर्वाह उनकी कहानियों की परम विशेषता है। 'उसने कहा था' के आरम्भ में जो बाल-चापल्य है, जो सजीवता और चपलता है उसका अन्त में अभाव सारी कहानी को इतना गंभीर बना देता है कि पाठक उसमें निमग्न हो जाता है। इसके साथ ही कथानक की विशेषता यह है कि उसकी एकता पर आंच नहीं आने पाती।

गुलेरीजी ने अपनी कहानियों में मधुर हास्य की भी सृष्टि की है। इसमें उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का कहना है—'वास्तव में उनका हास्य एक ऐसे व्यक्ति का हास्य है जिसके हृदय में जीवन के प्रत्येक सुख से सहानुभूति है जो विकृतियों में भी अद्भुत वैचित्र्य और आकर्षण पाता है, जिसके हृदय में किसी प्रकार का दंभ या मैल नहीं है और जो खुलकर हँसता है। वह हास्य की सृष्टि नहीं करते, उसके लिए भाव-भूमि बना देते हैं। गुलेरीजी ने अपनी कहानियों में मानव-मन को ही टटोला है और उसी का चित्रण किया है। इससे आगे वह नहीं बढ़े हैं। तत्कालीन समाज की प्रतिदिन की आशाओं-निराशाओं, उसकी समस्याओं, उसकी सफलताओं-विफलताओं के चित्रण की ओर उनकी लेखनी नहीं उठी है। इस प्रकार जन-जीवन की शक्ति उनमें नहीं है। उनमें किसी राजनीतिक विचार-धारा का पोषण अथवा विरोध भी नहीं है। वह सीधे-सादे मन के चित्रकार हैं और इसी में उनकी सफलता देखी और परखी जा

सकती है। यही गुलेरीजी की साहित्यिक क्षमता है और इसी क्षमता के कारण वह हमारे अमर कहानीकार हैं।

गुलेरीजी की भाषा

हम बता चुके हैं कि गुलेरीजी संस्कृत भाषा के प्रकांड पंडित थे। इसके साथ ही उन्हें उर्दू और अँगरेज़ी का भी अच्छा ज्ञान था। इसलिए उनकी भाषा में संस्कृत, उर्दू तथा अँगरेज़ी के शब्द आवश्यकतानुसार पाए जाते हैं। वह व्यवहारिक भाषा के पक्षपाती थे। किसी विषय को रोचक बनाने के विचार से वह स्थान-स्थान पर उर्दू पदावली का प्रयोग करते थे। उनका अँगरेज़ी शब्दों का प्रयोग दो प्रकार का होता था। कहीं-कहीं ये शब्द व्यवहारिक और नित्य बोलचाल में आनेवाले थे और कहीं क्लिष्ट, अव्यावहारिक और जटिल। पब्लिक, पार्लिया, मेंबर आदि साधारण शब्दों के प्रयोग से उनकी भाषा में सरलता बनी रहती थी, पर जब उनमें ड्रामेटिक, टेलीपैथी आदि क्लिष्ट शब्दों का समावेश हो जाता था तब उसकी सरलता नष्ट हो जाती थी और उसका प्रवाह मन्द पड़ जाता था। संस्कृत-शब्दों का प्रयोग वह गंभीर विषयों के प्रतिपादन में करते थे। उस समय उनकी भाषा संस्कृत-बहुला होती थी। विषय के अनुकूल ही वह अपनी भाषा का रूप स्थिर करते थे। कहीं-कहीं उनके क्रिया-शब्द पंडिताऊपन लिए हुए होते थे। 'करैं, रहैं, कहलवाते हैं, कहलायें, सुनावेंगे आदि व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध भले ही न हों, पर पंडिताऊपन से मुक्त नहीं हैं। इस संस्कार का प्रभाव उनके वाक्य-विन्यास और कथन-प्रणाली पर भी पड़ा है।

गुलेरीजी की शैली

गुलेरीजी की शैली प्रधानतः व्यावहारिक है। उसमें एक अनोखा चलतापन है। हम बता चुके हैं कि संस्कृत के वह निष्णातपंडित थे। इसलिए शब्द के व्यावहारिक रूपों तथा वाक्यों के सार्थक विन्यास पर उनके संस्कृत-ज्ञान की स्पष्ट छाप है। गम्भीर विषयों के प्रतिपादन में उनकी भाषा संस्कृत बहुला तो होती ही है, भाव-व्यंजना भी प्रसंग-गांभीर्य से इतनी बोझिल होती

है कि साधारण पाठक उनका आनन्द नहीं उठा सकते। इस प्रकार उनकी गम्भीर शैली पर उनके पांडित्य और अध्ययन-शीलता की स्पष्ट छाप है। इससे अर्थ-बोधकता और शैली की व्यावहारिकता पर आघात अवश्य पहुँचा है, पर उसका सौन्दर्य नष्ट नहीं हुआ है। इस शैली को हम उनकी आलोचनात्मक शैली कह सकते हैं।

गुलेरीजी की दूसरे प्रकार की शैली परिचयात्मक शैली है। इस शैली में सरल विषय सरल भाषा में व्यक्त किए गए हैं। इसलिए इसमें व्यावहारिकता बनी हुई है। इसमें एक प्रकार का चलतापन और चुलबुलाहट है। इसके साथ ही भाव-व्यंजना में रोचकता और आकर्षण, वाक्य-विन्यास में सरलता और संगठन तथा शब्द-चयन में सतर्कता और सामयिकता दिखाई पड़ती है। मुहावरों का प्रयोग भी मिलता है। वाक्यों का विस्तार इतना कम और इतना गठित रहता है कि वह शैली को सजीव और आकर्षक बना देता है। उनकी इस प्रकार की भाषा-शैली में प्रौढ़ता और अकृत्रिम वैयक्तिकता है। उनके सभी सामाजिक तथा कुछ आलोचनात्मक लेखों की कथन-प्रणाली प्राय: रोचक, विनोदपूर्ण और व्यंग्यात्मक होती है। ऐसे लेख आरम्भ में विनोदपूर्ण और मध्य में व्यंग्यात्मक होते हैं। एक उदाहरण लीजिए :—

'हम तो शिवरामजी गुप्त की इस नई खोज की प्रशंसा में मग्न हैं। क्या बात है! क्या बड़के बात निकाली है। इधर हमारे हंसोड़ मित्र कह रहे हैं कि माल हंस—पालहंस—कोई नहीं है, रोमन लिपि का चमत्कार है और संस्कृत साहित्य न जाननेवालों की अंग्रेजी या बङ्गला सूंघ कर 'गवेषणापूर्ण' लेख लिखने की लालसा पूर्ण करके पोथवें सवार बनने की धुन का परिहास मात्र दुष्परिणाम है।'

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर गुलेरीजी की रचना-शैली श्यामसुन्दर दास की रचना-शैली के ठीक विपरीत उतरती है। गुलेरीजी की रचना-शैली सरल, स्पष्ट और व्यावहारिक है, श्यामसुन्दर दास की रचना-शैली आलंकारिक, साहित्यिक, गम्भीर और प्रौढ़ है। इसीलिए दोनों शैलियों

के शब्द चयन और वाक्य-विन्यास में भी विभिन्नता है। श्यामसुन्दर दास का शब्द-चयन साहित्यिक, तुला हुआ, अर्थ-गौरव से परिपूर्ण है; गुलेरी जी के सामने न तो वह विषय है और न वह कथन-प्रणाली। इसलिए उनके शब्द-चयन में वह सूझ-बूझ नहीं है। उनकी शब्दावली सरल, सामयिक और निश्चिन्ततापूर्ण है। यही बात उनके वाक्य-विन्यास में भी पायी जाती है। श्यामसुन्दर दास की शैली में मुहावरों को स्थान नहीं मिला है, गुलेरीजी ने मुहावरों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। इस प्रकार की विभिन्नता का कारण स्पष्ट है। गुलेरीजी सामयिक विषयों के कलाकार हैं और श्यामसुन्दर दास दार्शनिक विषयों के। इस प्रकार दोनों दो विभिन्न विषयों के लेखक हैं। दोनों का कार्य-क्षेत्र एक होने पर भी दोनों की कार्य-शैलियाँ भिन्न हैं। पर हिंदी में जहाँ श्यामसुन्दरदास अपनी कई रचनाओं के कारण अमर हैं, वहाँ गुलेरीजी की केवल एक रचना उन्हें अमर बनाने में समर्थ है।

: १४

रामचन्द्र शुक्ल

जन्म सं० १९४१ मृत्यु सं० १९९७

जीवन-परिचय

रामचन्द्र शुक्ल के पूर्वज गोरखपुर मण्डलान्तर्गत भेड़ी नामक ग्राम में रहते थे। उनके पितामह प० शिवदत्त की तीस वर्ष की अल्पावस्था में मृत्यु हो जाने के कारण उनके पुत्र प० चन्द्रबली शुक्ल चार वर्ष को अवस्था में ही निराश्रय हो गये। ऐसी दशा में उनकी माता 'नगर' की रानी के साथ रहने लगीं। रानी उन्हें अपनी कन्या के समान मानती थीं। अतः उन्होंने 'नगर' के निकट ही बस्ती जिले के अगोना नामक ग्राम में उनके रहने के लिए एक घर बनवा दिया और भरण-पोषण के लिए कुछ भूमि भी दे दी। इसी अगोना ग्राम में रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सं० १९४१ की आश्विन पूर्णिमा को हुआ था।

रामचन्द्र शुक्ल के पिता प० चन्द्रबली शुक्ल सुपरवाइजर कानूनगो थे। सं० १९४५ में उनकी नियुक्ति हमीरपुर जिले की राठ तहसील में हुई। यहीं से शुक्लजी की शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। शुक्लजी पहले वर्नाक्यूलर स्कूल में प्रविष्ट हुए। उनके पिता उर्दू और अँगरेज़ी के समर्थक थे। इसलिए उन्होंने आठवीं कक्षा तक उर्दू-फ़ारसी पढ़ी, पर उनका अनुराग हिन्दी के प्रति था। ऐसी दशा में वह अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध हिन्दी की कक्षा में जाकर हिन्दी पढ़ने लगे। सं० १९४९ में उनके पिता सदर कानूनगो होकर राठ से मिर्ज़ापुर चले गये। इसी बीच राठ में उनकी माता का स्वर्गवास हो गया। इससे उनका सारा परिवार मिर्ज़ापुर आ गया और रमईपट्टी में रहने लगा।

रामचन्द्र शुक्ल मिर्ज़ापुर के जुबिली स्कूल में अँगरेज़ी पढ़ते थे। सं० १९५५ में उन्होंने उसी स्कूल से मिडिल पास किया। नवीं कक्षा में आने पर उनकी माताजी का स्वर्गवास हो गया। माता के स्वर्गवास के पश्चात् यह उनके बाल-हृदय पर दूसरी चोट पड़ी। इस चोट ने उन्हें गम्भीर बना दिया। उनका खेल-कूद बन्द हो गया। सं० १९५८ में उन्होंने लन्दन मिशन स्कूल से स्कूल फाइनल की परीक्षा पास की और प्रयाग आकर कायस्थ पाठशाला में एफ० ए० में नाम लिखाया। उस समय एफ० ए० में उच्च गणित की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। शुक्लजी गणित में कमज़ोर थे। इसलिए एक मास पश्चात् उन्होंने पढ़ना छोड़ दिया और कानून पढ़ने लगे, कानून की परीक्षा में भी वह सफल न हो सके।

शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् शुक्लजी ने सरकारी नौकरी की। उन दिनों विंढम साहब मिर्ज़ापुर के कलेक्टर थे। उनकी पं० चन्द्रबली शुक्ल पर विशेष कृपा थी। इसलिए उन्होंने रामचन्द्र शुक्ल को नायब तहसीलदारी की परीक्षा में सम्मिलित होने की आज्ञा दे दी। इस परीक्षा में शुक्लजी उत्तीर्ण हो गये। साथ ही अँगरेज़ी आफिस में उन्हें २०) मासिक वेतन भी मिलने लगा। पर यह कार्य शुक्लजी की प्रकृति के विरुद्ध था। उनमें आत्म-सम्मान की भावना अधिक थी। एक दिन कार्यालय के प्रधान लेखक से उनकी कुछ कहा-सुनी हो गयी। इसलिए उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया और फिर सरकारी नौकरी का विचार नहीं किया। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में सं० १९५८ में उन्होंने 'इंडियन रिव्यू' में 'व्हाट हैज़ इंडिया टु डू' शीर्षक लेख लिखा। इस लेख को पढ़कर विंढम साहब उन्हें क्रान्तिकारी समझने लगे, पर इसकी चिन्ता उन्होंने नहीं की।

सरकारी नौकरी त्यागने के पश्चात् घर और बाहर का वातावरण शुक्लजी के प्रतिकूल हो गया। उनके पिता भी उनसे रुष्ट हो गये। इससे उन्हें आर्थिक कष्ट होने लगा। इसलिए सं० १९६१ में वह मिर्ज़ापुर के मिशन स्कूल में २०) मासिक वेतन पर ड्राइंग मास्टर हो गये। इस

कार्य में उनका जी लगता था। धीरे-धीरे उनका वेतन २५) मासिक तक हो गया।

शुक्लजी बाल्यावस्था से ही साहित्य-प्रेमी थे। उनके साहित्यिक जीवन का आरम्भ मिर्ज़ापुर से ही हुआ। यहीं के वातावरण ने उनके भावी जीवन का निर्माण किया। छात्रावस्था से ही उन्होंने लिखना आरम्भ कर दिया था। उनकी लेखन-शैली बड़ी सुन्दर होती थी। १२-१३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'हास्य-विनोद' शीर्षक एक नाटक लिखा था। सं० १६५७ में उनकी एक कविता 'मनोहर छटा' 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। कालान्तर में उनकी इन्हीं साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास हुआ और हिन्दी के विद्वानों में उनकी गणना होने लगी। उनकी योग्यता से प्रभावित होकर सं० १६६६-६७ के लगभग 'हिन्दी-शब्द-सागर' में काम करने के लिए 'नागरी प्रचारिणी सभा' ने उन्हें बुलाया। वह काशी गये। काशी में उन्हें अपनी प्रतिभा को विकसित करने का अच्छा अवसर मिला। 'हिन्दी-शब्द-सागर' के सम्बन्ध में उनका कार्य अत्यन्त सराहनीय रहा। इससे लोगों के हृदय पर उनकी योग्यता की धाक जम गयी। फलस्वरूप उन्होंने सभा के लिए कई ग्रंथों का सम्पादन किया और 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' लिखकर अपने को अमर बना लिया। कुछ समय तक उन्होंने 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का भी बड़ी सफलता से सम्पादन किया।

कोश का कार्य समाप्त होने पर सं० १६८० में शुक्लजी की नियुक्ति हिन्दू-विश्वविद्यालय में हुई। वह हिन्दी-विभाग में अध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। इस पद से उन्होंने हिन्दी की जो सेवा की उसने शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी का स्तर ऊँचा कर दिया। उस समय श्यामसुन्दर दास हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष थे। सं० १६६४ में उनके इस पद से अवकाश ग्रहण करने पर शुक्लजी को यह सम्मान दिया गया, पर अधिक दिनों तक वह इस पद से हिन्दी की सेवा न कर सके। उन्हें श्वास का रोग था। इस रोग में वह बहुत दुखी रहते थे। सं० १६६७ की माघ सुदी ६, रविवार को रात

के ६ बजे के लगभग श्वास के दौरे के बीच सहसा हृदय की गति बन्द हो जाने के कारण उनका स्वर्गवास हो गया।

शुक्लजी निर्भीक साहित्य-सेवी थे। उनमें आत्म-सम्मान की भावना अत्यधिक थी। सं० १९७९-८० के लगभग उन्होंने अलवर-नरेश के यहाँ ४००) मासिक वेतन पर नौकरी की, पर आत्म-सम्मान के कारण वहाँ भी वह न रह सके। विद्यार्थी-जीवन में उन्हें आर्थिक सङ्कटों का सामना करना पड़ा और विमाता के कारण पिता का कोप-भाजन भी बनना पड़ा, पर उन्होंने इन सङ्कटों के सामने कभी अपना सिर नहीं झुकाया। वह त्यागी पुरुष थे। हिन्दी का स्तर ऊँचा करना ही उनके जीवन का ध्येय था। अपने इस ध्येय में वह सफल हुए।

शुक्लजी की रचनाएँ

शुक्लजी द्विवेदी-युग की दिव्य-विभूति थे। द्विवेदीजी की भाँति उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना नहीं की, पर जो कुछ उन्होंने लिखा उससे हिन्दी-साहित्य गौरवान्वित हो गया। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) अनूदित रचनाएँ—शुक्लजी की अनूदित रचनाएँ दो भाषाओं पर आधारित हैं—(१) अँगरेजी और (२) बँगला। अँगरेजी भाषा से उन्होंने लेखों तथा ग्रन्थों, दोनों का अनुवाद किया है। उनके अनूदित ग्रन्थ चार प्रकार के हैं : (१) शिक्षात्मक, (२) दार्शनिक, (३) ऐतिहासिक और (४) साहित्यिक। उनके शिक्षात्मक अनूदित ग्रंथों में 'राज्य-प्रबन्ध-शिक्षा' तथा 'आदर्श जीवन' (सं० १९६४) का स्थान है। उनके दार्शनिक अनूदित ग्रंथों में 'विश्व-प्रपंच' (सं० १९७०-७८) आता है। 'मेगास्थिनीज का भारतवर्षीय वर्णन' (सं० १९६२) उनका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अनूदित ग्रंथ है। इनके अतिरिक्त उनके साहित्यिक अनूदित ग्रन्थ भी हैं जो दो प्रकार के हैं : (१) गद्यानुवाद और (२) पद्यानुवाद। 'कल्पना का आनन्द' (सं० १९६३) तथा 'शशांक' (सं० १९७२) उनके गद्यानुवाद ग्रन्थ हैं। इनमें से पहला जोसेफ एडिसन के 'एसे आन इमैजिनेशन' का और दूसरा राखाल-दास वंद्योपाध्याय के बंगला-उपन्यास का अनुवाद है। उनके पद्यानुवादों

में 'बुद्ध-चरित' (सं० १९७६) का स्थान है। यह काव्य-ग्रंथ सर एडविन आर्नल्ड के 'दि लाइट आव् एशिया' का अनुवाद है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने बंगला से एक और अँगरेजी से छः ग्रन्थों का अनुवाद किया है। उनके इन अनुवादों में अपनत्व है और मौलिक रचना का-सा आनन्द आता है। उन्होंने अनुवादों से ही अपने साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश किया था।

(४) मौलिक रचनाएँ—शुक्लजी की मौलिक रचनाएँ निबन्धात्मक, आलोचनात्मक और ऐतिहासिक हैं। 'चारण विनोद (सं० १९५८) उनकी सर्वप्रथम मौलिक रचना है। इसके पश्चात् 'राधाकृष्ण दास' (सं० १९७०) का जीवन-चरित्र है। 'चिन्तामणि' प्रथम भाग में उनके उन निबन्धों का संग्रह है जो सर्वप्रथम 'विचार वीथी' के नाम से प्रकाशित हुए थे। 'चिन्तामणि' द्वितीय भाग में तीन आलोचनात्मक निबन्ध हैं: 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद' तथा 'काव्य में अभिव्यंजनावाद।' इनके अतिरिक्त 'त्रिवेणी' में 'तुलसी', 'जायसी' और 'सूर' पर आलोचनात्मक निबंध संगृहीत हैं। 'भारत का प्राचीन इतिहास' उनका इतिहास-सबंधी ग्रन्थ है। 'सूरदास' और 'रस-मीमांसा' भी उनके आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० १९८७) उनका अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस पर 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' ने उन्हें ५००) का पुरस्कार दिया था। 'साहित्य-सम्मेलन' ने भी 'चिन्तामणि' पर उन्हें मंगलाप्रसाद-पुरस्कार देकर सम्मानित किया था।

(६) सम्पादित रचनाएँ—'भ्रमरगीतसार', 'भारतेन्दु-साहित्य', 'तुलसी ग्रन्थावली' (सं० १९७७) और 'जायसी-ग्रन्थावली' (सं० १९८१) शुक्लजी के सम्पादित ग्रन्थ हैं।

शुक्लजी का व्यक्तित्व

हिन्दी-संसार में शुक्लजी का व्यक्तित्व असाधारण था। वह मननशील, अध्ययनशील, धार्मिक और प्रकृति-प्रेमी थे। तत्कालीन वातावरण के अनुकूल अपने पद की मर्यादा बनाए रखने के लिए पाश्चात्य वेश-भूषा

के प्रति उनमें आग्रह अवश्य था, पर उनकी आत्मा सर्वथा भारतीय थी। भारतीय संस्कृति और सभ्यता के वह पोषक थे। उन्होंने अपने आपको कभी पाश्चात्य रंग में रङ्गने की चेष्टा नहीं की। बाहर वह जो भी रहे हों, पर भीतर से वह सनातन-धर्म के पक्के समर्थक थे। उनमें धार्मिक भावना बड़ी प्रबल थी। वह राम के भक्त और 'रामचरित मानस' के बड़े प्रेमी थे। उनका रहन-सहन पण्डितों का-सा था। उनके पिता मुसलमानी और पाश्चात्य सभ्यता के समर्थक थे, पर उन्होंने उनके पद-चिह्नों पर चलने की चेष्टा नहीं की। उन्होंने अपने भौतिक तथा साहित्यिक जीवन का मापदण्ड स्वयं बनाया था। किसी से प्रभावित होने पर भी वह उसका अन्धानुकरण नहीं करते थे। प्रत्येक बात पर वह गंभीरतापूर्वक विचार करते थे। उनके जीवन में अद्भुत संयम था। जीवन के प्रारंभिक काल में आर्थिक संकट उपस्थित होने पर उन्होंने किसी के सामने कभी हाथ नहीं फैलाया। वह स्वयं उनसे लड़ते और जूझते रहे, पर आत्म-सम्मान पर उन्होंने आँच नहीं आने दी। आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए ही उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ी थी और अलवर-राज्य के सम्मान और सत्कार की उपेक्षा की थी। उनका कहना था:—

'चौबदे बसंटे बने चार्वेगे चौरब्द पर,
चाकरी करेंगे नहीं चौदह चमार की'

शुक्लजी के व्यक्तित्व में आत्म-निर्भरता थी। वह सादगी, सरलता और निष्कपटता की मूर्ति थे। वह गंभीर और मननशील होते हुए भी बड़े सहृदय थे। अपने व्यावहारिक जीवन में उन्होंने कभी दलबन्दी को स्थान नहीं दिया। अपनी मित्र-मण्डली में, अपने समाज में, अपने साहित्यिक जीवन में उन्होंने जो यश प्राप्त किया उसमें उनकी प्रदर्शन-लालसा नहीं, उनकी प्रतिभा और विद्वत्ता का बल था। वह प्रदर्शन से कोसों दूर भागते थे। उन्हें किसी प्रकार का प्रदर्शन ग्राह्य नहीं था

शुक्लजी अनन्य प्रकृति-प्रेमी थे। उनके जीवन पर मिर्ज़ापुर के प्राकृतिक वातावरण की स्पष्ट छाप थी। वह प्रकृति के वास्तविक और निर्विकार

रूप के उपासक थे। उन्हें कृत्रिम उपवनों की क्यारियों में वैसा आनन्द नहीं मिलता था जैसा वन की ऊँची-नीची भूमि और झाड़ियों आदि में प्राप्त होता था। वह वन्य प्रकृति के प्रेमी थे। प्रकृति-सुन्दरी की अन्तरात्मा को देखने-परखने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। इसीसे उन्होंने अपने काव्य में उसका रहस्योद्घाटन बड़ी सफलतापूर्वक किया था।

अपने साहित्यिक जीवन में शुक्लजी अपने विश्वासों और अपनी मान्यताओं से बँधे हुए थे। वह बुद्धिवादी और आदर्शवादी थे। वह प्रत्येक प्राचीन और नवीन सिद्धान्त को तबतक स्वीकार नहीं करते थे जबतक वह उनकी मानसिक कसौटी पर खरा नहीं उतरता था। उनकी इसी प्रवृत्ति के कारण उनमें गुण दोष परखने की अद्भुत विवेक शक्ति थी और अपनी इसी विवेक-शक्ति के कारण वह आलोचना-साहित्य की दिशा-परिवर्तन में सफल हुए। उनमें मौलिक सूझ-बूझ थी। अपने अध्ययन का पचाकर उसे नवीन रूप देने में वह बहुत कुशल थे।

शुक्लजी साहित्य के गम्भीर पंडित थे। उन्होंने कई साहित्यों का अच्छा अध्ययन किया था और उस अध्ययन के आलोक में भारतीय संस्कृति और सभ्यता के अनुरूप हिंदी-साहित्य की आवश्यकताओं की पूर्ति की थी। उनके सिद्धान्तों में 'लोक-भावना' प्रबल थी। इस 'लोक-भावना' को लेकर ही उन्होंने साहित्य सबंधी आधार स्थिर किए थे। उन्होंने धर्म का स्वरूप भी इसी के आधार पर स्थिर किया था। वह उसीधर्म, उसी साहित्य और उसी काव्य को श्रेष्ठ मानते थे जिससे अधिक-से-अधिक लोगों को अधिक-से-अधिक भौतिक एवं आध्यात्मिक लाभ और आनन्द प्राप्त हो सके। उनकी लोकवाद अत्यन्त भावना बड़ी व्यापक, उदार और सर्वदेशीय थी। उसका सम्बन्ध केवल भारत से नहीं, समस्त विश्व से था। इस प्रकार उनका लोकवाद अत्यन्त विस्तृत और समुचित भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित था। उसमें अधिक-से-अधिक लोक-कल्याण की भावना निहित थी। ऐसी थी उनकी चिंतन-शक्ति जिसके बल पर उन्होंने अपनी समस्त रचनाओं का सृजन किया था।

शुक्लजी पर प्रभाव

यह तो हुई शुक्लजी के व्यक्तित्व की व्याख्या। अब हम यह देखेंगे कि उन्हें इस प्रकार के व्यक्तित्व-निर्माण की प्रेरणा कहाँ से मिली। प्रत्येक सफल साहित्यकार अपने जीवन, अपने समाज और अपने देश की तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होता रहता है और उन्हीं से अपनी प्रतिभा और विचार-शक्ति के अनुकूल प्रेरणाएँ ग्रहण करता रहता है। शुक्लजी जिस माता की गोद में पले थे वह उसी वंश की थीं जिसमें हिंदी के महान कलाकार गोस्वामी तुलसीदास का जन्म हुआ था। इस प्रकार उनकी माता से उन्हें जो रक्त मिला वह महान् साहित्यिक परम्परा का रक्त था। इसी कारण गोस्वामीजी के प्रति उनके हृदय में अत्यधिक श्रद्धा थी। कालान्तर में उनकी यही श्रद्धा उनके काव्य का आधार बन गयी और वह लोक-भावना के रूप में प्रस्फुटित हुई। यह तो हुई माता के पक्ष से आए हुए साहित्यिक बीज की बात, पिता-पक्ष से भी उन्हें कम उत्प्रेरणा नहीं मिली। उनके पिता भी बड़े काव्य-रसिक थे। वह फ़ारसी के पंडित और प्राचीन हिंदी-कविता के बड़े प्रेमी थे। वह 'रामचरितमानस' और 'रामचंद्रिका' का बराबर अध्ययन करते थे। उन्होंने भारतेन्दु के नाटकों का भी अध्ययन किया था। वह स्वतंत्र विचार के थे। वह जिस बात को उचित समझते थे उसे ही स्वीकार करते थे। पिता की ऐसी मनोवृत्ति का शुक्लजी पर प्रभाव पड़ा। इस प्रकार उन्होंने अपनी माता और और अपने पिता दोनों से साहित्यिक प्रेरणाएँ ग्रहण की थीं।

शुक्लजी पर दूसरा प्रभाव भारतेन्दु का था। वह भारतेन्दु-साहित्य से बचपन से ही प्रभावित थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'प्रेमघन-छायास्मृति' में लिखा है—'जब उनकी (पिताजी की) बदली हमीरपुर ज़िले की राठ तहसील से मिर्ज़ापुर हुई तब मेरी अवस्था आठ वर्ष की थी। उसके पहले ही से भारतेन्दु के सम्बन्ध में एक अपूर्व मधुर भावना मेरे मन में जगी रहती थी। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक के नायक और कवि हरिश्चन्द्र में मेरी बाल-बुद्धि कोई भेद नहीं कर पाती थी। 'हरिश्चन्द्र' शब्द से दोनों की एक

मिली-जुली भावना एक अपूर्व माधुर्य का सचार मेरे मन करती थी।' स्पष्ट है, भारतेन्दु के प्रति शुक्लजी में अधिक आस्था थी। वस्तुत: भारतेन्दु को लेकर ही उनका परिचय प्रेमघन से हुआ जिनसे उन्हें आरभ में साहित्यिक प्रेरणा मिली और परोक्ष एवं प्रत्यक्ष रूप से उनसे प्रभावित भी हुए।

किशोरावस्था में पं० केदारनाथ पाठक से परिचय होना भी शुक्लजी के साहित्यिक जीवन में विशेष महत्त्व रखता है। उनके सम्पर्क में आने पर शुक्लजी में हिन्दी-पुस्तकों के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। उन्होंने मिर्जापुर में 'मेयो-मेमोरियल' नाम की एक लायब्रेरी खाली थी। इस लायब्रेरी में शुक्लजी बराबर पढ़ने जाया करते थे। पाठकजी उनके लिए हिन्दी-पुस्तकों का प्रबन्ध करते थे। यह उस समय की बात है जब वह नवीं कक्षा में पढ़ते थे। लगभग पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में शुक्लजी को ऐसी साहित्यिक मित्र-मडली मिल गयी जिसमे निरन्तर साहित्य-चर्चा हुआ करती थी। इस मडली में श्री काशीप्रसाद जायसवाल, बाबू भगवानदास हालना, प० बदरीनाथ गौड़ तथा प० उमाशङ्कर द्विवेदी मुख्य थे। इस मडली का शुक्लजी के बाल-साहित्यिक जीवन पर अधिक प्रभाव पड़ा। नित्य की साहित्यिक चर्चा में भाग लेने के कारण उनके अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत होता गया और उनकी साहित्यक धारणाएँ निश्चित होती गयीं। साहित्य निर्माण की प्रवृत्ति तो उनमें बाल्यावस्था से ही थी। इस प्रवृत्ति को प० रामगरीब चौबे से विशेष स्फूर्ति मिली। चौबेजी रमईपट्टी में ही रहते थे। वह अँगरेजी भाषा के पडित और एक अच्छे अनुवादक थे। शुक्लजी उनकी लेखन-शक्ति से बहुत प्रभावित हुए। उनके सम्पर्क में रहकर शुक्लजी ने कई रचनाएं कीं। उनकी सर्वप्रथम कविता 'मनोहर छटा' इसी समय लिखी गयी थी। इसी समय उन्होंने 'ग्यारह वर्ष का समय' शीर्षक कहानी भी लिखी थी। 'कल्पना का आनन्द' तथा 'मेगास्थनीज का भारत-वर्षीय वर्णन' शीर्षक अनूदित रचनाएँ भी इसी काल की हैं। 'प्राचीन भारतवासियों की पहिरावा' तथा 'साहित्य' आदि निबन्ध भी इसी समय लिखे गए थे।

हम अन्यत्र बता चुके हैं शुक्लजी प्रकृति-प्रेमी थे। उनके हृदय में इस प्रेम का उदय बाल्यावस्था में ही हुआ था। मिर्ज़ापुर के जिस मोहल्ले में वह रहते थे उसी में पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद रहा करते थे। वह संस्कृत के पंडित और प्रकृति के अनन्य उपासक थे। उनके यहाँ संस्कृत के विद्यार्थी पढ़ने आया करते थे। वह इन विद्यार्थियों को लेकर प्रायः विन्ध्याचल की ओर निकल जाते थे और वहाँ प्रकृति के रम्य दृश्यों को देखकर कालिदास, भवभूति आदि के प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी श्लोकों का पाठ किया करते थे। शुक्लजी भी उनके साथ जाते थे और प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लूटते थे। उनके एक मित्र थे श्री रामेश्वरनाथ शुक्ल। वह भी प्रकृति-प्रेमी थे और अच्छी कविता करते थे। शुक्लजी उनके साथ प्रायः दो-तीन बजे रात को ही प्रकृति की नग्न छटा देखने के लिए घर से निकल पड़ते थे। वह प्रत्येक ऋतु में प्रकृति का आनन्द लेते थे।

अपने उपर्युक्त साहित्यिक संस्कारों को लेकर जब शुक्लजी काशी आये और वहाँ 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' से उनका सम्पर्क-स्थापित हुआ तब उन्होंने उन्हीं संस्कारों का विकास किया। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा ही वह श्यामसुन्दर दास तथा पं० मदनमोहन मालवीय के सम्पर्क में आये। इन दोनों व्यक्तियों ने अपनी साधना से उन्हें विशेष स्फूर्ति प्रदान की। उनकी समस्त उत्कृष्ट रचनाएँ इसी काल की हैं।

शुक्लजी के सैद्धान्तिक विचार

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्लजी का जो विद्यार्थी-जीवन साहित्यिक विभूतियों के अध्ययन, स्मरण तथा दर्शन से प्रभावित हुआ वही आगे चलकर साहित्यिक जीवन में परिणत हो गया। साहित्यिक जीवन में प्रत्यक्ष रूप से प्रवेश करने पर उन्होंने अपने लिए अपने अध्ययन के बल पर कई सिद्धांत स्थिर किये जो तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा वैज्ञानिक विचार-धाराओं के अनुकूल थे। वह 'विकासवाद' के समर्थक थे। भारतीय पंडितों की भाँति वह यह स्वीकार नहीं करते थे कि आरंभ में ही ईश्वर ने सर्वाङ्गपूर्ण तथा प्रौढ़ सृष्टि का निर्माण किया था। विकासवाद

सम्बन्धी उनके इस प्रकार के विचारों का प्रभाव उनके अन्य सिद्धान्तों पर भी पड़ा था। वह 'भक्ति' का विकास 'भय' की सीढ़ी पार करने पर ही मानते थे। उनका कहना था—'दुःखों से बचने का प्रयत्न जीवन का प्रथम प्रयत्न है। इन दुःखों का आना न आना बिलकुल अपने हाथ में नहीं है, यह देखते ही मनुष्य ने उनको कुछ परोक्ष शक्तियों द्वारा प्रेरित समझा। अतः बलिदान आदि द्वारा उन्हें शान्त और तुष्ट रखना उसे आवश्यक दिखाई पड़ा। इस आदि उपासना का मूल था 'भय'। जिन देवताओं की उपासना असभ्य दशा में प्रचलित हुई, वे 'अनिष्टदेव' थे।'

शुक्लजी जीवन और साहित्य में लोक धर्म के पक्षपाती थे। उनकी इस विचार-धारा पर उस राजनीतिक सिद्धान्त का प्रभाव है जिसका प्रादुर्भाव पाश्चात्य देशों में फ्रांसीसी राज्यक्रांति के पश्चात् हुआ था। इस सिद्धान्त के अनुसार 'अधिक-से-अधिक संख्या का अधिक-से-अधिक हित' करना ही विश्व-कल्याण के लिए उचित समझा जाता था। शुक्लजी ने इस लोक-भावना को भारतीय रूप देकर अपने साहित्य में स्थान दिया। उन्होंने धर्म का स्वरूप भी इसी सिद्धान्त के आधार पर स्थिर किया और उसे अपनी संस्कृति, सभ्यता एवं परम्परा के अनुरूप अत्यन्त व्यापक रूप प्रदान किया। उनके 'लोकवाद' में विश्व-कल्याण की भावना थी। उनका विश्वास था कि जो व्यक्ति गृह-धर्म, कुल-धर्म, समाज-धर्म, लोक-धर्म और विश्व-धर्म की श्रेणी पर क्रमशः दृष्टि रखता हुआ अंतिम श्रेणी के धर्म का—मानव-धर्म का—पालन करता दिखायी पड़ता है वही 'पूर्ण पुरुष' या 'पुरुषोत्तम' है। इस प्रकार लोक-सेवी ही उनकी दृष्टि में भगवान है। अपनी इसी विचार धारा के अन्तर्गत उन्होंने भगवान रामचन्द्र को देखा और समझा जो सर्वथा नवीन है। उनकी दृष्टि में राम लोक-रक्षक, लोक-नायक और लोक-पालक हैं। वह 'पूर्णपुरुष' हैं। वह दोनो के लिए दया-मूर्ति हैं और अत्याचारियों के लिए कालरूप। इसीलिए शुक्लजी उनके भक्त हैं।

लोक-भावना के अन्तर्गत शुक्लजी ने भारतीय वर्ण-व्यवस्था को भी सुलझाने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि लोक की रक्षा तथा

स्थिति तभी संभव है जब सभी वर्ण के लोग व्यष्टितः तो अपने कार्यों में स्वतंत्र हों, पर समष्टितः वे जो कार्य करें वह समाज में विद्यमान सभी वर्णों की मर्यादा के अनुकूल हो। कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय वर्ण-व्यवस्था तभी सफल हो सकती है जब प्रत्येक वर्ण स्वतन्त्र रूप से अपने अधिकारों का पालन करते हुए समस्त वर्णों के कल्याण की कामना करता रहे। इस प्रकार उनका लोकवाद भारतीय संस्कृति और सभ्यता के सर्वथा अनुकूल है। वह 'प्रवृत्ति' के समर्थक थे, 'निवृत्ति' के नहीं। इसी कारण वह भगवान की पुनीत-कला का दर्शन लोक के भीतर करना चाहते थे, हृदय के किसी एकान्त कोने में नहीं। संक्षेप में उनका समस्त साहित्य 'लोक-धर्म' की भावना से परिपूर्ण है।

शुक्लजी की रस-साधना

शुक्लजी जीवन और साहित्य में नैतिकतापूर्ण आचार के समर्थक थे। आलोचना के क्षेत्र में वह 'रसवादी' थे, परन्तु उनका 'रसवाद' मर्यादा और औचित्य से सीमित था। अपने 'रसवाद' में उन्होंने 'साधारणीकरण' की जो व्याख्या की है वह उनके उक्त दृष्टिकोण का ही पोषक है। 'साधारणीकरण' के लिए उन्होंने आलंबन के औचित्य पर ही विशेष बल दिया है। उन्होंने लिखा है—"यदि भाव व्यंजना में भाव अनुचित है, ऐसे के प्रति है जैसे के प्रति न होना चाहिये तो साधारणीकरण न होगा।" अपनी इसी मान्यता के अनुसार उन्होंने आलंबन में शक्ति, शील और सौंदर्य की स्थापना की है।

शुक्लजी रसानुभूति को वास्तविक अनुभूति से भिन्न नहीं मानते थे। वह 'मनोमय' कोश (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन) में ही रस-सिद्धि स्वीकार करते थे। भाव की तीन दशाओं—(१) स्थायी-दशा (२) शील-दशा और (३) क्षणिक दशा के आधार पर वह रसानुभूति की तीन कोटियाँ मानते थे। प्रथम कोटि की रसानुभूति वह वहाँ मानते थे जहाँ व्यक्त-भाव में श्रोता अथवा पाठक पूर्णतः तन्मय हो जाता है। इसके विरुद्ध जहाँ पाठक अथवा श्रोता व्यक्त भाव का अनुमोदन मात्र करता है वहाँ दूसरी कोटि

की रसानुभूति और जहाँ वह केवल चमत्कृत होता है वहाँ तीसरी कोटि की रसानुभूति वह मानते थे। इस प्रकार वह अपने 'रसवाद' में मौलिक और उन प्राचीन आचार्यों से भिन्न थे जो रसानन्द को ब्रह्मानन्द-सहोदर स्वीकार करते थे।

शुक्लजी ने अपनी आलोचना के मानदंड अपनी रुचि के अनुकूल ही बनाए थे। उनका युग साहित्य में नैतिकता का युग था। इसलिए उन्होंने अपनी आलोचना-पद्धति में भी उसका ध्यान रखा। पाश्चात्य समीक्षा से प्रभावित होने पर भी उन्होंने उसे ज्यों-का-त्यों नहीं अपनाया। उन्होंने उसे निजी विवेक और अपने 'रसवाद' की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार किया। पाश्चात्य समीक्षकों में रिचर्ड्स उनकी रुचि के विशेष अनुकूल थे, परन्तु उनका भी अंधानुकरण उन्होंने नहीं किया। रिचर्ड्स अपनी समीक्षा में मर्यादावादी नहीं थे। इसलिए शुक्लजी ने उनकी बहुत सी मान्यताएँ स्वीकार नहीं कीं।

शुक्लजी प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार थे। उनकी साहित्य-साधना अत्यन्त व्यापक थी। बचपन से ही उनमें साहित्य निर्माण की प्रवृत्ति थी। नौ-दस वर्ष की अवस्था में ही वह छोटे-मोटे लेख लिखने लग गए थे और अच्छे साहित्यकारों के सम्पर्क में आ गए थे। सोलह वर्ष की अवस्था में तो उनके हृदय में साहित्य-निर्माण की प्रबल भावना जाग उठी थी। उनके साहित्य-निर्माण की दो पवित्र भूमियाँ थीं—एक तो मिर्ज़ापुर और दूसरा काशी। मिर्ज़ापुर में उनके साहित्य-निर्माण का प्रारम्भ हुआ और काशी में उसका अवसान। मिर्ज़ापुर ने जो कुछ बीज रूप में उन्हें दिया उसे काशी ने विशाल वृक्ष के रूप में हिन्दी-संसार के सामने प्रस्तुत किया जिसका निरीक्षण करने से शुक्लजी की साहित्य साधना कई रूपों में हमारे सामने आयी। वह (१) सम्पादक, (२) अनुवादक (३) कवि, (४) निबन्धकार और (५) आलोचक सब एक साथ थे। यहाँ हम उनकी गद्य-साधना पर ही विचार करेंगे :—

(१) सम्पादित-साहित्य—शुक्लजी की सम्पादन-कला का उदाहरण

हमें दो रूपों में मिलता है : एक तो पत्र-सम्पादक के रूप में और दूसरा पुस्तक-सम्पादक के रूप में। पत्र-सम्पादक के रूप में शुक्लजी ने 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' का बड़ी योग्यता से सम्पादन किया था। उनके समय में यह पत्रिका मासिक रूप में निकलती थी। इसके लिए उपयुक्त सामग्री प्रस्तुत करने में वह बहुत परिश्रम करते थे। इसके अतिरिक्त 'आनन्द कादम्बिनी' के सम्पादन में भी उनका हाथ रहता था।

पुस्तकों के सम्पादन में शुक्लजी ने अपनी विद्वत्ता और प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया। उन्होंने 'जायसी', 'सूर' और 'तुलसी' की रचनाओं का संपादन किया और उनके सम्बन्ध में 'भूमिका' के अन्तर्गत अपना समीक्षात्मक दृष्टिकोण व्यक्त किया। जायसी-ग्रन्थावली में उन्होंने 'पद्मावत', 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' के सम्बन्ध में विचार किया और अपनी लम्बी-चौड़ी भूमिका में 'पद्मावत' के विभिन्न पक्षों की आलोचना की। हिन्दी में जायसी के कृतित्व को प्रकाश में लानेवाली यह पहली आलोचना थी। इसलिए इसका अधिक स्वागत हुआ। इससे जायसी की रचनाओं के प्रति हिन्दी-पाठकों की रुचि का संस्कार हुआ और उनका अध्ययन-अध्यापन होने लगा। अपनी भूमिका में शुक्लजी ने जायसी को अधिक-से-अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की। जायसी का जीवन-वृत्त, उनका समय, उनके सूफी-सिद्धान्त, उनकी रुचि-अरुचि, उनकी काव्य-शैली, उनका प्रेम-निरूपण, उनका प्रकृति-चित्रण, उनका वस्तु-वर्णन, उनकी भाव-व्यंजना, उनकी प्रबन्ध-पटुता, उनकी कल्पना, उनकी रस-पद्धति, उनकी अलंकार योजना और उनकी भाषा-शैली—सब पर उन्होंने समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया और साथ ही यह बताया कि किसी रचनाकार की रचनाओं पर विचार करने के लिए उनके भिन्न-भिन्न अंग पर दृष्टिपात करना चाहिए।

शुक्लजी का दूसरा सम्पादित ग्रन्थ है : तुलसी-ग्रंथावली। तुलसी शुक्लजी को बचपन से ही प्रिय थे। वह तुलसी की प्रत्येक रचना से भली भाँति परिचित थे। आगे चलकर उन्होंने इस सबंध में और भी गंभीर अध्ययन किया और 'तुलसी-ग्रन्थावली' की 'भूमिका' के रूप में उसका

परिचय दिया। उन्होंने अपनी 'भूमिका' में तुलसी के जीवन-वृत्त, उनके समय, उनके व्यक्तित्व, उनकी भक्ति-पद्धति, लोक-धर्म, मंगलाशा, लोक-नीति और मर्यादाशील, साधना और भक्ति, ज्ञान और भक्ति, तुलसी की काव्य-पद्धति, तुलसी की भावुकता, तुलसी की भाषा-शैली आदि सब पर विस्तार से विचार किया और उनके संबंध में मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दिया। हिन्दी में तुलसी को समझने-समझाने का यह प्रयत्न सर्वथा नवीन था। उनके समय तक 'रामचरितमानस' एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत था और अधिकांश हिंदू-जनता उसे भक्ति-भावना की दृष्टि से ही पढ़ती थी। शुक्लजी ने सर्वप्रथम उसके साहित्यिक मूल्यों पर विचार किया और उसे साहित्यिक मर्यादा प्रदान की।

शुक्लजी का तीसरा संपादित ग्रन्थ 'भ्रमर गीत सार' है। इसमें सूरदास के उन पदों को स्थान दिया गया है जिनका संबंध उद्धव-गोपी संवाद से है। उद्धव-गोपी-संवाद सूर की अद्भुत कृति है। इसमें गोपियों के सहज प्रेम की व्यंजना है। शुक्लजी ने गोपियों के सहज प्रेम और भाव-सौंदर्य पर मुग्ध होकर ७०-८० पृष्ठ की एक भूमिका लिखी है। इस भूमिका में सूर का जीवन-परिचय नहीं है। उनके समय और व्यक्तित्व का भी उल्लेख नहीं है। शुक्लजी ने इसमें मुख्यतः प्रेम और सौंदर्य को ही अपनी समीक्षा का विषय बनाया है। वह सूर को शृंगार और वात्सल्य का ही कवि मानते हैं। इसलिए उन्होंने सूर के भाव-पक्ष को ही स्पष्ट किया है। इसे हम उनकी प्रभाववादी समीक्षा के अन्तर्गत स्थान दे सकते हैं।

(२) अनूदित साहित्य—शुक्लजी ने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ अनुवादों से ही किया था। अनुवाद करने में वह कुशल थे। वह अपने अनुवादों को ज्यों-का-त्यों न रखकर अपने देश और जाति की संस्कृति के अनुकूल बनाने में सिद्धस्त थे। वह मूल ग्रन्थों की त्रुटियों को भी अपने अनुवाद में शुद्ध कर देते थे। उन्होंने दो भाषाओं से अनुवाद किया है: (१) बंगला और (२) अँगरेजी। अँगरेजी तथा बंगला से उन्होंने उन्हीं पुस्तकों का अनुवाद किया है जो अपने

विषय के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। विषय की दृष्टि से इनकी चार श्रेणियाँ हो सकती हैं : (१) शिक्षात्मक, (२) दार्शनिक, (३) ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक और (४) साहित्यिक। शिक्षात्मक श्रेणी में 'राज्य-प्रबन्ध-शिक्षा' और 'आदर्श जीवन' का स्थान है। इनमें से पहला राजा सर टी० माधवराव के 'माइनर हिंट्स' का अनुवाद है और दूसरा स्माइल के 'प्लेन लिविंग एंड हाई थिंकिंग' का। दार्शनिक विषय के अन्तर्गत 'विश्व-प्रपंच' आता है। यह प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हैकल की अत्यन्त विख्यात पुस्तक 'रिडिल आफ् दि यूनिवर्स' का रूपान्तर है। इसके अनुवाद में शुक्लजी ने भारतीय सूझ-बूझ से काम लिया है। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विषय के अन्तर्गत 'मेगास्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन' आता है। यह डी० श्वान-बक के 'मेगस्थनीज इंडिका' का अनुवाद है। साहित्यिक विषय के अन्तर्गत शुक्लजी के अनुवाद विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। ये दो प्रकार के हैं : (१) गद्यानुवाद और (२) पद्यानुवाद। 'कल्पना का आनन्द' और 'शशांक' उनके गद्यानुवाद हैं। 'बुद्ध-चरित' उनका पद्यानुवाद है। इन अनुवादों में भी उन्होंने भारतीय रीति-नीति को ही सामने रखा है। इसलिए इनमें भी मौलिक रचनाओं का-सा आनन्द आता है।

(३) निबन्ध-साहित्य—शुक्लजी हिन्दी के प्रसिद्ध निबन्धकार हैं। हम बता चुके हैं कि उन्होंने हिन्दी-साहित्य को जितने प्रकार की रचनाएँ भेंट की हैं उन सबको प्रस्तुत करने की प्रतिभा का बीज उनमें पहले से ही विद्यमान था जो उत्तरोत्तर विकसित होकर पूर्णावस्था को प्राप्त हुआ। उनके निबन्धों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। उनके प्रारम्भिक निबन्धों में 'साहित्य', 'भाषा की शक्ति', 'उपन्यास', आदि की गणना की जाती है। इन निबन्धों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है उनमें उन सभी प्रकार के विषयों पर निबन्ध प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति एवं क्षमता आरम्भ से ही है जिन विषयों पर लिखे निबंध 'चिंतामणि' में संगृहीत हैं। इस प्रकार उनके प्रौढ़ निबन्ध उनके प्रारम्भिक निबन्धों के विकसित रूप ही हैं। 'चिंतामणि' प्रथम भाग में उनके जो निबन्ध संगृहीत हैं उनको हम दो श्रेणियों में

विभाजित कर सकते हैं : (१) मनोवैज्ञानिक और (२) समीक्षात्मक। समीक्षात्मक निबन्धों की भी दो श्रेणियाँ है (१) सैद्धान्तिक समीक्षा के निबन्ध और (२) व्यावहारिक समीक्षा के निबन्ध। 'कवि क्या है', 'काव्य में लोक मगल की साधनावस्था' आदि सैद्धान्तिक समीक्षा के निबन्ध हैं और 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'तुलसी का भक्ति-मार्ग' आदि व्यावहारिक समीक्षा के निबन्ध हैं। इन निबन्धों में शुक्लजी का व्यक्तित्व स्पष्ट दिखायी देता है। इनके अतिरिक्त उनके मनोवैज्ञानिक निबध है। इनमें 'उत्साह', 'क्रोध', 'घृणा', 'भय' आदि मनोविकारों पर जो निबन्ध लिखे गए हैं वे भाषा, शैली और विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से किसी भी साहित्य का मस्तक ऊँचा कर सकते हैं। शुक्लजी ने अपने इन निबन्धों में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन न करके मुख्यतः साहित्य के उन स्थायी भावों को अभिव्यक्त किया है जिनका उन्हें व्यक्तगत अनुभव है। इस प्रकार उनके मनोवैज्ञानिक निबन्ध कोरे मनोवैज्ञानिक निबध न होकर विचारात्मक निबध हैं और उनका जीवन के साथ घनिष्ट सबध है। उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर ही इन निबधों की रचना की है। इनमें मानवीय वृत्तियों की मीमासा तो है, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की छान-बीन नहीं है। यही कारण है कि इनमें हमें अन्तः निरीक्षण और बाह्य निरीक्षण का सुदर समन्वय मिलता है। संक्षेप में उनके मनोवैज्ञानिक निबध जीवन के निबध हैं और इसीलिए वे रोचक हैं। उनकी आलोचना करते हुए गुलाबराय ने लिखा है—'ये मनोवैज्ञानिक होते हुए भी अपने लक्ष्य में आचार-सबधी हैं। इनमें उस लोक-मगल और लोक-सग्रह की भावना निहित है जिसके कारण आचार्य शुक्लजी ने गोस्वामी तुलसीदास को अपना आदर्श कवि माना।'

'चिन्तामणि' द्वितीय भाग में उनके तीन निबंध हैं : (१) काव्य में प्राकृतिक दृश्य, (२) काव्य में रहस्यवाद और (३) काव्य में अभिव्यंजनावाद। इन निबधों को भी हम सैद्धान्तिक समीक्षा के निबध कह सकते हैं। इनमें विवेचना और आलोचना, दोनों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इनके अध्ययन से शुक्लजी के आलोचनात्मक मानदण्ड

एकत्र किए जा सकते हैं। प्रकृति-चित्रण में वह अतिशयोक्ति को हास्यास्पद समझते हैं। इसी प्रकार आधुनिक रहस्यवादियों की आलोचना करते हुए वह लिखते हैं—'जिस तथ्य का हमें ज्ञान नहीं, जिसकी अनुभूति से वास्तव में हमें कभी स्पन्दन नहीं हुआ उसकी व्यंजना का आडम्बरपूर्ण रचना कर दूसरों का समय नष्ट करने का हमें अधिकार नहीं। जो कोई कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति में हम मतवाले हो रहे हैं उसे काव्य-क्षेत्र से निकल कर मवालों के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए।' कहना न होगा कि यह उनपर द्विवेदी-युग का प्रभाव है। नन्द-दुलारे वाजपेयी ने अपनी रचना 'हिन्दी-साहित्य बीसवीं सदी' में इस ओर दृष्टिपात करते हुए लिखा है—'अन्त में हम फिर कहेंगे कि शुक्ल जी की सारी विचारणा द्विवेदी-युग की व्यक्तिगत, भावात्मक और आदर्शोन्मुख नैतिमत्ता पर स्थित है। समाज-शास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की मीमांसा उन्होंने नहीं की है। प्रवृत्ति-विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य है।' प्रभाकर माचवे अपनी रचना 'हिन्दी-निबन्ध' में लिखते हैं—'इस प्रकार रामचन्द्र शुक्ल के पास भाषा-शैली, विचारों की सुस्पष्टता, खण्डन-मण्डनात्मक वाद-विवादपूर्ण विषय-प्रतिपादन आदि गुण होते हुए भी, उनके निबन्ध शुद्ध आत्म-निबंधों की कोटि में नहीं आ पाए, इसका कारण उनका कसा हुआ मर्यादावादी दृष्टिकोण था। एक कुशल निबन्ध-लेखक के लिए यह आवश्यक है कि वह मर्यादा को कुछ तोड़े भी, कुछ उन्मुक्त उड़ान ले सके। परन्तु मैथ्यू आरनाल्ड की भाँति शुक्रजी अपने निबन्धों में अपनी शुद्धतावादिता के आग्रह से बराबर चिपटे रहे और परिणाम स्पष्ट है कि उनके निबन्धों में वह काव्यात्मकता नहीं आ पाई, वह सहज विश्रंभालाप वहाँ लक्षित नहीं होता।' स्पष्ट है कि नैतिकतापूर्ण आचार-विचार को अधिक महत्त्व देने के कारण उनके निबन्धों में दोष आगया है, परन्तु इसके लिए वह दोषी नहीं है। यह उनपर युग का प्रभाव है। वह अपने युग के प्रभाव से बंधे हुए थे। इसके अतिरिक्त उनके जातीय संस्कार और तुलसी के मर्यादावाद

का उनपर इतना अधिक प्रभाव था कि वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। इस बात को सामने रखकर जब हम उनकी निबन्ध-कला पर विचार करते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने ऊपर पड़े हुए प्रभावों को निबन्ध आदि के माध्यम से व्यक्त करने में पूरी ईमानदारी से काम लिया और इसलिए वह अपने युग के एक सच्चे एवं निर्भीक कलाकार थे।

(४) आलोचना-साहित्य—शुक्लजी हिन्दी में आधुनिक समालोचना-शैली के जन्मदाता थे। वह द्विवेदी-कालीन लेखक थे और उनका भाव मुख्यतः भारतेन्दु-कालीन साहित्यकारों से था, पर उनकी आलोचना न तो भारतेन्दु-कालीन थी और न द्विवेदी-कालीन। आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने अपनी शैली का स्वयं निर्माण किया था। इसलिए उनकी आलोचना-शैली पर उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। उनकी साहित्यिक समीक्षाएँ प्रायः विश्लेषणात्मक होती हैं। इसलिए वह अपनी आलोचना में आरम्भ से अंत तक गहन बने रहते हैं। वह साहित्य के गंभीर मीमांसक हैं। इसलिए वह साहित्य-सिद्धांत और आलोचना—दोनों प्रस्तुत करते हैं। उनके कुछ अपने काव्य-सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर ही उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी की आलोचनाएँ खड़ी की हैं।

शुक्लजी की आलोचनाएँ दो प्रकार की हैं : (१) सैद्धान्तिक और (२) (२) व्यावहारिक। उनकी सैद्धान्तिक आलोचनाएँ विश्लेषणात्मक हैं। उनमें उनका अध्ययन, उनका चिन्तन, उनका निरीक्षण, उनका मार्मिक-काव्य-दृष्टिकोण सब कुछ है। आलोचना के भेदों में इस प्रकार की आलोचना 'विवेचनात्मक आलोचना' कही जाती है। इसका प्रतिमान आलोच्य होता है। इसमें समीक्षक अपनी रुचि अथवा सिद्धान्त का आरोप नहीं करता, वह तटस्थ होकर उसका विवेचन करता है। शुक्लजी मुख्यतः इसी प्रकार के आलोचक हैं। वह पहले सूत्ररूप में आलोच्य विषय की मूलभूत विशेषता प्रस्तुत करते हैं, फिर उसकी विस्तृत व्याख्या करते हैं और व्याख्या को बोधगम्य बनाते हुए उद्धरण देकर अंत में उनका सारांश दे देते हैं। इस प्रकार वह विवेचनात्मक आलोचना का ही समर्थन और

प्रतिपादन करते हैं। 'भावात्मक आलोचना' के वह समर्थक नहीं हैं। इसका सम्बंध वह आलोचक के हृदय पर पड़े हुए प्रभावों से मानते हैं।, इसलिए वह व्यक्तिगत होती है। वस्तुतः आलोचना केवल आलोचक की ही वस्तु नहीं, वह उनके अन्य पाठकों से भी सम्बंध रखती है। उसे ऐसे रूप में होना चाहिए जिससे अनेक व्यक्तियों को रचना समझने में सहायता मिले। आलोचना के इसी स्वरूप को दृष्टि में रखकर उन्होंने 'विवेचनात्मक आलोचना' का समर्थन किया है। इसके साथ ही उन्होंने 'निर्णयात्मक आलोचना' का भी पक्ष लिया है और समीक्षा-साहित्य में उसकी भी आवश्यकता एवं उपयोगिता बताई है। उनकी दृष्टि में 'आलोचना' के लिए विद्वता और प्रशस्त रुचि—दोनों आवश्यक हैं। विद्वता का सम्बंध 'निर्णयात्मक आलोचना' से है और रुचि का प्रभावात्मक आलोचना से।' अपने इस विचार के अनुसार उन्होंने काव्य पर ही विशेष रूप से विचार किया है। काव्य का कोई प्रकार अथवा अंग ऐसा नहीं है जिस पर उनकी दृष्टि न गयी हो। काव्य से सम्बद्ध रस-सिद्धांत पर भी उन्होंने विचार किया है। साहित्य के अन्य अंग—नाटक, कहानी, उपन्यास, निबंध आदि का उन्होंने सिंहावलोकन ही किया है। इन पर जम कर विचार नहीं हुआ है। 'साहित्य', 'उपन्यास', भाषा की शक्ति,' 'काव्य में रहस्यवाद' में उनकी 'विवेचनात्मक आलोचना' का रूप देखा जा सकता है।

गुप्तजी ने अपनी रुचियों का प्रदर्शन अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में किया है। इस प्रकार का रुचि-प्रदर्शन निर्णयात्मक समीक्षा के अन्तर्गत आ सकता है। अतः उनकी 'व्यावहारिक आलोचनाएँ' भी विवेचनात्मक ही हैं। इन आलोचनाओं में उन्होंने जिस सिद्धान्त पर अधिक बल दिया है वह है उनका 'लोक-धर्म'। सूर, तुलसी और जायसी, इन तीनों प्रमुख आलोचनाओं में उनकी दृष्टि लोक-पक्ष पर ही रही है। इसलिए उनकी ये आलोचनाएँ 'व्यावहारिक आलोचनाएँ' कही जाती हैं। उनकी इस प्रकार की आलोचनाओं में बुद्धि और हृदय का उचित संतुलन, गुण-

रोप का सम्यक् विवेचन, बीच-बीच में काव्य-शास्त्री प्रश्नों की ओर संकेत, दार्शनिक विषयों की विस्तृत व्याख्या तथा स्वसम्मति के प्रति दृढ़ निष्ठा है। इसलिए उनकी ऐसी आलोचनाएँ शुद्ध विवेचनात्मक न होकर 'ऐतिहासिक', 'तुलनात्मक', प्रभावात्मक, तथा 'निर्णयात्मक', आलोचनाओं का समन्वित रूप प्रस्तुत करती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्लजी की सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक—दोनों ढङ्ग की आलोचनाएँ हिन्दी के उस युग में अत्यन्त नवीन हैं। उसमें जो दुरूहता है वह उनके चिन्तन का परिणाम है और जो सरलता है वह उनके हृदय का। उनकी आलोचनाएँ स्पष्ट हैं। वह रचनाकार का हृदय टटोलते हैं, उस पर पड़े हुए प्रभावों का पता लगाते हैं, उसके वातावरण की छान-बीन करते हैं और इसके साथ ही उसके हृदय-पक्ष तथा कला पक्ष पर भी विचार करते हैं। वह किसी रचनाकार को सामाजिक, राजनीतिक तथा ऐतिहासिक विवेचना के पश्चात् देखते हैं। इससे उनकी आलोचना सम्पूर्ण होती है। आज आलोचना के मानदण्ड बदल गए हैं, उसकी शैली में परिवर्तन हो गया है, फिर भी हम उनकी आलोचनाओं से उत्प्रेरित और प्रभावित हैं।

शुक्लजी के निबन्धों की विशेषताएँ

अब शुक्लजी के निबन्धों की विशेषताओं पर विचार कीजिए। शुक्लजी के निबंधों की विशेषता यह है कि उनका जीवन से घनिष्ठ संबंध है। साहित्य और जीवन का जैसा सुन्दर समन्वय हमें उनके निबन्धों में देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इससे उनमें विषय और व्यक्ति का अपूर्व सामञ्जस्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि उनके निबन्ध न तो विषय-प्रधान हैं और न व्यक्ति-प्रधान। अपने निबन्धों में आवश्यकतानुसार उन्होंने इन दोनों का बड़े कौशल से निर्वाह किया है। उनके जो निबन्ध विषय-प्रधान दीखते हैं उनमें भी उनके व्यक्तित्व की झाँकी इतनी स्पष्ट है कि हम उन्हें विषय-प्रधान नहीं कह सकते।

शुक्लजी में भारतीय शास्त्र के प्रति अनन्य आस्था है। इसलिए

उनके निबंधों में हमें बराबर इस आस्था का अनुभव होता रहता है। उनके समीक्षात्मक निबन्ध तो भारतीय शास्त्र पर ही आधारित है। 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप', 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था', 'मानस की धर्म-भूमि' आदि निबन्धों में उन्होंने अपना जो मत अभिव्यक्त किया है वह सोलह आने भारतीय है। शुक्लजी ने अपने निबन्धों में वैयक्तिक एवं मानवीय तत्वों का बड़ी सफलतापूर्वक समन्वय किया है। 'वैयक्तिक तत्व का सम्बन्ध लेखक के व्यक्तित्व के भावात्मक अंश से होता है और मानवीय तत्व के अन्तर्गत वह सब कुछ आ जाता है जो उन का समान रूप से अनुभूति का विषय बन सकता है'। शुक्लजी के निबन्धों में इन दोनों तत्वों का समावेश है। उनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों में इन तत्वों का बड़ा ही सुन्दर समन्वय हुआ है। उनमें है तो मानवीय तत्वों की प्रधानता, पर वैयक्तिक तत्वों ने उनमें जान डाल दी है और वे सरस हो गए हैं। शुक्लजी के निबन्धों में विचारों की सम्बद्धता है। उन्होंने सदैव एक विचार को दूसरे विचार से सम्बद्ध रखने का प्रयत्न किया है और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। इसके साथ ही उनमें हास्य, व्यंग और विनोद का पुट है। अवसर आने पर वह इससे नहीं चूकते। इस प्रकार हास्य, व्यंग और विनोद के नियोजन-द्वारा उन्होंने अपने निबंधों में रोचकता उत्पन्न की है और इसके लिए उन्होंने उर्दू का आश्रय लिया है। उनके निबंधों में बुद्धि-पक्ष के साथ-साथ हृदय-पक्ष का भी उचित संतुलन है। यही कारण है कि उनके विचारात्मक निबंधों में प्रसंग उपस्थित होने पर भावात्मकता का भी अत्यन्त सुन्दर आयोजन हुआ है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त उनकी प्रतिपादन और भाषा-शैली में एक विचित्र मधुरता, ओजस्विता तथा विशालता है जिसके द्वारा उनकी उड़ान, उनके विकास तथा उनकी समग्रता में भावात्मकता दृष्टिगत होती है।

शुक्लजी के निबंध विचारात्मक निबंध हैं। विचारात्मक निबंधों को प्रस्तुत करने की प्रायः दो शैलियाँ होती हैं : (१) आगमन शैली और (२) निगमन-शैली। आगमन-शैली के अनुसार निबंधकार अपने विचारों को

विवेचना एवं व्याख्या करने के पश्चात् प्रघट्टन के अंत में उनका निष्कर्ष दे देता है, पर निगमन-शैली इसके बिलकुल विपरीत है। निगमन-शैली के अनुसार प्रघट्टन के प्रारम्भ में ही सूत्ररूप में सिद्धांतों को व्यक्त किया जाता है और तत्पश्चात् उनका प्रतिपादन उदाहरणों, उद्धरणों और तर्कों-द्वारा किया जाता है। इस शैली में विचारात्मक निबंध ही लिखे जाते हैं। शुक्लजी ने इसी शैली में अपने निबंधों की रचना की है। उनमें सूत्र रूप में कहने की अद्भुत क्षमता है। यह उनकी रचना-कौशल का द्योतक है। इन विशेषताओं के साथ-साथ उन्होंने अपने निबंधों में प्रसंग-गर्भत्व को भी उचित स्थान दिया है और विषय को स्पष्ट, रोचक तथा आकर्षक बनाने के लिए कथाओं का भी सन्निवेश किया है।

शुक्लजी की भाषा

शुक्लजी की भाषा प्रधानतः शुद्ध खड़ीबोली है, पर ब्रजभाषा पर भी उनका समान अधिकार है। उनकी कविता खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों में है। ब्रजभाषा में वह प्राचीन काल की प्रचलित पदावली के प्रयोग के पक्षपाती नहीं थे। अतः उनकी ब्रजभाषा आजकल की प्रचलित ब्रजभाषा से मिलती है। उसमें वही माधुर्य, वही ओज और वही सरसता है जिसके लिए ब्रजभाषा प्राचीन काव्य-क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाए हुए है।

शुक्लजी की खड़ीबोली अत्यंत संयत, परिष्कृत, प्रौढ़ और साहित्यिक है। उनकी व्यक्तिगत गंभीरता उनकी भाषा में सर्वथा व्याप्त रहती है। उसमें एक प्रकार का सौष्ठव-विशेष है जो अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी भाषा चमत्कारपूर्ण होती है। हिन्दी में वह विशुद्धता और उसकी स्वतंत्र अभिव्यंजन-शक्ति के पक्षपाती थे। वह चाहते थे, हिन्दी-भाषा को सभी विषयों की व्याख्या के योग्य बना देना। इस उद्देश्य से उन्होंने अपनी भाषा को विभिन्न साहित्यिक विषयों के अनुकूल बनाने की चेष्टा की और इसमें उन्हें पूरी सफलता मिली। उनकी भाषा में जो संयम, जो शक्ति और जो गम्भीरता है उसमें उनका अपनत्व है। इसीलिए कई लेखकों की भाषा के बीच उनकी भाषा बिना किसी प्रयास के आसानी से पहचानी जा सकती

है। उनकी भाषा में नाममात्र को भी कहीं शिथिलता नहीं मिलती। वह जो कुछ लिखते हैं नपी-तुली भाषा में लिखते हैं। उनके शब्द उनके भावों के सच्चे प्रतिनिधि और उनके वाक्य उनके विचारों के सच्चे प्रतीक होते हैं। वह प्रत्येक शब्द का चयन बड़ी सावधानी से करते हैं। इसलिए उनकी रचनाओं में एक भी शब्द, एक भी वाक्य असंगत प्रतीत नहीं होता।

शुक्लजी की भाषा के दो रूप हैं (१) क्लिष्ट और (२) सरल एवं व्यावहारिक। गम्भीर विषयों तथा आलोचनात्मक निबंधों में उनकी भाषा संस्कृत-गर्भित होने के कारण जटिल और क्लिष्ट हो गयी है। यह स्वाभाविक ही है। गम्भीर विषयों के चिंतन एवं स्पष्टीकरण में भाषा की जिस संयम और जिस शक्ति की आवश्यकता होती है शुक्लजी ने उसका बड़ी सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। इसके विपरीत उनकी सरल और व्यावहारिक भाषा उनके कतिपय मनोवैज्ञानिक निबन्धों में मिलती है। भाषा के इन दोनों रूपों पर उनका पूरा अधिकार है। वह सरल और क्लिष्ट दोनों प्रकार की भाषा अधिकारपूर्वक लिख सकते हैं।

हम बता चुके हैं कि शुक्लजी की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है। अप्रचलित, अप्रयुक्त और शक्तिहीन शब्दों का प्रयोग उन्होंने कहीं नहीं किया है। उन्होंने हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ाने के लिए नवीन शब्दों का निर्माण भी किया है और अनेक अप्रचलित शब्दों का संस्कार और पुनरुद्धार भी। इससे उन्हें अपने विषय के प्रतिपादन एवं स्पष्टीकरण में सहायता मिली है। इसके साथ ही उनकी भाषा में लाक्षणिकता भी आयी है और उसे बल मिला है।

शुक्लजी ने अपनी भाषा में विदेशी शब्दों का भी प्रयोग किया है। उनकी भाषा में अँगरेज़ी और उर्दू के शब्द भी मिलते हैं। अँगरेज़ी शब्दों का प्रयोग उन्होंने केवल ऐसे स्थलों पर किया है जहाँ किसी भाव, विचार अथवा अभिप्राय को पाश्चात्य दृष्टिकोण से व्यक्त करने के लिए उन्हें संस्कृत में उपयुक्त शब्द नहीं मिले हैं। इसी प्रकार उर्दू शब्दों का प्रयोग उन्होंने हास्य एवं व्यंग को चुटीला, मार्मिक और मनोविनोदक बनाने के लिए

समस्याओं से प्रभावित होकर इतिहास की घटनाओं का चयन करता है और उन्हें उपन्यास का रूप देता है। अपने इस दृष्टिकोण को सफल बनाने के लिए वह प्रायः दो विधियों में से किसी एक का अनुसरण करता है। पहली विधि के अनुसार वह अतीत को अतीत की दृष्टि से प्रस्तुत करता है। उसमें वह वर्तमान का चित्रण नहीं करता। उसका उद्देश्य होता है, अतीत की ओर जन रुचि को प्रेरित करना और वर्तमान की समस्याओं के हल के लिए उसमें स्फूर्ति एवं चेतना प्राप्त कर जन-जीवन के बीच उसका प्रसार करना। इसके विरुद्ध दूसरी विधि के अनुसार वह अतीत की पृष्ठभूमि पर वर्तमान की समस्याओं का चित्रण करता है। तात्पर्य यह कि वर्तमान युग की सभी महत्वपूर्ण समस्याएँ अतीत के रूप में हमारे सामने आती हैं और हम पर अपना सीधा प्रभाव डालती हैं। पहली विधि रूढ़िवादी है, दूसरी प्रगतिशील। पहली विधि के अनुसार जहाँ हमें अतीत की घटनाओं के अध्ययन से केवल चेतना और स्फूर्ति मिलती है वहाँ दूसरी विधि के अनुसार हमें चेतना और स्फूर्ति के साथ-साथ अपनी समस्याओं को हल करने का स्पष्ट विधान भी मिलता है। वर्माजी इसी दूसरी विधि के ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में उन्होंने अपने इतिहास को दो रूपों में प्रस्तुत किया है। उसका एक रूप तो वह है जिसमें ऐतिहासिक सत्य की रक्षा की गई और ऐतिहासिक पात्रों एवं घटनाओं को कल्पना के स्पर्श से सजीव और सुसम्बद्ध बनाया गया है। उसका दूसरा रूप वह है जिसमें वातावरण तो अतीत कालीन है, पर उसमें सँजोई घटनाएँ और उन घटनाओं से सम्बंधित सभी पात्र काल्पनिक हैं। इस प्रकार पहले में जहाँ ऐतिहासिक सत्य का अंश मुख्य और कल्पना का अंश गौण होता है, वहाँ दूसरे में कल्पना का अंश मुख्य और ऐतिहासिक सत्य का अंश गौण हो जाता है। वर्माजी के उक्त दोनों प्रकार के ऐतिहासिक उपन्यास सजीव और कलात्मक हैं। इतिहास की सामग्री को उपन्यास का रूप देने में उनकी कला बेजोड़ है।

कथानक की दृष्टि से वर्माजी अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में अधिक

सफल हुए हैं। उनके सभी उपन्यास वृहदकाय हैं। आकार में बड़े होने के साथ उनका कथा सूत्र भी लम्बा है। परन्तु वह अपने कथानक की सृष्टि में, कहीं भी उखड़े-पुखड़े नहीं हैं। उनके कथानक में आधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिक कथाएँ जमकर बैठी हैं और कथा-सूत्र में शृंखला कहीं भी टूटी नहीं है। प्रासंगिक कथाएँ मूल कथानक को गतिशील बनाने में समर्थ हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में भावना की अपेक्षा तथ्य का ही प्राधान्य रहता है। उनमें दूरस्थ अतीत जीवन की मनोरम झाँकी देकर उस तथ्य को अपनी कल्पना से कथानक के रूप में उपस्थित कर देना ही उपन्यासकार का चरम लक्ष्य होता है। जिन अनेक छोटी, किन्तु मार्मिक घटनाओं को इतिहासकार तुच्छ और साधारण समझकर त्याग देता है, उपन्यासकार उन्हीं को बटोरकर एक सूत्र में पिरोता है और उन्हें जीवन देने में समर्थ होता है। इस प्रकार वह इतिहास के कंकाल में नवीन प्राण की प्रतिष्ठा करता है और अपनी भावुकता और कल्पना के समुचित प्रयोग से अतीत के धुँधले और अस्पष्ट चित्रों को आलोकित, स्पष्ट और शृंखलित करता चलता है। वर्माजी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में इसी उद्देश्य की, पूर्ति की है। उन्होंने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के विशेष सत्य और साहित्य के शाश्वत सत्य की एक साथ रक्षा की है। कथानक-द्वारा ऐतिहासिक वातावरण के संरक्षण एवं कल्पना-द्वारा मूल कथानक की रोचकता और रमणीयता की वृद्धि में ही उनकी औपन्यासिक प्रतिभा का विकास हुआ है। वह अपने कथानक की सीमा से भी परिचित हैं। भारतीय इतिहास के केवल एक युग पर ही उनकी दृष्टि नहीं लगी है। उन्होंने उसके मुस्लिम काल और अँगरेजी शासन-कालीन दोनों युगों से अपने कथानक की सामग्री एकत्र की है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी अधिकांश ऐतिहासिक घटनाएँ बुन्देलखण्ड की सीमा तक ही परिमित हैं और इसीलिए उनका क्षेत्र अपेक्षाकृत संकुचित है, पर अपने इसी संकुचित क्षेत्र के भीतर उन्होंने अपनी कला में वह मार्मिकता ला दी है जो विस्तार की बहुलता में सम्भव न होती। अपनी कल्पना को सजीव करने के लिए उन्होंने

बुन्देलखण्ड के ऐतिहासिक स्थानों का भौगोलिक ज्ञान भी प्राप्त किया है वास्तविक निरीक्षण के आधार पर उनका भौगोलिक वर्णन और तत्सम्बन्धी वातावरण का चित्रण प्रसंगानुसार रोचक और कथा-वस्तु की सामाजिक धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को हृदयगम कराने में सहायक होता है। उनके कथानक में आनेवाले सभी स्थल स्वाभाविक रूप से विस्तार के साथ पाठकों के सामने उपस्थित होते हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में वीरता का चित्रण, प्रेम का पराक्रम और इतिहास के कंकाल में जीवन के संचार के साथ-साथ उस युग की आत्मा का दर्शन कराने की भी सफल चेष्टा की है। ऐतिहासिक रोमांस उनके उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता है। वह रोमांस-प्रिय उपन्यास-कार है। उनका रोमांस गंभीर और त्याग की भावना पर आश्रित है। उसमें छिछोरापन और असंयम नहीं है। प्रेम की धारा उनके सभी उपन्यासों में प्रवाहित हुई है। इतिहास के आधार से सुगठित प्रेम कहानी की सजीव और मर्मस्पर्शी उद्भावना में वह अकेले हैं। इसलिए उन्हें अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में कहीं-कहीं इतिहास से अधिक कल्पना, जन-श्रुति और परम्परा का सहारा लेना पड़ा है। संक्षेप में उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में कथानक की यही विशेषताएँ हैं।

वर्माजी के सामाजिक उपन्यास वर्तमान परिस्थितियों को लेकर आगे बढ़े हैं। उनमें सामाजिक विषमताओं, सामाजिक कुरीतियों और सामाजिक चेतनाओं का सूक्ष्म एवं सश्लिष्ट चित्रण तथा विवेचन हुआ है। इसके साथ ही उनमें हमारी राष्ट्रीय चेतनाओं तथा भावनाओं को भी स्थान मिला है। ऐसी भावनाएँ गौण रूप से ही प्रमुख समस्याओं का उद्घाटन और प्रकाशन करती हैं। जीवन की रंगीनियाँ और उसकी विषमताओं का भी वर्माजी को ज्ञान है और इनका अंकन उन्होंने कल्पना-पूर्ण ढंग से किया है। उनके सामाजिक उपन्यासों में पारिवारिक समस्याएँ ही अधिकांश चित्रित हुई हैं जिनमें से कुछ तो वास्तविक हैं और शेष कल्पित। देश-व्यापी सामाजिक समस्याएँ उनके उपन्यासों में नहीं हैं।

इस प्रकार उनके सामाजिक उपन्यासों का क्षेत्र भी संकुचित और सीमित है। प्रेम का चित्रण इन उपन्यासों में भी मिलता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वर्माजी को अपने दोनों प्रकार के उपन्यासों में पूरी सफलता मिली है। उन्होंने अभिनयात्मक ढंग से भी चरित्र-चित्रण किया है और कार्यों-द्वारा भी। उन्होंने दुर्जन और सज्जन दोनों प्रकार के पात्रों को अपनाया और उनका चारित्र-चित्रण बड़े कौशल से किया है। उनके उपन्यासों में पात्र भी आवश्यकता से अधिक नहीं हैं। थोड़े से पात्रों को लेकर उनके चरित्र का विकास किया गया है। नारी-विज्ञान के वह अच्छे ज्ञाता हैं, इसलिए स्त्री-पात्र का चरित्रांकन बहुत ही स्वाभाविक हुआ है। उनके पुरुष-पात्र बड़े सफल हैं। अपने चरित्र-चित्रण में उन्होंने यथार्थवाद और आदर्शवाद का समन्वय बड़े कलात्मक ढंग से किया है। उन्होंने यथार्थवादी बनकर न तो वीभत्स चित्रों का अंकन किया है और न आदर्शवादी बनकर पात्रों को असाधारण देवोपम गुणों से विभूषित किया है। उनके पात्रों के व्यक्तित्व में तीन बातों की विशेषताएँ हैं : (१) उनका ऐतिहासिक अथवा सामाजिक व्यक्तित्व, (२) उनका आदर्शोन्मुख व्यक्तित्व और (३) उनका रोमांटिक व्यक्तित्व। अपने पात्रों की इन विशेषताओं का चित्रण करने में वह अत्यन्त सफल हैं।

कथोपकथन की दृष्टि से भी वर्माजी के उपन्यास अत्यन्त सफल हैं। उनके पात्रों के कथोपकथन स्वाभाविक, भावपूर्ण, संयत और शिष्ट हैं। वे जिस वर्ग के, जिस कोटि के और जिस श्रेणी के व्यक्ति हैं उसी के अनुकूल वे अपने आदर्शों को अपने वार्तालाप में रखा करते हैं। वे अपनी बातों को अनावश्यक विस्तार भी नहीं देते। वे उतना ही कहते हैं, जितने से उनका प्रयोजन सिद्ध होता है। अपने कथोपकथन में वे किसी आदर्श की स्थापना भी नहीं करते। वे थोड़े में बहुत कुछ कह जाते हैं और कभी-कभी सांकेतिक भाषा का भी प्रयोग करते हैं। उनमें वाचालता नहीं है, गंभीरता है। वे ऐतिहासिक सत्य की हत्या नहीं करते और देश तथा काल का ध्यान रखते हैं। पर इसके साथ ही वह कल्पना का इतना अधिक

प्रश्रय लेते हैं कि उसके बीच से सत्य खोजना कठिन हो जाता है। उनमें औपन्यासिक वातावरण उत्पन्न करने की अद्भुत क्षमता है। इसलिए वे पाठकों को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कथानक, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण, वातावरण और उद्देश्य—सब की दृष्टि से वर्माजी हिन्दी-जगत के प्रसिद्ध कलाकार हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों-द्वारा हिन्दी के एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। इस दिशा में वह हिन्दी के 'वाल्टर स्काट' हैं। जिस प्रकार 'वाल्टर स्काट' ने अपनी रचनाओं-द्वारा अँगरेजी साहित्य को गौरवान्वित किया है, उसी प्रकार वर्माजी ने हिन्दी का मस्तक ऊँचा उठाया है। उन्होंने अपने उपन्यासों में न तो नये संसार बसाने की कल्पना की है और न नव निर्माण की कोई योजना प्रस्तुत की है। उनका उद्देश्य है अतीत के वैभव को कथा के रूप चित्रण करना। वह अपने इस उद्देश्य में पूर्णतया सफल हैं।

(२) कहानीकार वर्माजी—वर्माजी ने कहानियाँ भी लिखी हैं। उपन्यासों की भाँति उनकी कहानियाँ भी (१) ऐतिहासिक और (२) सामाजिक हैं जो 'हरसिंगार', 'कलाकार का दण्ड', 'दबे पाँव', 'शरणागत' और 'तोष' में संग्रहीत हैं। ऐतिहासिक कहानियों का आधार इतिहास की कोई मार्मिक घटना है जो पात्र-विशेष के जीवन के उज्ज्वल अंश को सामने लाकर राष्ट्रीय, जातीय अथवा वैयक्तिक गौरव का आभास कराती है। कला और चरित्र-विकास की दृष्टि से उनकी इन कहानियों का हिन्दी के कहानी-साहित्य में अच्छा स्थान है। कहानियाँ प्रायः चरित्र-प्रधान हैं जिनमें घटनाओं का विधान आदर्शोन्मुखी है। वर्माजी की आखेट-सम्बन्धी कहानियाँ विशेष आकर्षक, सजीव और सुन्दर हैं। इन कहानियों में उन्होंने पशुओं की प्रकृति का अच्छा चित्र उतारा है। वर्णन-शैली भी रोचक है और घटनाओं में औत्सुक्य एवं नाटकीयता का विधान है। इनकी अपेक्षा सामाजिक कहानियाँ साधारण हैं। इनमें भी आदर्श और यथार्थ का सुन्दर समन्वय है। राष्ट्रीय भावना से भी ये भरी हुई हैं। वर्माजी कहानी-

कार की अपेक्षा ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में ही अधिक सम्मानित हैं। उनकी प्रतिभा एक सफल उपन्यासकार की प्रतिभा है। कहानी-कला में उनकी वह प्रतिभा दब सी गई है। कहानियाँ लिखना उनके साहित्यिक जीवन का मुख्य उद्देश्य भी नहीं है।

(२) नाटककार वर्माजी—उपन्यास और कहानियों की भाँति वर्माजी ने कई नाटकों की भी रचना की है जो कथानक की दृष्टि से या तो (१) ऐतिहासिक हैं, या (२) सामाजिक। उनके नाटकों का भी वही उद्देश्य है जो उनके उपन्यासों का है। उनके ऐतिहासिक नाटकों में 'झाँसी की रानी', 'हंस मयूर', 'पूर्व की ओर', 'फूलों की बोली' तथा 'बीरबल' का मुख्य स्थान है। इनमें से 'पूर्व की ओर' 'हंस मयूर' और 'फूलों की बोली' भारत की प्राचीन संस्कृति पर आश्रित हैं; 'बीरबल' मुगल-कालीन है और 'झाँसी की रानी' उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' के कथानक पर आधारित है। इसका सम्बन्ध सं० १९१४ के स्वतन्त्रता-संग्राम से है। 'पूर्व की ओर' का कथानक अत्यन्त प्राचीन है। इसका सम्बंध ईसवी सन् ८८० से है। इसमें पल्लव राजकुमार अश्वगुप्त से सम्बंधित घटनाओं को नाटकीय रूप दिया गया है। 'हंस मयूर' में विक्रमादित्य के समय की ऐतिहासिक घटनायें हैं। इसमें भारत पर शकों का आक्रमण और आर्य इंद्रसेन-द्वारा मालव का उद्धार नाटकीय विषय है। 'फूलों की बोली' में सं० १०८७ से सम्बन्धित उज्जैन के एक व्यापारी की कथा है। इस प्रकार वर्माजी के ऐतिहासिक नाटकों में भारत के प्राचीन गौरव को विशेष रूप से स्थान मिला है। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में यह विषय अछूता था, ऐतिहासिक नाटकों में इसकी पूर्ति हो गई।

वर्माजी के सामाजिक नाटकों में 'राखी की लाज', 'खिलौने की खोज', 'बाँस की फाँस', 'मंगल-सूत्र' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। 'राखी की लाज' में भाई-बहिन की समस्या, 'खिलौने की खोज' में प्रेम की समस्या, 'बाँस की फाँस' में रूढ़ि-विरोधी विवाह की समस्या और 'मंगल-सूत्र' में नारी-अधिकार की समस्या उठाई गई है। इस प्रकार उनके सामाजिक नाटक

मुख्यतः समस्या प्रधान हैं। समस्याएँ साधारण हैं, परन्तु उनका चित्रण कलात्मक है। 'काश्मीर का काँटा', 'लो माई पचो लो', 'पीले हाथ', 'जहाँदार शाह', 'सगुन' आदि उनके एकांकी-संग्रह हैं। इनमें 'जहाँदारशाह' ऐतिहासिक एकांकी, 'काश्मीर का काँटा' राजनीतिक एकांकी और शेष सामाजिक एकांकी हैं। सामाजिक एकांकी मुख्यतः प्रचारात्मक हैं।

वर्माजी के सभी नाटक घटना-प्रधान हैं। उनके ऐतिहासिक नाटक उनके अध्ययन के परिणाम हैं। उनमें ऐसी घटनाओं का विधान किया गया है जो भारत के प्राचीन गौरव का आभास देने के साथ-साथ वर्तमान को भी गतिशील बनाती और उसे प्रेरणा देती हैं। सामाजिक नाटकों में यथार्थ और आदर्श का समन्वय है। कला की दृष्टि से वर्माजी ने अपने नाटकों में भारतीय और पाश्चात्य, दोनों कलाओं का समन्वित रूप प्रस्तुत किया है। उनके कथानक भारतीय हैं, उनके आदर्श भारतीय हैं, उनमें भारतीय प्राण प्रतिष्ठा भी है, परन्तु उनका बाह्य रूप पाश्चात्य है। प्रायः सभी नाटकों की कथा-वस्तु अंकों और दृश्यों में विभाजित है। अंकों को दृश्यों में विभाजित करते समय वर्माजी ने रंगमंच की आवश्यकताओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया है। उन्होंने आवश्यकतानुसार रंग-संकेत भी दिए हैं। रंगमंच की आवश्यकताओं पर ध्यान देने के कारण उन्होंने अंकों और दृश्यों की छोटाई-बड़ाई पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार नहीं किया है। कोई दृश्य बहुत छोटा है, कोई बहुत बड़ा। उनमें छोटाई-बड़ाई के अनुसार क्रम भी नहीं है। परन्तु इस दोष के कारण उनके कथानक के प्रवाह में दोष नहीं आने पाया है। दृश्यों के विधान में उन्होंने कथानक के स्वाभाविक विकास पर ही विशेष ध्यान दिया है। इससे उनके कथानक में जिज्ञासा, कौतूहल, विस्मय, हर्ष-विषाद आदि का उचित समावेश हो सका है। दृश्य के भीतर दृश्य प्रस्तुत करना उनकी नाट्य-कला की एक विशेषता है। उनकी इस कला पर सिनेमा का प्रभाव है। इसलिए उनके ऐसे दृश्य साधारण रंगमंच पर नहीं दिखाए जा सकते। 'पूर्व की ओर', 'हंस मयूर', 'बीरबल' और 'राखी की लाज' साधारण रंगमंच पर खेले जाने योग्य नहीं

हैं। फिर भी थोड़ी काट-छाँट के पश्चात् वे अभिनय के योग्य बन सकते हैं।

वर्माजी हिन्दी के प्रथम श्रेणी के नाटककार नहीं हैं। उनके नाटकों में बहुत-कुछ सराहनीय है, परन्तु उनकी नाट्य-कला उनकी उपन्यास कला के सामने दब गई है। नाटक-रचना से ही उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ किया, परन्तु उसे पूर्णता मिली एक उपन्यासकार के रूप में। वह हिन्दी के ठोस उपन्यासकार हैं।

वर्माजी और प्रेमचन्द तुलनात्मक अध्ययन

यहाँ तक तो हुआ वर्माजी की कला-कृतियों के सम्बंध में। अब हम प्रेमचंद से उनकी तुलना में उपस्थित करेंगे। प्रेमचंद के सम्बध में हम पढ़ चुके हैं कि आरम्भ से अंत तक उनका जीवन संघर्षमय रहा है। जीवन की ऐसी विषम परिस्थितियों में ही उनकी प्रतिभा का विकास हुआ है। इसीलिए हम उनके उपन्यासों में जीवन-व्यापी संघर्ष पाते हैं। उनके उपन्यासों में जो हास्य और रुदन, आह और वाह है वही उनकी आत्मा का स्वर है। उन्होंने न तो भविष्य का स्वप्न देखा है और न भूत की चिंता की है। उन्होंने अपने वर्तमान को देखा है और उसी काल के सामाजिक जीवन की झाँकियाँ उन्होंने उतारी हैं। हिन्दी के वह सर्वश्रेष्ठ सामाजिक उपन्यासकार हैं। ग्राम्य जीवन का वर्णन जितना सुंदर उनकी रचनाओं में हुआ है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने महलों और राजप्रासादों को भी देखा है और दरिद्र की झोंपड़ियों को भी। इसलिए उनके कथा-साहित्य में हमें जीवन की विविधता मिलती है। उन्होंने ही सर्वप्रथम हमारे सामाजिक प्रश्नों और समस्याओं को समस्त देश के जीवन-मरण के रूप में संसार के सामने प्रस्तुत किया है और उन्हें मुसलमानों की आवाज उठाई है। इस दृष्टि से हिन्दी कथा-साहित्य के गणतंत्र-युग के वह सर्वश्रेष्ठ जन-प्रतिनिधि हैं।

वर्माजी प्रेमचंद के ठीक विपरीत हैं। दोनों में न तो जीवन की परिस्थितियों का साम्य है और न अध्ययन की प्रणालियों में। वर्माजी के जीवन में न तो वह संघर्ष है और न वह आह और कराह है जो प्रेमचन्द के जीवन

का सर्वस्व है। इसलिए दोनों की औपन्यासिक प्रतिभा दो विभिन्न दिशाओं की ओर उन्मुख हुई है। एक ने अपने समाज को पहचाना है, दूसरे ने अपने इतिहास को, एक ने सामाजिक संघर्षों के जीवन को चित्रित किया है, दूसरे ने वीरों के उत्कर्ष और प्राचीन संस्कृति की झाँकियाँ प्रस्तुत की है, एक ने वर्तमान को देखा है, दूसरे ने भूतकाल को। इस प्रकार दोनों विभिन्न साहित्यिक क्षेत्रों से गुजरे हैं। अपने कथानकों में दोनों काल्पनिक नहीं हैं। जीवन के वास्तविक भौतिक रूपों का ही अंकन दोनों ने किया है। इसलिए दोनों का कथा-साहित्य घटना प्रधान है। जीवन के घटना-चक्रों को प्रस्तुत करने में दोनों का दृष्टिकोण यथार्थवादी और आदर्शवादी है। पर इसके कारण जहाँ प्रेमचन्द अपने कथानक में कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक विस्तार के कारण उपदेशक-से बन गए हैं वहाँ वर्माजी ने बड़े संयम से काम लिया है। वर्माजी ने अपने सामाजिक उपन्यासों में जीवन की साधारण समस्याएँ उठाई है, परन्तु प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में भारतीय समाज की साधारण और विशेष दोनों प्रकार की समस्याओं को स्थान दिया है। प्रेमचन्द ऐतिहासिक उपन्यासकार नहीं हैं, वर्माजी ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों एक साथ हैं।

पात्रों की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यास वर्गवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। उपन्यासों में उनका प्रत्येक पात्र एक विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधि है और वह उसकी ओर से बोलता है। इसके विपरीत वर्माजी के पात्र व्यक्तिवादी है। व किसी वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करते। वे अपने परिवार से, अपने सीमित क्षेत्र से आगे नहीं बढ़ते। उनके पात्रों में अपनी स्वतंत्र व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं। यही कारण है कि वर्माजी के उपन्यासों में विश्व-व्यापी समस्याओं का चित्रण नहीं हो सका है। उनकी समस्याएँ एक देशीय हैं, एकांगी हैं।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि प्रेमचन्द ने विश्लेषणात्मक तथा अभिनयात्मक दोनों प्रणालियों का प्रयोग किया है। इन दोनों प्रणालियों के अतिरिक्त उन्होंने शरत्बाबू की भाँति

कार्यों-द्वारा भी पात्रों का चरित्र-चित्रण किया है। वर्माजी ने या तो अभिनयात्मक प्रणाली से चरित्र चित्रण किया है या कार्यों-द्वारा। विश्लेषणात्मक प्रणाली-द्वारा चरित्र चित्रण करने में एक तटस्थ की आवश्यकता होती है जो पात्र के चरित्र का विकास होने के पूर्व ही उसके गुण-दोष पर अपनी सम्मति प्रकट कर देता है। वर्माजी ने इस प्रणाली का बहुत कम सहारा लिया है। उनके पात्रों के चरित्र का विकास उनके कथोपकथन अथवा उनके कार्यों-द्वारा ही हुआ है। एक बात और है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में घटनाओं का इतना जमघट और पात्रों की इतनी अधिकता है कि कभी-कभी उनके पात्र उनके नियंत्रण से बाहर हो गए हैं। वर्माजी के पात्रों में यह बात नहीं है। उनके उपन्यासों में न तो घटना-चक्रों का आवश्यकता से अधिक आयोजन है और न पात्रों की भीड़ भाड़। इसलिए वह अपने प्रत्येक पात्र पर पूरा नियंत्रण रखते हैं और भावना के प्रवाह में उन्हें बहने नहीं देते। इसी नियंत्रण के कारण उनके कथोपकथन में जो स्वाभाविकता और पाठकों का जो विश्वास है उसकी हत्या नहीं होने पाती।

एक बात और। वर्माजी और प्रेमचन्द दोनों उपन्यासकार ही नहीं कहानीकार और नाटककार भी हैं। प्रेमचन्द ने जितने उपन्यास लिखे हैं उनसे अधिक कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानी-कला उनकी उपन्यास-कला की अपेक्षा अधिक प्रतिभा-सम्पन्न और आकर्षक है। उन्होंने अपनी कहानियों में सभी वर्तमान शैलियों का प्रयोग किया है और उन्हें अपनी कला का दान दिया है। वर्माजी यहाँ भी ठीक उनके विपरीत हैं। उन्होंने कहानियों की अपेक्षा ऐतिहासिक उपन्यास ही अधिक लिखे हैं और उनमें उन्हें अच्छी सफलता मिली है। उनकी कहानियों में वह प्राण और स्पंदन नहीं है जो उनके उपन्यासों में है। वर्माजी के नाटकों की संख्या प्रेमचन्द के नाटकों की संख्या से अधिक है और इस दिशा में उन्हें अपेक्षाकृत सफलता भी अधिक मिली है।

अब रहा भाषा और शैली की दृष्टि से दोनों का मूल्यांकन। हम कह चुके हैं कि प्रेमचन्द आरम्भ में उर्दू-साहित्य के उपन्यासकार थे। इसलिए हिन्दी

में आने पर वह अपनी उन समस्त विशेषताओं को अपने साथ लेते आये जिनके कारण उनकी उर्दू-शैली प्रख्यात थी। इस प्रकार वह अपनी भाषा और अपनी शैली के स्वयं निर्माता रहे। उनकी भाषा और शैली में जो स्पष्टता, जो प्रवाह, जो लोच, जो आवेग, जो माधुर्य और जो आकर्षण है वह उनकी स्वय की देन है। वर्माजी आरम्भ से ही हिन्दी-प्रेमी रहे हैं, पर उनकी भाषा में प्रवाह और वेग का अभाव है। उसमें सब कुछ है, तल्लीनता नहीं है।

वर्माजी की भाषा

अब हम वर्माजी की भाषा पर विचार करेंगे। हम अभी बता चुके हैं कि वह आरम्भ से ही हिन्दी-प्रेमी रहे हैं। संस्कृत भी उन्होंने पढ़ी है और उसका भी उन्हें अच्छा ज्ञान है। इस कारण वह सर्वत्र प्रायः संस्कृत के तत्सम शब्दों का भावों तथा विचारों के अनुकूल शुद्ध रूप में प्रयोग करते हैं। विदेशी शब्दों का प्रयोग उन्होंने आवश्यकतानुसार ही किया है। उर्दू-शब्दों के प्रयोग से उन्होंने अपनी भाषा को बहुत बचाया है। वह व्यावहारिक भाषा के पक्षपाती हैं और उसे साहित्यिक रूप देने में वह कुशल हैं। उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में भाषा सम्बन्धी अनेक त्रुटियाँ हैं, परन्तु क्रमशः उनकी भाषा प्रौढ़, सयत, सशक्त और परिमार्जित होती गई है। उनके सभी पात्र प्रायः नागरिक भाषा का प्रयोग करते हैं, पर ग्रामीण पात्रों-द्वारा जिस भाषा का रूप उन्होंने प्रस्तुत किया है वह बोलचाल की भाषा होने पर भी साहित्यिक नहीं हैं। उनकी रचनाओं में पात्रानुकूल भाषा का परिवर्तन कहीं हुआ है और कहीं नहीं हुआ है। जहाँ नहीं हुआ है वहाँ पात्रों की रुचि के अनुकूल बोलचाल की भाषा में ही थोड़ा अंतर कर दिया गया है। वह सरल और क्लिष्ट दोनों प्रकार की भाषा लिख सकते हैं। उनकी सरल भाषा का रूप उनके उपन्यासों में और 'हंस मयूर' के अतिरिक्त उनके सभी नाटकों में मिलता है। 'हंस मयूर' में उनकी क्लिष्ट भाषा का रूप है, पर वह इतनी क्लिष्ट नहीं है कि पाठकों को कोश देखने की आवश्यकता पड़े।

वर्माजी की शैली

वर्माजी की शैली तीन प्रकार की है : (१) वर्णनात्मक (२) विचारात्मक और (३) भावात्मक। वर्णनात्मक शैली का प्रयोग घटनाओं के वर्णन में, विचारात्मक शैली का प्रयोग समस्याओं के स्पष्टीकरण में और भावात्मक शैली का प्रयोग वातावरण तथा प्रकृति-चित्रण में किया गया है। उनकी इन तीनों प्रकार की शैलियों में उनका शब्द-चयन शिष्ट, भावपूर्ण और संयत है। इनमें उनके वाक्य छोटे और अर्थपूर्ण हैं, पर कहीं-कहीं वे शिथिल भी हो गए हैं। उनके वाक्य-विन्यास में प्रौढ़ता नहीं है। अपनी वर्णनात्मक शैली में उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता से भी काम लिया है। इस प्रकार उसमें सब कुछ है, प्रवाह और वेग कम है। उनकी भावात्मक शैली अवश्य प्रवाहपूर्ण और आकर्षक है। पर उपमाओं के अत्यधिक प्रयोग के कारण कहीं-कहीं उसमें भी बाधा पड़ी है। उनका प्रकृति-चित्रण बहुत ही अनूठा और प्रभावोत्पादक है। अपने वातावरण का चित्रण भी वह बड़े कौशल से करते हैं और उसका संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करते हैं। उनका मानवीय आकृतियों और व्यापारों का चित्रण भी प्रभावोत्पादक है। इन विशेषताओं के साथ उनकी शैली में कुछ दोष भी हैं। अनेक स्थलों पर उनके वाक्य अँगरेजी के अनुवाद से प्रतीत होते हैं जो हिन्दी भाषा-भाषी की आत्मा को स्पर्श नहीं करते। कहीं-कहीं उनकी शैली में शब्दों का अनुपयुक्त प्रयोग और व्याकरण-सम्बंधी अशुद्धियाँ भी खटकती हैं। पर इन दोषों का परिहार उनकी भावात्मक शैली में हो जाता है। उनकी भाषा-शैली का उदाहरण लीजिए :—

'गाड़ीवान ने इधर उधर देखा। अंधेरा हो गया था। चारों ओर सुन-सान था। आस-पास झाड़ी खड़ी थी। ऐसा जान पड़ता था, कहीं से कोई अब निकला, अब निकला। राक्षस की बात सुनकर उसकी हड्डी काँप गई। ऐसा जान पड़ा, मानों पसलियों में उसकी रूँही छुरी छू रही हो।'

विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'

जन्म सं० १९४८ मृत्यु सं० २००३

जीवन-परिचय

विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' का जन्म अम्बाला छावनी में आश्विन कृष्ण १, सं० १९४८, रविवार, को हुआ था। उनके पिता श्री हरिश्चन्द्र कौशिक वहाँ फौज में स्टोर-कीपर थे। उनके पूर्वज आदि गौड़-वंश के कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण थे और सहारनपुर के गंगोह नामक गाँव के रहने-वाले थे। वहाँ से प० हरिश्चन्द्र के चाचा प० इन्द्रसेन जीविकावश कानपुर आकर बस गए थे। कानपुर में उन्होंने वकालत की परीक्षा पास की और फिर वकालत करने लगे। वह सन्तानहीन थे। अतः उन्होंने कौशिकजी को उनकी चार वर्ष की अवस्था में ही अपना दत्तक पुत्र बना लिया था। ऐसी दशा में उन्हें बचपन से ही अपने माता-पिता को छोड़कर कानपुर में रहना पड़ा। कानपुर में उनकी अच्छी सम्पत्ति थी। प० इन्द्रसेन की सम्पूर्ण सम्पत्ति के यह एक मात्र उत्तराधिकारी थे। इसलिए उन्हें अपने जीवन में किसी प्रकार की आर्थिक कठिनाई नहीं हुई।

कौशिकजी ने मैट्रिक तक पढ़कर छोड़ दिया। स्कूल में उन्होंने फारसी और उर्दू का अध्ययन किया और घर पर निजी रूप से संस्कृत और हिन्दी पढ़ते रहे। आरंभ में वह उर्दू-साहित्य के प्रशंसक थे और 'साग़िर' उपनाम से कविता भी करते थे, पर सं० १९६६ से उर्दू के प्रति उदासीन होकर उन्होंने हिन्दी में लिखना आरंभ किया। सं० १९६८ से तो वह नियमित रूप से हिन्दी में लिखने लगे। पहले-पहल उन्होंने कानपुर के तत्कालीन साप्ताहिक पत्र 'जीवन' में कहानियाँ लिखीं। उनके दो-तीन लेख 'सरस्वती' में भी प्रकाशित हुए। इससे आचार्य द्विवेदीजी से उनका परिचय हो गया।

एक बार मिलने पर उन्होंने बंगला का 'षोड़शी' नामक कहानी संग्रह उन्हें दिया। इसमें अच्छी कहानियाँ थी। कौशिकजी बंगला से परिचित थे, इसलिए उन्होंने द्विवेदीजी के आदेशानुसार 'निशीथ' शीर्षक कहानी का अनुवाद करके उन्हें दिया और साथ ही 'रक्षाबन्धन' (सं० १९७०) शीर्षक अपनी मौलिक कहानी भी प्रकाशनार्थ दी। द्विवेदीजी ने इन दोनों कहानियों को 'सरस्वती' में प्रकाशित किया। इससे उनकी ख्याति बढ़ गयी और वह बराबर हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ लिखते रहे। सं० २००२ में उनका निधन हुआ।

कौशिकजी की रचनाएँ

कौशिकजी हिन्दी के प्रतिभासम्पन्न कहानी-लेखक थे। हिन्दी-साहित्य की उन्नति तथा उसके विकास के प्रति उनका विशेष अनुराग था। वह बराबर कुछ-न-कुछ लिखा करते थे। उनका रचना काल सं० १९६८ माना जाता है। इसी वर्ष उनकी पहली रचना 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। उर्दू, फारसी, हिन्दी, संस्कृत, अँगरेज़ी तथा बंगला का उन्हें अच्छा ज्ञान था। बंगला से उन्होंने कई पुस्तकों का अनुवाद भी किया था। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) अनूदित रचनाएँ—'मिलन-मंदिर' और 'अत्याचार का परिणाम'—इन दोनों ग्रन्थों का बंगला से हिन्दी में अनुवाद हुआ है। इनमें से पहला उपन्यास और दूसरा नाटक है।

(२) कहानी-संग्रह—गल्प-मंदिर (सं० १९७६), कल्लोल (सं० १९९०), चित्रशाला : दो भाग (सं० १९८१), मणिमाला (सं० १९८६), पेरिस की नर्तकी (सं० १९९९)।

(३) उपन्यास—माँ (सं० १९८६), भिखारिणी (सं० १९८६)।

(४) नाटक—भीष्म (सं० १९७५), हिन्दू विधवा (सं० १९७७)।

(५) जीवनियाँ—ज़ारीना: रूस की महारानी 'ज़ारीना' का जीवन-चरित्र, रूस का राहु: रासपुटिन की जीवनी (सं० १९७६) और संसार की असभ्य जातियों की स्त्रियाँ (सं० १९८१)।

(६) संकलन—दुबेजी की चिट्ठियाँ।

कौशिकजी की गद्य-साधना

कौशिकजी ने आचार्य द्विवेदीजी से प्रोत्साहन पाकर साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। सब से पहले उन्होंने कहानी लिखना आरंभ किया। इसलिए प्रेमचन्द की पीढ़ी के कथाकारों में उनका मुख्य स्थान है। उन्होंने हिंदी में उस समय प्रवेश किया था जब उसके कथा-साहित्य की सीमाएँ अनिश्चित-सी थीं और उसकी कला का समुचित विकास नहीं हुआ था। उसमें न तो जीवन की झलक थी, न उसकी समस्याओं का चित्रण। आकर्षण की सामग्री रहते हुए भी जीवन-निर्माण की शक्ति उसमें नहीं थी। ऐसी दशा में उन्हें अपनी प्रतिभा के विकास के लिए यथेष्ट परिश्रम करना पड़ा। फलतः हम उनकी कहानियों में कई ऐसी विशेषताएँ पाते हैं जिनका उनमें उस समय तक अभाव था। वह अपने कथा-साहित्य द्वारा नयी-नयी समस्याएँ लेकर आये और उनका उन्होंने सफल चित्रण किया। वह अध्ययनशील नहीं थे, वह किसी साहित्य के प्रकांड पंडित भी नहीं थे, पर अपनी प्रतिभा के बल पर उन्होंने जिस कहानी-कला को जन्म दिया वह हिंदी-कथा-साहित्य की अमूल्य निधि है। वह हिंदी के सफल कहानीकार और उपन्यासकार माने जाते हैं।

(१) **कहानीकार कौशिकजी**—कौशिकजी हिंदी के उच्च कोटि के कहानीकार थे। उन्होंने कई कहानियाँ लिखीं। उनकी इन कहानियों में पारिवारिक जीवन की जैसी सुन्दर झाँकियाँ मिलती हैं वैसी अन्यत्र दुर्लभ हैं। भारतीय कौटुम्बिक सम्बन्धों को वह भलि भाँति समझते थे और उनका अंकन वह प्रेम और मनोयोग से करते थे। परिवार के संकुचित क्षेत्र में उनकी अच्छी गति थी। इसके अतिरिक्त वह ग्राम्य जीवन के भी कुशल चित्रकार थे। उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट करते हुए वह किसानों का हर्ष-शोक, उनकी रुचि-अरुचि, उनकी आशा निराशा आदि पात्रानुरूप भाषा में स्थान-स्थान पर गुम्फित कर सजीवता और मार्मिकता उत्पन्न कर देते थे। उनमें समाज-सुधार की भावना भी थी, पर इस धुन में वह उप-

का मनोवैज्ञानिक चित्रण सरल, सुस्पष्ट और भावानुरूप भाषा में हृदय-स्पर्शी होता था। इस प्रकार उनकी कहानियों में जीवन का सहज सरस चित्रण बड़े मनोरंजक ढंग से होता था।

कथानक की भाँति ही कौशिक जी ने अपने चरित्र-चित्रण में एक विशेष प्रणाली का अनुगमन किया है। उनकी कहानियाँ कथानक-प्रधान हैं। ऐसी कहानियों में चरित्र-चित्रण अथवा वातावरण पर बल न देकर उन उलझनों पर विशेष बल दिया जाता है जो विविध चरित्रों को विविध परिस्थितियों में पड़ने के कारण उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार उनमें अनेक चरित्रों और उनकी परिस्थितियों पर बल दिया जाता है। कौशिकजी की कहानियों में उनका यही दृष्टिकोण है। इससे स्पष्ट है कि वह अपनी कहानियों में चरित्र-विकास की चिंता न करके परिस्थिति के चित्रण की ओर ध्यान देते हैं। यही कारण है कि उनकी अधिकांश कहानियों में किसी पात्र की प्रधानता नहीं है। उनके पात्र उनके हाथों की कठपुतली मात्र हैं। उनकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वे वही बातें कहते हैं जो कौशिकजी उनसे कहलाना चाहते हैं। आधुनिक कहानी-कला की दृष्टि से यह दोष अक्षम्य है।

कौशिकजी की कहानियों में संकलन-त्रय को भी उचित व्यवस्था नहीं है। किसी में काल-संकलन है तो स्थान-संकलन नहीं है और यदि स्थान-संकलन है तो काल-संकलन का अभाव है। इन दोषों के होते हुए भी प्रभाव की एकता उनकी कहानियों में बराबर मिलती है। जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर वह कहानियाँ लिखते हैं उसमें वह आदि से अंत तक सफल रहते हैं। उनकी कहानियाँ उद्देश्यपूर्ण हैं। उनकी कहानी 'ताई' हिंदी के कहानी-साहित्य में अधिक प्रसिद्ध है। इसमें मातृ-हृदय की समस्त विशेषताएँ साकार हो गई हैं।

(२) उपन्यासकार कौशिकजी—कौशिकजी ने दो ही उपन्यास लिखे हैं: माँ और भिखारिणी। दोनों सामाजिक उपन्यास हैं। माँ में दो माताओं का तुलनात्मक चरित्र है और भिखारिणी में नारी-जीवन की निर्धनता-जन्य विडम्बनाओं का सजीव चित्रण है। 'जस्सो' इस उपन्यास की सुन्दर नायिका है

जिसमें आदर्श प्रेम और त्याग की प्रतिष्ठा की गयी है। इन दोनों उपन्यासों में कथानकों का चयन जीवन के मार्मिक स्थलों से किया गया है। कथानकों में प्रवाह और गतिशीलता है। कौशिकजी आधिकारिक वस्तु को ही महत्त्व देने के पक्षपाती थे। अपने कथानकों में वह प्रासङ्गिक कथाओं का विधान इसी दृष्टि से करते थे। इसलिए उनके कथानक सरल और गठे हुए होते थे। वह अपने कथानकों को अनावश्यक विस्तार देने के पक्ष में नहीं थे। यही कारण है कि उनके उपन्यासों का कथानक सांकल में जुड़ी हुई कड़ियों की भाँति मूलाधार से निकलकर अंत तक एक-रस रहता है।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी कौशिकजी का अपना दृष्टिकोण है। उनके सभी पात्र पारिवारिक जीवन के पात्र हैं और अपनी-अपनी समस्याओं का उद्घाटन करते हैं। उनका चरित्र उनके दैनिक सङ्घर्ष और नित्य प्रति की घटनाओं के सहारे स्वाभाविक रूप से विकसित होता है। इस सम्बन्ध में उन्हें अपनी ओर से कहने की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार घटनाएँ, परिस्थितियाँ, वातावरण, कथोपकथन—सब पात्रों के चरित्र विकास में सहायक हैं। पात्रों का चारित्र-चित्रण आदर्शोन्मुख है और यथार्थ पर आधारित है।

कौशिकजी अपने उपन्यासों का आरम्भ नाटकीय ढङ्ग से करते हैं। उनके दोनों उपन्यासों का आरम्भ नाटकीय ढङ्ग से ही हुआ है। इसलिए उनके उपन्यासों की गणना नाटकीय उपन्यासों के अंतर्गत की जाती है। इनमें नाटकीय छटा-द्वारा कहीं-कहीं अत्यन्त सुन्दर स्वाभिव्यक्ति हुई है। इससे उनके उपन्यासों का प्रभाव और आकर्षण बढ़ गया है। पात्रों के कथोपकथन में इस प्रकार का प्रभाव और आकर्षण लाने के लिए उन्होंने उनकी रुचि और उनकी संस्कृति के अनुकूल ही भाषा का प्रयोग किया है। यदि पात्र मुसलमान है तो उसके सम्भाषण में मुसलिम-संस्कृति की शिष्टता मिलेगी, यदि वह वेश्या है तो उसकी बात-चीत के ढङ्ग से उसकी कलुषित कामनाओं का आभास मिलेगा, यदि वह मद्यप है तो उसके कथन से उसके विकृत मस्तिष्क की झलक मिलेगी और यदि वह हिंदू

है तो वह हिंदुओं की-सी बातें करेगा। यही कौशिकजी के कथोपकथन का रहस्य है। उनके संवाद छोटे, भावपूर्ण, रुचिपूर्ण, सुसंगठित, प्रभावशाली और नाटकीय होते हैं। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण वह हिंदी के एक सुलझे हुए उपन्यासकार माने जाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से उनके उपन्यासों का हमारे लिए बहुत मूल्य है।

कौशिकजी ने उपन्यास और कहानियों के अतिरिक्त एक नाटक भी लिखा है। वह अभिनयात्मक है और कई बार खेला जा चुका है। भीष्म-पितामह के चरित्र के आधार पर इस नाटक की रचना की गयी है। इसमें तीन अङ्क और २८ दृश्य हैं। चरित्र-चित्रण, कथोपकथन तथा कला की दृष्टि से यह अत्यंत सफल है। इसमें हास-परिहास का भी अच्छा पुट दिया गया है।

कौशिकजी निबंध-लेखक भी हैं। उन्होंने कई निबंध भी लिखे हैं। 'दुबेजी की चिट्ठी' के नाम से उन्होंने व्यंग मिश्रित हास्य रस के कई लेख पत्र-रूप में लिखे हैं। इन लेखों में उन्होंने 'विजयानंद दुबे' के नाम से हिंदुओं की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों पर व्यंगात्मक चोटें कसी हैं और पाखंडियों की तीव्र आलोचना की है। इस दृष्टि से उनकी हास्य और व्यंग की शैली पं० प्रतापनारायण मिश्र की शैली के अत्यंत निकट है।

प्रेमचन्द और कौशिकजी : तुलनात्मक अध्ययन

अब कौशिकजी और प्रेमचंद, दोनों की कहानी-कला पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार कीजिए। प्रेमचंद और कौशिकजी दोनों समकालीन थे। कौशिकजी ने लगभग सं० १९६८ से हिंदी में कहानियाँ लिखना आरम्भ किया। प्रेमचंद सं० १९६५ से उर्दू में कहानियाँ लिख रहे थे और कौशिकजी के लगभग पाँच वर्ष पश्चात् सं० १९७३ में वह हिंदी में आये। दोनों एक-ही वर्ग के कहानी-लेखक थे, दोनों सामाजिक कहानियाँ लिखते थे और अपने पात्रों के मानसिक विश्लेषण का चित्रांकन करते थे। फिर भी दोनों एक नहीं थे।

कथावस्तु की दृष्टि से प्रेमचंद की कहानियों का क्षेत्र अधिक विस्तृत था। वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से अपनी कहानियों के लिए उपयुक्त सामग्री

खोज लेते थे। इसलिए उनकी कहानियों में विषय की जैसी विविधता है वैसी कौशिकजी की कहानी साहित्य में देखने को नहीं मिलती। विषय की दृष्टि से कौशिकजी का कहानी-साहित्य एक संकुचित सीमा के भीतर पल्लवित और पुष्पित हुआ है। प्रेमचन्द की कहानियाँ सामाजिक होते हुए भी राजनीतिक वातावरण से अनुरंजित हैं। उन पर गांधीवाद का भी स्पष्ट प्रभाव है। कौशिकजी की कहानियाँ केवल सामाजिक हैं। उनमें तत्कालीन सुधारवादी दृष्टिकोण अवश्य है, पर वह समाज और परिवार से परे नहीं जाता। कौशिकजी अपनी कहानियों में प्रायः नागरिक जीवन के चित्रकार हैं और प्रेमचन्द ग्रामीण जीवन के। ग्रामीण समस्याओं के अध्ययन में प्रेमचन्द की-सी पैनी दृष्टि कौशिकजी में नहीं है। कौशिकजी जीवन के साधारण पहलुओं को लेकर चले हैं, प्रेमचन्द उनकी गहराई में उतरे हैं।

जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को कहानी का विषय बनाने के कारण प्रेमचन्द में एक दोष अवश्य आगया है और वह यह कि प्रेमचन्द अपनी कथा-वस्तु में प्रायः उलझे हुए दीख पड़ते हैं। उनकी कहानियाँ पढ़ने से ऐसा लगता है कि उनके पास कहने के लिए इतनी अधिक बातें हैं कि वह कह नहीं पा रहे हैं। कौशिकजी की कथावस्तु में यह बात नहीं है। उनकी कथावस्तु सुलझी हुई, सयत और स्पष्ट है। उनके पात्र भी अपेक्षाकृत कम हैं। वे कहते भी उतना ही हैं जितना उन्हें कहना चाहिए। थोड़े पात्रों की सहायता से कौशिकजी ने अपनी कहानी-कला को विकसित किया है और उसे अधिक सुन्दर, सफल और सयत बनाया है।

कौशिकजी की अधिकांश कहानियाँ कथानक-प्रधान हैं। इस प्रकार के कहानी लेखकों में वह अग्रगण्य हैं। प्रेमचन्द की कहानियों में कथानक की अपेक्षा चरित्र की प्रधानता है। उन्होंने अपनी अधिकांश कहानियों में पात्रों की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं का उद्घाटन किया है। इस दृष्टि से जहाँ कौशिकजी की कहानियाँ कहानी-कला के विकास में प्रथम स्थान प्राप्त करती हैं वहाँ प्रेमचन्द की कहानियाँ द्वितीय स्थान में आती हैं।

कौशिकजी की कहानियों में दैवीघटनाओं और संयोगों का अत्यधिक

समावेश हुआ है। इस प्रकार के समावेश से उनकी कहानियों में अस्वाभाविकता आ गयी है। प्रेमचन्द की कहानियों में घटनाओं का स्वाभाविक क्रम है और उनमें मानव-मन के किसी मनोवैज्ञानिक सत्य का अन्वेषण किया गया है।

कथोपकथन की दृष्टि से कौशिकजी प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक भावुक हैं। कौशिकजी अपने कथोपकथन में हृदय को छूते हैं और प्रेमचन्द अपने कथोपकथन में पहले हमारे मस्तिष्क को स्पर्श करते हैं, फिर हृदय को। कौशिकजी अपने कथा-प्रवाह में बह जाते हैं। वह जीवन की समस्याओं पर गंभीर चिन्तन का अवसर नहीं देते। प्रेमचन्द जीवन की समस्याओं पर गंभीर दृष्टि से विचार करने का अवसर देते हैं। प्रेमचन्द के कथोपकथन कहीं-कहीं अधिक लम्बे और असंयत हो गए हैं और उपदेशक से लगते हैं। कौशिकजी के कथोपकथन में यह बात नहीं है। यह सत्य है कि भावुकता के आवेश में जीवन की व्यावहारिकता की सुध-बुध उन्हें नहीं रहती, पर अपने कथोपकथन में वह संयत हैं।

कौशिकजी की भाषा

भाषा की दृष्टि से कौशिकजी एक अच्छे कलाकार हैं। अँगरेज़ी फ़ारसी, उर्दू, हिन्दी, संस्कृत और बंगला आदि भाषाओं के ज्ञाता होने के साथ-साथ सहृदय और साहित्यिक होने के कारण वह भाषा की अन्तरात्मा को पहचानते थे। प्रेमचन्द की भाँति आरम्भ में उन्होंने भी उर्दू के माध्यम-द्वारा हिन्दी में प्रवेश किया था। इसलिए वह अपने साथ ऐसी समस्त विशेषताएँ लेते आये जिनके कारण उर्दू में वह ख्याति पा चुके थे। उनकी भाषा में जो लोच, जो प्रवाह और जो स्पन्दन है वह वास्तव में उर्दू की ही देन है। इसीलिए वह कहा करते थे कि हिन्दी-लेखक को भाषा में प्रवाह और प्रभावात्मक मार्दव उत्पन्न करने के लिए उर्दू की रवानी से अभिज्ञ और अभ्यस्त होना चाहिए।

कौशिकजी बोलचाल तथा व्यावहारिक भाषा के पक्षपाती थे। वह नितान्त चलती हुई भाषा लिखते थे और मुहाविरापूर्ण शब्दों द्वारा उसमें प्राण

फूक देते थे। उनकी शब्दावली में विशेष मार्दव रहता था। संस्कृत के सरल तत्समों का वह बड़े कलापूर्ण ढंग से प्रयोग करते थे। विदेशी शब्दों का तिरस्कार तो उन्होंने नहीं किया, पर उनके प्रति उनमें इतना आग्रह भी नहीं था कि भाषा का रूप विकृत और उसका प्रभाव नष्ट हो जाय। वह शब्दों का प्रयोग बड़ी सावधानी से करते थे और उनकी योजना पर ध्यान रखते थे। भाषा के वह धनी थे और उस पर उनका पूर्ण अधिकार था।

कौशिकजी की शैली

कौशिकजी की शैली परिचयात्मक, विचारात्मक और व्यंगात्मक है। अपनी इन तीनों प्रकार की शैलियों में वह सफल हैं। उर्दू-शैली का उन पर प्रभाव है। अपनी शैली को आकर्षक बनाने के लिए उन्होंने कहीं-कहीं सैद्धांतिक बातों तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों का भी उल्लेख किया है। उनकी व्यंगात्मक शैली में उर्दू शब्दों की प्रधानता है और उन्हीं के द्वारा व्यंग की सृष्टि की गयी है। परिस्थितियों के चित्रण में उनकी लेखनी का चमत्कार देखने योग्य होता है। मानवीय आकृतियों का चित्रण उन्होंने कम किया है। मुहावरों तथा कहावतों का प्रयोग उनकी शैली की प्रमुख विशेषता है। हिन्दी-कथाकारों में एक मात्र वही ऐसे लेखक हैं जो पात्रों के कथोपकथन में भाषा की स्वाभाविकता और सरलता की दृष्टि से जनता के निकट पहुँचने में समर्थ हैं। इस प्रकार भाषा और शैली की दृष्टि से भी उनकी समस्त रचनाएँ हिन्दी की अमूल्य निधि हैं। उनकी शैली का उदाहरण लीजिए :—

'मनुष्य का हृदय बड़ा ममत्व प्रेमी है। कैसी ही उपयोगी और कितनी ही सुन्दर वस्तु क्यों न हो, जब तक मनुष्य उसको पराई समझता है, तब तक उससे प्रेम नहीं करता, किन्तु भद्दी से भद्दी और बिलकुल काम में न आनेवाली वस्तु को भी, यदि मनुष्य अपनी समझता है तो उससे प्रेम करता है।'

: १६ :

राय कृष्णदास

जन्म सं० १९४९

जीवन परिचय

राय कृष्णदास का जन्म सं० १९४९ में काशी के एक प्रतिष्ठित अग्रवाल-वंश में हुआ था। उनके पूर्वज मुगलों के समय में 'राय' की पदवी से विभूषित थे, इसलिए उनके उत्तराधिकारी भी 'राय' कहलाते थे। उनके पिता, राय प्रह्लाद दास, बड़े साहित्य-प्रेमी थे। संस्कृत-साहित्य और हिन्दी-काव्य-साहित्य के वह अच्छे ज्ञाता थे। वह संस्कृत में कविता करते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उनकी बुआ के पुत्र थे। इस सम्बन्ध के कारण उन्हें भारतेन्दु के सम्पर्क में आने का अच्छा अवसर मिला।

राय कृष्णदास की प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई। इसके पश्चात् वह स्कूल में भेजे गये। वह प्रतिभा-सम्पन्न विद्यार्थी थे। बचपन से ही उनमें काव्य-प्रतिभा जाग उठी थी। साहित्य, काव्य और कला के सम्बन्ध में उन पर उनके पिता का पूरा प्रभाव था। आठ वर्ष की अल्पावस्था में ही उन्होंने कुछ छन्दों की रचना की थी। पिता काव्य-प्रेमी थे और आचार्य द्विवेदीजी तथा मैथिलीशरण गुप्त से उनका अच्छा परिचय था। इसलिए राय कृष्णदास भी उनके सपर्क में आ गये। इन दोनों विद्वानों से उन्हें विशेष प्रोत्साहन मिला।

राय कृष्णदास अध्ययनशील बालक थे। पढ़ने-लिखने में उनका जी लगता था, पर जब वह १२ वर्ष की अवस्था में ही पितृ-स्नेह से वंचित हो गये तब उनकी शिक्षा का क्रम शिथिल हो गया और वह स्वतंत्र रूप से साहित्य-सेवा की ओर अग्रसर हुए। संस्कृत और हिन्दी के साथ-साथ उन्होंने बंगला का भी अध्ययन किया। बंगला भाषा के अध्ययन

से वह कवीन्द्र-रवीन्द्र की रचनाओं के सम्पर्क में आये और उनसे अधिक प्रभावित हुए। १२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'दुलारे रामचन्द्र' उपन्यास लिखना आरंभ किया जो पूरा न हो सका। इसके बाद उन्होंने पद्य-रचना की ओर ध्यान दिया। गद्य-गीतों की रचना में उन्हें विशेष सफलता मिली। उनकी प्रारंभिक रचनाएँ आचार्य द्विवेदीजी की कृपा से 'सरस्वती' में प्रकाशित होती रहीं और इसी पत्र-द्वारा हिन्दी-जगत में उनका प्रवेश हुआ। कविताओं और गद्य-गीतों के अतिरिक्त सं० १९६६ से उन्होंने कहानियाँ लिखने की ओर ध्यान दिया और इस क्षेत्र में भी उन्हें विशेष सफलता मिली।

राय कृष्णदास साहित्यिक होने के अतिरिक्त कला-कोविद भी हैं। भारतीय कला के वह पंडित हैं। चित्र-कला से उन्हें विशेष प्रेम है। काशी का 'कला-भवन' उनके इसी प्रेम का साकार रूप है। इस कला-भवन में राजपूत, मुगल तथा कांगड़ा शैलियों के लगभग एक हजार श्रेष्ठ चित्र संगृहीत हैं। चित्रों के अतिरिक्त हस्त-लिखित ऐतिहासिक ग्रन्थ, सोने-चाँदी की बहुमूल्य वस्तुएँ, सिक्के, मूर्तियाँ तथा अनोखी वस्तुएँ भी हैं। इस कला-भवन की उन्नति में उन्होंने बहुत धन व्यय किया है। इस समय वह 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' के तत्वावधान में है। यह उनके जीवन का सर्वश्रेष्ठ कार्य है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रयाग में 'भारती भंडार' नाम की एक पुस्तक-प्रकाशन-संस्था स्थापित की है। यह संस्था आजकल लीडर-प्रेस के अन्तर्गत है।

रायजी की रचनाएँ

राय कृष्णदास जी का जीवन साहित्य-साधना का जीवन है। उनका साहित्यिक जीवन सं० १९७४ से आरंभ होता है। उनके जीवन की दो धाराएँ हैं—साहित्य और कला। अपनी रचनाओं में उन्होंने इन्हीं दोनों धाराओं का प्रतिनिधित्व किया है। वह हिन्दी के प्रतिभा-सम्पन्न भावुक लेखक और कवि हैं। साहित्य-क्षेत्र में उन्हें आचार्य द्विवेदीजी का आशीर्वाद मिला है। इसलिए उनकी लेखनी अजस्र रूप से हिन्दी-साहित्य की

सेवा करने में समर्थ हुई है। गद्य-काव्य उनका अपना विषय है। उनकी समस्त रचनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) गद्य-काव्य—साधना (सं० १६०६), पागल (सं० १६८२), सलार (सं० १६८३), प्रवाल (सं० १६८६), छायापथ (सं० १६८७)।

(२) कविता संग्रह—मातुक (सं० १६८५), मजरज (सं० १६६३)।

(३) कहानी-संग्रह—अनास्था (सं० १६८६), सुधांशु (सं० १६८६), आँखों की याद (सं० १६८७)।

(४) कला-विषयक—भारतीय मूर्तिकला (सं० १६६६), भारतीय चित्र-कला (१६६६)।

(५) संपादित कहानी संग्रह—इक्कीस कहानियाँ (सं० १६६८), नयी कहानियाँ (सं० १६६८)।

द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रंथ भी उन्हीं की प्रेरणा का फल है।

रायजी की गद्य-साधना

रायजी की उपर्युक्त रचनाओं से स्पष्ट है कि एक ओर तो वह साहित्य-साधक हैं और दूसरी ओर भारतीय कला के पारखी। इन दोनों रूपों का उनके जीवन में सुन्दर समन्वय हुआ है। कला में साहित्य और साहित्य में कला की उन्होंने सुन्दर उद्भावना की है। कला को वह उपयोगिता की वस्तु नहीं मानते। उनकी सम्मति में कला की सार्थकता इसमें नहीं है कि उसकी रचना किसी उद्देश्य-विशेष से की जाय। वास्तव में उसका उद्देश्य इतना ही है कि उसके निरीक्षण मात्र से आनन्दानुभूति हो। साहित्य-क्षेत्र में भी कलाविषयक उनका ऐसा ही आदर्श रहा है। वह 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के पक्षपाती हैं।

रायजी के साहित्यिक विचार बहुत स्वतंत्र और उच्च कोटि के हैं। वह सौंदर्य के उपासक और अनुभूतियों के चित्रकार हैं। अन्तर्जगत का चित्रण ही उनकी साहित्य-साधना का चरम लक्ष्य है। इसलिए हम उनकी समस्त रचनाओं को भावावेश से ओतप्रोत पाते हैं। वह भावना, अनुभूति और कल्पना के चित्रकार हैं। उनके साहित्य की तीन धाराएँ

हैं : (१) कविता, (२) गद्य-काव्य और (३) कहानी। यहाँ हम उनकी अंतिम दो धाराओं पर ही विचार करेंगे।

(१) **रायजी का गद्य-काव्य**—रायजी अपने काव्य की अपेक्षा अपने गद्य-काव्य में अधिक सफल हैं। अपने इस क्षेत्र के वह अप्रतिम कलाकार हैं। रवीन्द्र-कवीन्द्र की 'गीतांजलि' से प्रभावित होकर ही उन्होंने गद्य-काव्य की रचना की है। इसलिए उनका गद्य-काव्य भावना-प्रधान है। उसमें रहस्यवादी भावों और विचारों का ही सफल चित्रण हुआ है। यद्यपि उनकी शैली गद्य की है तथापि पद्य की ही भाँति उसमें विभिन्न भावनाओं का आनन्द मिलता है। उसमें प्रत्येक वाक्य अलंकारों की मधुर ध्वनि से युक्त है और उसकी दुर्बोधता पर सरलता और स्पष्टता की आवृत्ति है। इस प्रकार परोक्ष सत्ता की जो भावात्मक अनुभूति मानव-हृदय में होती है उसकी व्यंजना उन्होंने बड़ी ही मार्मिक प्रणाली से की है। इस दृष्टि से 'साधना' उनकी अत्यन्त उत्कृष्ट कला-कृति है। हिन्दी में यह अपने शैली की बेजोड़ रचना है। इसमें भावनाओं का निखार, अनुभूतियों का प्रसार और कल्पनाओं का उद्गार देखने योग्य है। साधारण बोल-चाल में रायजी का गद्य-काव्य अत्यन्त उत्कृष्ट है।

(२) **रायजी की कहानी-कला**—रायजी की अधिकांश कहानियाँ घटना-प्रधान न होकर भावना-प्रधान हैं। उन्होंने घटना और सम्वाद, दोनों में गूढ़ व्यंजना और रमणीय कल्पना के सुन्दर समन्वय के साथ चलनेवाली कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियाँ सभ्यता और संस्कृति की किसी व्यवस्था के विकास का आदि रूप झलकानेवाली होती हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में ऐतिहासिक तथा सामाजिक कथानकों को उसी सीमा तक अपनाने की चेष्टा की है जिससे कथानक सरल होकर भाव-स्पष्टता और रस के उद्रेक में सहायक हो सके। वह घटनाचक्र के फेर में नहीं पड़े हैं। उनकी कहानियों में न तो कथा-तत्व होता है, न चरित्र-चित्रण और न कथा का घात-प्रतिघात युक्त विकास। उनमें केवल भावनाएँ होती हैं जिन्हें वह अपने मन की तरंगों की भाँति चित्रित करते रहते हैं। उनमें

भौतिक जगत की कोई बात नहीं होती। उनके अधिकांश पात्र इस भौतिक व्यक्त जगत के साधारण प्राणी न होकर कला-जगत के भावुक और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति हैं। इस प्रकार उनकी पात्र-कल्पना में भौतिकता कम और भावुकता अधिक है। इस कारण वह अपने चरित्र-चित्रण में कहीं-कहीं अस्पष्ट और अस्वाभाविक भी हो गए हैं। उनकी कहानियों में जो गहन दर्शन रहता है उसे सभी नहीं समझ सकते, पर उनके स्वाभाविक वर्णन का आनन्द सभी उठा सकते हैं। उन्होंने बहुत थोड़ी कहानियाँ लिखी हैं, पर जो कुछ भी हैं उनका हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। इस दिशा में वह प्रसादजी से अधिक प्रभावित हैं।

रायजी की कहानियाँ कुछ तो भावात्मक हैं, कुछ रहस्यात्मक और कुछ यथार्थवादात्मक। उनकी भावात्मक कहानियाँ ही कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हैं। उन्होंने ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक और सामाजिक सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। उनकी सामाजिक कहानियों पर प्रेमचन्द का प्रभाव है और ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक पर प्रसादजी का। सामाजिक कहानियाँ कला की दृष्टि से अधिक सफल नहीं हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रायजी अपनी साहित्य-साधना में अधिक सफल हैं। हम पहले ही बता चुके हैं कि वह साहित्यक होने के अतिरिक्त एक कला-मर्मज्ञ भी हैं। चित्रकला के वह बड़े पारखी हैं। 'भारतीय मूर्ति-कला' तथा 'भारतीय चित्र-कला' नामक ग्रन्थों में उन्होंने अपने कलात्मक निरीक्षण का हमें जो परिचय कराया है वह हिन्दी-जगत के लिए एक नवीन वस्तु है। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'हंस', 'कला', 'प्रतीक', 'कलानिधि' आदि पत्रिकाओं में उनके कई सुन्दर कला-विषयक निबंध प्रकाशित हो चुके हैं।

रायजी की भाषा

रायजी की भाषा व्यावहारिक है। अपनी अनुभूतियों के चित्रण में भी वह सरल और बोल-चाल की भाषा का प्रयोग करते हैं। उनकी भाषा

का रूप सर्वत्र एक-सा दिखायी देता है। अपनी भाषा को व्यावहारिक रूप देने और अपने गहन दार्शनिक विचारों को सरलतम बनाने के लिए उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों के अतिरिक्त प्रान्तीय तथा उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग किया है। इससे उनकी भाव-व्यंजना में बड़ी ही स्पष्टता आ गयी है। उनकी भाषा में ऐसा मार्दव है जो अन्य गद्य-काव्यकारों की भाषा में नहीं मिलता। उनकी भाषा में बड़ा संयम है। तत्समता के साथ 'कल्पते', 'अचरज' आदि प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग वह बड़े कौशल से करते हैं। उनकी भाषा में उर्दू के तत्सम शब्दों के साथ कहीं-कहीं उनके तद्भव रूप भी मिलते हैं। कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जो या तो तद्भवता के कारण बिगड़ गए हैं या उनका प्रान्तीय प्रयोग हुआ है। आहुत, काँदने, कुधरता, आराल आदि ऐसे ही शब्द हैं। सो, हो, लौ के प्रयोग से उनकी भाषा में पंडिताऊपन भी आ गया है। मुहावरों के प्रयोग में भी उन्होंने अपनी स्वतंत्र प्रवृत्ति से काम लिया है। उन्होंने उर्दू के बहुत से मुहावरों का रूप बदल कर अपनी भाषा में खपा लिया है। 'दिल का छोटा है' उर्दू का एक प्रसिद्ध मुहावरा है। इसे उन्होंने 'हृदय से लघुतर है' रूप दे दिया है। इस प्रकार उन्होंने अपनी भाषा में नये प्रयोग किए हैं। इन नये प्रयोगों में उन्हें कहीं-कहीं ही सफलता मिली है। उनके अधिकांश प्रयोग अस्वाभाविक हो गए हैं।

रायजी की शैली

हमने अभी देखा है कि रायजी ने अपनी भाषा में अपनी कलात्मक रुचि का विशेष रूप से परिचय दिया है। उनकी शैली से भी यही बात स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती है। उनकी रचनाओं में उनकी एक ही शैली है और वह है भावात्मक शैली। उनकी व्यंजनात्मक शैली बड़ी मार्मिक तथा प्रौढ़ होती है। उस पर उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। उनकी शैली में समासान्त पदावली का अभाव है। उसमें उत्कृष्ट शब्दावली भी नहीं है, फिर भी उनकी शैली में प्रवाह है। मार्दव और गूढ़ आत्मानुभूति का करुणापूर्ण और आकर्षक निवेदन रायजी बड़ी ही भावपूर्ण

भाषा में प्रस्तुत करते हैं। उनकी शैली में छोटे-छोटे वाक्यों का प्रभावशाली सम्मेलन अपूर्व छटा दिखाता है।

रायजी किसी बात को सरल शैली में कहना नहीं जानते। उन्होंने अपनी शैली में सर्वत्र भावावेश की चामत्कारिक प्रणाली का अनुसरण किया है। इसलिए उनकी रचना में हमें वही उल्लास, वही उन्माद और वही आकर्षण प्राप्त होता है जो प्रसादजी की शैली का प्राण है। भेद केवल इतना ही है कि जहाँ प्रसादजी अपनी शैली में क्लिष्ट तत्समों का प्रयोग करते हैं वहाँ रायजी चलते हुए शब्दों से काम निकाल लेते हैं। भावुकता-प्रधान होने पर भी उनकी शैली में कहीं अस्पष्टता नहीं है, व्यर्थ का विस्तार नहीं है। संस्कृत की तत्समता में उनके आध्यात्मिक विचार पाठकों की बुद्धि के लिए 'अजेय दुर्ग' नहीं बन गए हैं। प्रभाकर माचवे के शब्दों में उनकी 'भाषा-शैली' 'मादक-जैसी, निष्कपट, पारदर्शी, सब प्रकार के शब्दों को यथोचित अपनाती हुई संस्कृत-गरिमायुक्त और इतिहास पुरातत्त्व की छटा लिए हुए होती है।' उनकी प्रस्तुत शैली का नमूना लीजिए :—

"मैं अपनी मणि-मंजूषा लेकर उनके यहाँ पहुँचा, पर उन्हें देखते ही उनके सौन्दर्य पर ऐसा मुग्ध हो गया कि अपनी मणियों के बदले उन्हें मोल लेना चाहा। अपनी अभिलाषा उन्हें सुनाई। उन्होंने सस्मित स्वीकार करके पूछा कि किस मणि से मेरा बदला करोगे?"

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

जन्म सं० १९५१

जीवन-परिचय

छत्तीसगढ़ के अन्तर्गत खैरागढ़ राज्य में पदुमलाल बख्शी का जन्म सं० १९५१ में हुआ था। उनकी कुल-परम्परा में साहित्य एक प्रिय विषय रहा है। उनके प्रपितामह श्री उमराव बख्शी छत्तीसगढ़ के एक प्रसिद्ध कवि माने जाते थे। उन्होंने 'काव्य-प्रबोध', 'जानकी-पंचाशिका' और 'पंचदेवाष्टक' की रचना की थी। उनके इन ग्रंथों का तत्कालीन-साहित्यिकों में अच्छा प्रचार था। उनके बड़े पुत्र श्री दरियाव बख्शी भी एक अच्छे कवि हुए। उनके छोटे भाई मुकुंद बख्शी भी काव्य-रचना में कुशल थे। पदुमलाल के पिता श्री पुन्नालाल बख्शी भी कविता करते थे। उनकी माता भी साहित्य प्रेमी थीं। उपन्यास तथा कहानी में उनकी विशेष अभिरुचि थी। इस प्रकार अपने पूर्वजों से काव्य-प्रतिभा और अपनी माता से कहानी-कला का प्रसाद लेकर पदुमलाल बख्शी ने अपने भावी-साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण किया।

बख्शीजी बी० ए० पास करने के पश्चात् अपनी कुल-परम्परा के अनुसार साहित्य-सेवा की ओर अग्रसर हुए। सर्वप्रथम 'हितकारिणी' द्वारा हिन्दी-जगत को उनकी प्रतिभा का परिचय मिला। 'हितकारिणी' उनकी प्रिय पत्रिका थी। इसी में उनकी प्रारंभिक कविताएँ और कहानियाँ प्रकाशित होती थीं। 'हितकारिणी' के पश्चात् जब आचार्य द्विवेदीजी से उनका परिचय हुआ तब वह 'सरस्वती' में भी लिखने लगे। यह उनके विद्यार्थी जीवन की बात है। विद्यार्थी-जीवन समाप्त करने के पश्चात् उनकी लेखनी में इतनी प्रौढ़ता आ गयी कि हिन्दी के उच्च कलाकारों में

उनकी गणना होने लगी। उस समय उनकी मौलिक सहृदयता तथा मनन-शीलता ने सरस्वती-संपादक आचार्य द्विवेदीजी को इतनी प्रभावित किया कि अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्य-भार बख्शीजी को ही सौंप दिया। द्विवेदीजी के इस आग्रह से बाध्य होकर सं० १९७७ में बख्शीजी ने 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य अपने हाथों में लिया और बड़ी सफलतापूर्वक उसका निर्वाह किया। उन्होंने अपने सम्पादन-काल में 'सरस्वती' में जो प्राण प्रतिष्ठा की वह आचार्य द्विवेदीजी के आदर्शों के अनुरूप ही थी। पर इस कार्य को वह अधिक दिनों तक न कर सके। कुछ वर्ष तक 'सरस्वती' की सेवा करने के पश्चात् वह पुनः खैरागढ़ चले गये और वहाँ के एक हाई स्कूल में शिक्षक का कार्य करने लगे।

इस समय बख्शीजी खैरागढ़ में ही रहते हैं। उनका अबतक का जीवन साहित्य-सेवा में ही व्यतीत हुआ है। स्वभाव से वह सरल और कोमल हैं। साहित्यिक दल-बंदियों से वह बहुत दूर रहते हैं। उनके जीवन में कृत्रिमता नहीं है। एकांत जीवन ही उन्हें प्रिय है। वह दार्शनिक होते हुए भी रसिक हैं। अपने व्यवहारों में वह स्पष्ट रहते हैं। उनमें प्रचारात्मक प्रवृत्ति भी नहीं है।

बख्शीजी की रचनाएँ

अध्ययन और मननशीलता किस प्रकार एक भावुक हृदय को साहित्यकार बना देती है, इसका प्रमाण बख्शीजी की रचनाओं से मिल जाता है। 'हितकारिणी' और 'सरस्वती' में उनकी बहुत-सी रचनाएँ बिखरी पड़ी हैं। उनमें से कुछ तो प्रकाशित हो चुकी हैं और कुछ अभी अप्रकाशित ही हैं। 'शतदल' उनकी कविताओं का संग्रह है। 'अश्रुदल' उनका खंड-काव्य है जो एक मित्र की मृत्यु पर लिखा गया शोक-गीत है। 'झल-मला' (सं० १९९१) और 'अंजलि' (सं० १९७९) में उनकी कहानियाँ संगृहीत हैं। 'पंचपात्र' (सं० १९८०) में उनकी विविध-विषयी रचनाएँ हैं। 'प्रबन्ध पारिजात' (सं० १९८८) में उनके छात्रोपयोगी निबन्ध हैं। 'विश्व-साहित्य' (सं० १९८१) एक आलोचना-प्रधान ग्रन्थ है। इनके

अतिरिक्त 'हिन्दी कहानी-साहित्य', 'प्रदीप' (सं० १६६०) 'साहित्य-शिक्षा', (सं० १६६६) 'हिन्दी-साहित्य-विमर्श' (सं० १६८०) 'मकरन्द-बिन्दु', (सं० १६८८), साहित्य-चर्चा (सं० १६६४), 'यात्रा', (सं० २०२७), 'बिखरे पन्ने', 'कुछ', (सं० २००५), 'और कुछ' आदि उनके निबंधों के संग्रह हैं। उन्होंने कुछ कहानियों का बंगला से अनुवाद भी किया है। बेल्जियम के सुप्रसिद्ध कवि मारिस मेटरलिंक के 'सिस्टर बीट्रिस' तथा 'दि यूजलेस डिली-वरेन्स' नामक नाटकों के अनुवाद भी उनकी रचनाओं में प्रसिद्ध हैं। वे क्रमशः 'प्रायश्चित' (सं० १६७३) और 'उनमुक्ति का बंधन' (सं० १६७३) के नाम से हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर से प्रकाशित हुए हैं। बड़े-बड़े मनीषियों के सुन्दर उपदेशात्मक कथनों का भी उन्होंने अनुवाद किया है जो लहरिया सराय से 'तीर्थ-रेणु' (सं० १६८७) के नाम से प्रकाशित हुआ है। उन्होंने बाल-साहित्य की भी रचना की है। उनका एक निबंध संग्रह 'त्रिवेणी' नाम से भी प्रकाशित हुआ है। 'हिन्दी-उपन्यास-साहित्य' (सं० २०११) उनके नवीनतम आलोचनात्मक निबंधों का संग्रह है।

बख्शीजी की गद्य साधना

बख्शीजी हिन्दी के प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार हैं। अपने पूर्वजों से ही उन्होंने साहित्य-सृजन की प्रेरणा ग्रहण की है और अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से उसका विकास किया है। पाश्चात्य कवियों की कला-कृतियों का उन्होंने बड़ी गंभीर दृष्टि से अध्ययन किया है और उनकी शैलियों से प्रेरणा प्राप्त की है। अँगरेजी के अतिरिक्त संस्कृत और बंगला-साहित्य में भी उनकी अच्छी गति है। इस प्रकार अनेक साहित्यों के अनुशीलन एवं अध्ययन से उन्होंने अपने साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण किया है। उनकी साहित्य-साधना विविध रूपों में प्रकाशित हुई हैं। वह खड़ीबोली के भावुक कवि, अनुभवी कहानीकार, विद्वान् समालोचक, प्रौढ़ निबंधकार, सुयोग्य सम्पादक और सफल अनुवादक के रूप में हमारे सामने आते हैं। अगली पंक्तियों में हम उनकी गद्य साधना पर संक्षेप में विचार करेंगे।

(१) बख्शीजी की सम्पादन-कला—बख्शीजी एक सफल सम्पादक हैं।

उनकी सम्पादन-कला का परिचय दो रूपों में मिलता है : (१) पत्र-सम्पादक के रूप में और (२) पुस्तक-सम्पादक के रूप में। पत्र-सम्पादक के रूप में उनकी योग्यता अत्यन्त सराहनीय है। 'सरस्वती' का सम्पादन करते हुए उन्होंने हिंदी की जो सेवा की है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में उनकी प्रतिभा का विकास सम्पादक के रूप में ही हुआ है। आचार्य द्विवेदजी के पश्चात् चार पाँच वर्षों तक उन्होंने जिस परिश्रम, जिस लगन और जिस त्याग से 'सरस्वती' की आराधना की वह उसके इतिहास में अमर है। पत्र-सम्पादन के अतिरिक्त उन्होंने ऐसी अनेक पाठ्य पुस्तकों का भी सम्पादन किया है जो विद्यार्थी-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं।

(१) बख्शीजी [redacted] अनूदित साहित्य—'सरस्वती' के सम्पादन-काल में बख्शीजी ने अनुवाद-कार्य भी बड़ी सफलतापूर्वक किया है। उनका अनूदित साहित्य दो प्रकार का है : (१) कहानी और (२) नाटक। उनकी कुछ कहानियाँ बंगला से अनूदित हैं। उनके अनूदित नाटकों की चर्चा हम उनकी रचनाओं के अन्तर्गत कर चुके हैं जिससे स्पष्ट है कि हिन्दी के वह सफल अनुवादक हैं। उनके अनुवादों में मौलिक रचनाओं का-सा आनन्द आता है। कहानी और नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने बड़े-बड़े मनीषियों के उपदेशात्मक वाक्यों का भी अनुवाद किया है। हिन्दी में इन अनुवादों का विशिष्ट स्थान है।

(२) बख्शीजी की कहानी-कला—बख्शीजी ने कहानियाँ भी लिखी हैं। उनकी कहानियाँ दो प्रकार की हैं—(१) मौलिक और (२) अनूदित। हम पहले ही बता चुके हैं कि आरंभ में उन्होंने अपनी माता से ही कहानी-रचना की प्रेरणा ग्रहण की थी। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप उन्होंने कई मौलिक कहानियों की रचना की। उनकी मौलिक कहानियों में कुछ दार्शनिक हैं और कुछ मनोवृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण के रूप में हैं। इन कहानियों के अध्ययन से उनकी कहानी-कला का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। उन्होंने विश्व की प्रसिद्ध कहानियों का गम्भीर अध्ययन किया है और उस

अध्ययन को अपनी कहानियों में आवश्यकतानुसार स्थान दिया है। उन्होंने कुछ कहानियाँ सिद्धांत-प्रतिपादन की दृष्टि से भी लिखी हैं। इनके अतिरिक्त उनकी शेष कहानियाँ सरस, भावपूर्ण और आकर्षक हैं। वह अपने पात्रों का चयन बड़े कौशल से करते हैं और *कथोपकथन-द्वारा ही* उनके चरित्र का विकास करते हैं। अपने सम्पादन-काल में उन्होंने अनेक अँगरेजी और बङ्गला-कहानियों का सुन्दर अनुवाद किया है। 'झलमला' में उनकी मौलिक कहानियाँ हैं। उनकी कुछ अनूदित कहानियाँ 'पञ्चपात्र' में भी संगृहीत हैं।

(४) **बख्शीजी का आलोचना-साहित्य**—बख्शीजी हिंदी के सफल आलोचक हैं। उन्होंने पाश्चात्य आलोचना-प्रणालियों का गम्भीर अध्ययन किया है और उसे अपने साहित्यिक सिद्धांतों और आदर्शों के अनुकूल अपनाया है। वह द्विवेदी-कालीन लेखक हैं, पर उनके आलोचना-साहित्य पर उस *काल की आलोचना-प्रणाली का प्रभाव नहीं है। उन्होंने पाश्चात्य और* प्राच्य आलोचना-सिद्धांतों के तुलनात्मक अध्ययन एवं अनुशीलन-द्वारा अपने आलोचना की मान्यताएँ निश्चित की हैं और उन्हीं को कसौटी मानकर हिन्दी-साहित्य को परखने की चेष्टा की है। इस प्रकार द्विवेदीजी की आलोचना-शैली से उनकी आलोचना-शैली सर्वथा भिन्न है। उनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण का उनकी लिखी हुई पुस्तकों 'विश्व-साहित्य' और 'हिंदी साहित्य-विमर्श' से अच्छा परिचय मिल जाता है। इनके द्वारा हिंदी-विद्यार्थियों को बहुत लाभ पहुँचा है और ये हिंदी-आलोचना-साहित्य की अमूल्य *निधि हैं। 'विश्व-साहित्य' में उन्होंने साहित्य के विभिन्न अङ्गों—कविता,* कहानी, नाटक, भाषा तथा कला आदि पर विस्तारपूर्वक विचार किया है और 'हिंदी-साहित्य-विमर्श' में मध्यकालीन काव्य-धारा के क्रम-विकास और परिवर्तन की *आलोचना प्रस्तुत की है। उनकी आलोचना अधिकांश निर्ण*यात्मक और विश्लेषणात्मक होती है। वह जिस विषय की आलोचना करते हैं उसका स्पष्ट चित्र सामने उपस्थित कर देते हैं। उनकी आलोचनाएँ सैद्धांतिक और व्यावहारिक, दोनों हैं। *अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में ही*

आवश्यकतानुसार वह आलोचनात्मक सिद्धांतों को भी स्थान देते रहते हैं।

(२) बख्शीजी की निबन्ध-कला—बख्शीजी के जिन रूपों की अबतक आलोचना की गयी है उनका उनके साहित्यिक जीवन के साथ विशेष संबंध नहीं है। वह वास्तव में न तो कवि हैं और न कहानीकार। वह मुख्यतः निबन्धकार हैं। वह स्वयं लिखते हैं—'मैं निबंध ही लिखता आया हूँ। जो मेरी कहानियाँ कही जाती हैं वे भी कथात्मक निबंध ही हैं। उन्हीं निबंधों का संग्रह पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ है।' बख्शीजी के इस कथन में उनके साहित्यिक जीवन का सार निहित है। कविता को छोड़कर उनकी समस्त मौलिक कृतियाँ निबंध साहित्य के ही अंतर्गत आती हैं। उनका निबंध-साहित्य विविध रूपेण है और उनकी अध्ययनशीलता एवं प्रबंध पटुता का द्योतक है। उनके निबंधों के विषय साहित्य, समाज, दर्शन, इतिहास तथा अध्यात्म सभी प्रकार के हैं। इन सभी विषयों पर उन्होंने विचारात्मक गम्भीर निबंध लिखे हैं। उनके अधिकांश निबंध आलोचनात्मक ही हैं जिनमें या तो वर्तमान सामाजिक जीवन की आलोचना की गयी है या साहित्यिक सिद्धान्तों की विवेचना। उनके दार्शनिक निबन्ध जीवन की अनुभूतियों से अनुप्राणित हुए हैं और वे भी आलोचनात्मक ही हैं। वस्तुतः जीवन के आलोचक हैं। फलतः उनके निबन्धों में उनकी शैली स्वच्छंद गति से प्रवाहित नहीं हुई है। वह अनेक बंधनों और मर्यादाओं से जकड़ी हुई है। बख्शीजी के निबंधों में इसीलिए विचार-सामग्री रहती है। उन्होंने भावना-मूलक निबंध नहीं लिखे हैं। उनके निबंधों में उनका अध्ययन और चिंतन ही अधिक रहता है। साथ ही अपने निबंधों के आकार और अपने विषय की सीमा का भी वह ध्यान रखते हैं। इसलिए उनके निबन्धों का प्रत्येक वाक्य विचारपूर्ण होता है और वह अपने आगे-पीछे के वाक्यों से संबद्ध रहता है। इस प्रकार आदि से अंत तक उनके निबंधों की विचार-शृंखला में शिथिलता नहीं आने पाती।

बख्शी जी के निबंध मुख्यतः विचारात्मक और आलोचनात्मक हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने कई आत्मकथात्मक संस्मरण भी लिखे हैं। 'डोप

किसका', 'मेरे लिए' आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। 'गोवर्द्धन मिश्र' तथा 'रामलाल पण्डित' शैली की दृष्टि से रेखाचित्र हैं। उन्होंने संस्मरण और रिपोर्ताज भी लिखे हैं। उनकी रचना 'मोटर स्टैण्ड पर' एक रिपोर्ताज ही है। उनके ऐसे निबंध 'और कुछ' तथा 'कुछ' निबंध-संग्रहों में संगृहीत हैं। विवरणात्मक निबंध उन्होंने कम लिखे हैं। उनके इस प्रकार के निबंध 'प्रबंध-पारिजात' में मिलते हैं। प्रसङ्ग-गर्भत्व, हास्य-व्यंग, विचारों की क्रमबद्धता, आत्मविश्वास के साथ स्वतंत्र विचारों का स्पष्टीकरण, सामाजिक विषयों में साहित्य की गति-विधियों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन आदि इनके निबंधों की विशेषताएँ हैं। उन्होंने कई निबंध सम्भाषण-शैली में भी लिखे हैं जिनसे बात-चीत का आनंद मिलता है। ऐसे निबंध तर्क-प्रधान हैं।

बख्शीजी की भाषा

बख्शीजी की भाषा शुद्ध हिन्दी है। वह अत्यंत शुद्ध और संयत भाषा लिखते हैं और उसे व्यावहारिक रूप न देकर साहित्यिक रूप देते हैं। अपनी भाषा के सम्बंध में उनका वही दृष्टिकोण है जो आचार्य शुक्लजी का है। एक स्थान पर वह लिखते हैं—'उसे (भाषा को) इस योग्य बना देना चाहिए कि देश की समस्त भावनाएँ उसी में व्यक्त हों। हमें अपने धर्म, इतिहास, विज्ञान अथवा राजनीति को समझने के लिए किसी अन्य भाषा की ओर न ताकना पड़े। यही भाषा का स्वराज्य है।' बख्शीजी ने इसी सिद्धांत के अनुकूल अपनी भाषा का स्वरूप स्थिर किया है। इसीलिए उनकी भाषा में सभी विषयों का समावेश हो सकता है। भाषा की दृष्टि से वह आचार्य शुक्लजी के अत्यन्त निकट हैं। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ उर्दू के शब्दों का भी आवश्यकतानुसार प्रयोग किया है। कद्र, दिमाग, किताब, मिर्फ, दावा, कायल, इशारा आदि उर्दू-शब्दों के साथ कुछ साधारण बोल-चाल के तद्भव शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। अँगरेजी के शब्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया है, पर ऐसे शब्दों के प्रयोग में उन्होंने बड़ी सतर्कता से काम लिया है। उनके शब्द-चयन में कर्कशता नहीं, एक प्रकार का मार्दव रहता है जिसके कारण उनकी भाषा का प्रवाह बराबर एक-सा

बना रहता है। उनका शब्द-भाण्डार विस्तृत है और भाषा पर उनका पूरा अधिकार है। वह अपने विचारों के अनुरूप ही अपनी भाषा का शृंगार करते हैं।

बख्शीजी की शैली

बख्शीजी की शैली अत्यन्त प्रौढ़ है। छोटे-छोटे वाक्यों में भाव भरना वह अच्छी तरह जानते हैं। स्पष्टता, गम्भीरता, प्रभावोत्पादकता और स्वाभाविकता उनकी शैली की विशेषताएँ हैं। उनकी शब्द-योजना और वाक्य-योजना में इतनी सम्बद्धता रहती है कि उनमें व्यक्त भाव और विचार कहीं भी उखड़े हुए से नहीं जान पड़ते। उनमें सूत्ररूप में भी कहने की क्षमता है। वह थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कह जाते हैं और अपनी शृङ्खला पर पूरा ध्यान रखते हैं। उनकी शैली के दो रूप हैं—(१) व्याख्यात्मक और (२) आलोचनात्मक। इन दोनों शैलियों में प्रायः एक सी भाषा का प्रयोग हुआ है। गहन विषय के प्रतिपादन में कहीं-कहीं उनकी शैली गम्भीर और क्लिष्ट अवश्य हो गयी है, पर इतनी नहीं कि पाठक का जी ऊब जाय और उसे शब्द-कोष का सहारा लेना पड़े। उनकी शैली में भाषा का सहज सौंदर्य बराबर बना रहता है। मुहावरों का प्रयोग भी उनकी शैली की एक परम विशेषता है। उनकी भाषा-शैली का उदाहरण लीजिए :—

'मातृ-स्नेह के साथ ही अपत्य स्नेह है। अपत्य पर पिता का उतना ही अधिकार है, जितना माता का। तो भी शिशु माता ही की गोद में झोंका देता है। शिशु में जो सरलता है, वह माता ही की सरलता की प्रतिच्छाया है। सरलता पवित्रता से पृथक् नहीं है। हम देखकर चकित होते हैं पर सरलता देखकर उसमें तन्मय हो जाते हैं। अपत्य के रूप में हमें यह धन स्त्रियों से ही मिलता है।'

: २१ :

परशुराम चतुर्वेदी

जन्म सं० १९५१

जीवन-परिचय

बलिया-नगर से पूर्व दिशा की ओर लगभग १० मील दूर जवही नाम का एक ग्राम है। यह ग्राम पतित-पावनी गंगा के किनारे बसा हुआ है। इसी ग्राम के एक ब्राह्मण परिवार में २५ जुलाई सन् १८९४ ई० (सं० १९५१) को परशुराम चतुर्वेदी का जन्म हुआ था। उनके पिता पं० राम छबीले चतुर्वेदी की आस पास अच्छी ख्याति थी और उनका परिवार अत्यन्त सुसपन्न समझा जाता था। ऐसे परिवार में बालक परशुराम की जैसी शिक्षा होनी चाहिए थी, नहीं हो सकी। आरम्भ में उनकी शिक्षा महाजनी पद्धति पर हुई और उन्हें संस्कृत का भी अभ्यास कराया गया। उसी समय से संस्कृत की ओर उनकी विशेष अभिरुचि हो गयी। हिन्दी की शिक्षा कक्षा २ तक ही उन्हें मिली। वह प्रतिभा-सम्पन्न विद्यार्थी थे। पढ़ने-लिखने में उनका बहुत जी लगता था। उस समय उनके मामा श्री शिवशंकर चौबे बस्ती के कोतवाल थे। एक दिन वह अपनी बहन से भेंट करने जवही आए और बालक परशुराम की पढ़ाई-लिखाई से प्रभावित होकर उन्होंने उसे बलिया-नगर के अँगरेज़ी विद्यालय में भेजने के लिए अपने बहनोई से आग्रह किया। इस आग्रह को वह टाल न सके। उन दिनों परशुरामजी के चचेरे नाना पं० यशोदानन्द चौबे गवर्नमेंट स्कूल, बलिया में अध्यापक थे और उसी स्कूल के छात्रावास के निरीक्षक भी थे। उन्हीं के अभिभावकत्व में बालक परशुराम की शिक्षा का सूत्रपात हुआ।

सं० १९६८ ई० में वन्देमातरम्-आन्दोलन का आरंभ हुआ। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक इस आन्दोलन की लहर दौड़ गयी। तत्कालीन छात्रों पर भी इसका प्रभाव पड़ा और बालक परशुराम भी

इसकी लपेट में आ गये। उन्होंने इस आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया जिसका फल यह हुआ कि उन्हें स्कूल तथा छात्रावास से निकाल दिया गया। इससे उनकी शिक्षा में बाधा अवश्य उपस्थित हुई, पर उनके नाना ने अधिकारियों से कह-सुनकर उन्हें स्कूल में पुनः प्रविष्ट करा दिया और तब से सं० १६७१ तक वह बराबर एकाग्र चित्त होकर विद्याध्ययन करते रहे।

सं० १६७१ में स्कूल लीविंग सार्टिफिकेट की परीक्षा पास करने के पश्चात् परशुरामजी उच्च शिक्षा के लिए प्रयाग चले गये। यहाँ उन्होंने कायस्थ पाठशाला में नाम लिखाया और हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहने लगे। आचार्य नरेन्द्र देव, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना, श्रीरामचन्द्र टंडन, श्री ललिताप्रसाद सुकुल, प० द्वारिका प्रसाद मिश्र, कविवर सुमित्रानन्दन पंत, डा० हीरालाल जैन, श्री दुलारेलाल भार्गव, श्री फ़िराक़ आदि वर्तमान साहित्यकार उनके समकालीन छात्र थे। परशुराम जी की उनसे घनिष्ट मित्रता थी। ऐसी मित्र-मंडली से ही आरम्भ में उन्हें साहित्य-सृजन की प्रेरणा मिली। इसी मित्र-मंडली के कतिपय सदस्यों ने प्रयाग विश्वविद्यालय—तत्कालीन सेन्ट्रल कालेज—में हिन्दी-परिषद् की स्थापना की। परशुरामजी इस परिषद् के प्रथम मंत्री निर्वाचित हुए। इंटरमीडिएट के उपरान्त सं० १६७६ में बी० ए० की परीक्षा भी उन्होंने प्रयाग से ही दी। इसी बीच उनके एक परम मित्र का निधन हो गया। इस निधन का उनके कोमल मस्तिष्क पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वह जीवन और मृत्यु के मूल स्वरूप को समझने के लिए आकुल हो उठे। ऐसी दशा में उनकी विचार-धारा स्वभावतः दर्शन की ओर झुकी। बी० ए० पास करने के पश्चात् दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए वह काशी गये और वहाँ वे हिन्दू-कालेज में दर्शन का अध्ययन करने लगे। उन्होंने अपने एम० ए० के लिए दर्शन-विषय ही लिया। उस समय प्रो० अधिकारी दर्शन-विभाग के अध्यक्ष तथा श्री अनुकूलचन्द्र मुकर्जी अध्यापक थे। अनुकूल बाबू परशुरामजी को पुत्रवत् मानते थे।

काशी-हिन्दू कालेज से सं० १६७८ में एम० ए० पास करने के

पश्चात् परशुरामजी प्रयाग चले गये। यहाँ आने पर उन्होंने अपने पिता के कहने से कानून का अध्ययन आरंभ किया और एल-एल० बी० की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् वह बलिया चले गये और वहाँ ई० १६८२ में उन्होंने वकालत आरम्भ की। वकालत आरम्भ करने के थोड़े ही दिनों बाद उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। वह अब भी वकील हैं, पर उनके व्यक्तित्व में वकालत की तराश-खराश नहीं है। साहित्य प्रेम ने उन्हें इस जीविका से बहुत ऊँचा उठा दिया है। वकालत उनकी जीविका का और साहित्य उनकी साधना का क्षेत्र है। दोनों के सुन्दर समन्वय में ही उनका जीवन समझा और परखा जा सकता है। उनका सार्वजनिक जीवन भी अत्यन्त सफल रहा है। वह अपने ज़िले के आनरेरी मजिस्ट्रेट, ग्राम-सुधार बोर्ड के अध्यक्ष और कई वर्षों तक ज़िला बोर्ड के सदस्य रह चुके हैं। इन पदों से उन्होंने जनता की प्रशंसनीय सेवा की है।

चतुर्वेदीजी अध्ययनशील साहित्यकार हैं। उनकी अध्ययनशीलता ने उन्हें जीवन के कृत्रिम बनाव-शृङ्गार से मुक्त कर दिया है। वह अपनी रहन-सहन में अत्यन्त सरल, स्वभाव में अत्यन्त संवेदनशील तथा अध्ययन में मनीषी हैं। परिवार में रहते हुए और उनकी समस्याओं से उलझते हुए भी वह कब और कैसे अध्ययन करते हैं—यह रहस्य का विषय है। इस समय वह चार पुत्र और चार कन्याओं के पिता हैं। उनका प्रथम विवाह ई० १६६२ में हुआ था। उस समय वह १०-११ वर्ष के थे। पहली पत्नी की मृत्यु के पश्चात् ई० १६६६ में उनका द्वितीय विवाह हुआ। इसी विवाह से उनकी सन्तानें हुईं। उनके परिवार में एक छोटा भाई और दो बहनें भी हैं।

चतुर्वेदीजी की रचनाएँ

चतुर्वेदीजी हिन्दी के प्रतिभा-सम्पन्न लेखक और आलोचक हैं। उनका रचना-काल उनके विद्यार्थी-जीवन से ही आरम्भ होता है। तब से अबतक वह बराबर हिन्दी-पत्र पत्रिकाओं में लिखते रहे हैं। उनकी रचनाएँ तीन प्रकार की हैं: (१) संपादित, (२) मौलिक और (३) अनूदित। उनक

संपादित रचनाओं में 'मीरांबाई की पदावली' (सं० १९९८) का प्रथम स्थान है। इसमें मीरांबाई के २०० से अधिक पद संगृहीत हैं। पाठान्तरों और टिप्पणियों के साथ मीरां के काव्य और भक्ति के समस्त पक्षों का जैसा सुन्दर विवेचन इस पुस्तक में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। 'सूफी काव्य-संग्रह' (सं० २००८) चतुर्वेदी जी का दूसरा संपादित ग्रन्थ है। इस पुस्तक में सूफी-काव्य-सम्बन्धी समस्त उपलब्ध सामग्री संक्षेप में प्रस्तुत की गयी है। तीसरा संपादित ग्रन्थ है 'संत काव्य' (सं० २००९)। यह अपने विषय की अनूठी पुस्तक है। इसमें संत-साहित्य के प्रतिनिधि पद संगृहीत हैं और प्रारम्भ में एक भूमिका है जिसमें संत-साहित्य के कला और भाव पक्षों पर बड़ी ही मार्मिक और वैज्ञानिक विवेचना है। 'मानस की राम-कथा' (सं० २०१०) चौथा संपादित ग्रन्थ है। गो० तुलसीदास-कृत 'रामचरित मानस' की कथावस्तु के आधार पर इसकी रचना की गयी है। इसमें दो खंड हैं: प्रथम खण्ड भूमिका के रूप में है और द्वितीय खण्ड में मानस की मूल राम-कथा दी गयी है।

चतुर्वेदी की मौलिक रचनाओं में 'उत्तरी भारत की संत-परम्परा' (सं० २००७) का प्रमुख स्थान है। यह उत्तरी भारत के संतों और उनके संप्रदायों का विश्व-कोश है। हिन्दी-जगत में उनकी यही रचना उन्हें अमर बनाने के लिए पर्याप्त है। इस ग्रंथ पर उत्तर प्रदेशीय सरकार; राष्ट्र भाषा परिषद बिहार; डालमिया पुरस्कार समिति, दिल्ली तथा हिन्दुस्तानी एकेडेमी उ० प्र० ने उन्हें पुरस्कार देकर उनका सम्मान किया है। 'हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह' (सं० २००९) में उन्होंने हिन्दी-साहित्य के आदि काल से आज तक की प्रेम-पद्धतियों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। 'वैष्णव धर्म, (सं० २०१०) में वैष्णव-धर्म का क्रमिक विकास दिखाया गया है। 'गार्हस्थ्य जीवन और ग्राम सेवा' (सं० २००९) जीवनोपयोगी विषयों पर लिखे गए निबन्धों का संग्रह है। 'नव निबंध' (सं० २००८) में साहित्यिक निबंध संगृहीत हैं। 'मध्यकालीन प्रेम साधना' (सं० २००९) में भी विषयानुकूल उनके दस निबंध संगृहीत हैं। भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक

रेखाएँ (सं० २०१२) में उनके २७ आलोचनात्मक निबंध हैं। '**कबीर-साहित्य की परख**' (सं० २०११) में उन्होंने कबीर के दार्शनिक विचारों का विवेचन प्रस्तुत किया है। **मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियाँ तथा नव निबन्ध**' (सं० २०११) में उनके अन्य निबन्ध हैं। इनके अतिरिक्त **भारतीय आख्यान की परम्परा** (सं० २०१३) में उन्होंने भारतीय प्रेमाख्यानों पर गंभीर दृष्टि से विचार किया है। **संत साहित्य की भूमिका** (सं० २०१३) उनकी नवीनतम रचना है। 'नागरी प्रचारिणी सभा' ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के एक खण्ड के सम्पादन का दायित्व उन्हें सौंपा है। चतुर्वेदीजी ने अनुवाद करने में भी सफलता प्राप्त की है। 'एसेज ग्राफ इमर्सन' तथा 'ग्रार्ट ऐण्ड स्वदेशी' के अनुवाद हिन्दी के अनूदित साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन अनुवादों को पढ़ने में मौलिक रचनाओं का-सा आनन्द मिलता है। जहाँ तक हो सका है चतुर्वेदीजी ने लेखक की आत्मा की सर्वत्र रक्षा की है। 'कबीर-कोश' और भोजपुरी शब्द-कोश' चतुर्वेदीजी की अपूर्ण रचनाएँ हैं।

चतुर्वेदीजी की सत्य साधना

इमने चतुर्वेदीजी की रचनाओं का जो संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है उससे उनकी विचार-धारा, उनकी साहित्यिक क्षमता और उनकी प्रतिभा का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। हिन्दी के वह मौन साधक हैं। उन्होंने अबतक हिंदी-साहित्य को जो कुछ दिया है वह उनके गंभीर अध्ययन और चिंतन का फल है। साहित्य-निर्माण में उनकी अपनी स्वतंत्र विचार-धारा है। वह जितना पढ़ते हैं, जितना अध्ययन करते हैं, उसे पचाकर अपने हाड़-मांस का अंश बना लेते हैं। वह धार्मिक, राजनीतिक और साहित्यिक तीनों एक साथ हैं। उनके व्यक्तित्व में इन तीनों का अत्यन्त सुन्दर समन्वय हुआ है। सुकरात, शंकराचार्य तथा स्वामी रामतीर्थ के धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की जहाँ उनके हृदय पर छाप है वहाँ उन्होंने रानडे, गोखले और चन्द्रावरकर आदि विचारकों के सामाजिक दर्शन से भी बहुत कुछ सीखा है। इसी प्रकार उनकी विचार-धारा को प्रभावित करने में दाक्षिणात्य विद्वानों का भी विशेष हाथ रहा है। पर इन समस्त प्रभावों के

होते हुए भी उनका व्यक्तित्व अछूता है। वह अपनी विचार-धारा के स्वयम् निर्माता हैं और अनुभूति-स्वतंत्र विचार-पद्धति के समर्थक हैं। ज्ञान और चिन्तन के क्षेत्र में सम्प्रदायवाद उनके निकट अत्यन्त हेय है। साहित्य के क्षेत्र में वह विकासवादी सिद्धांत के समर्थक हैं। उनका विश्वास है कि प्रत्येक युग का साहित्य उस युग की परिस्थितियों के अनुसार लिखा जाता है और चूँकि परिस्थितियाँ सदैव विकासोन्मुखी रहती हैं, अतएव साहित्य का भी सतत विकास होता जाता है। यही कारण है कि चतुर्वेदीजी अपनी साहित्य साधना में साहित्यिक अथवा सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त रहे हैं। उनमें जहाँ एक ओर प्राचीनता के प्रति श्रद्धा का भाव है, वहाँ नवीनता के प्रति उत्साह, आकर्षण और लालसा भी। देश की वर्तमान राजनीति में भी उनकी दिलचस्पी रही है। उन्होंने खुलकर कभी किसी आन्दोलन में भाग नहीं लिया, पर भिन्न-भिन्न प्रकार की राजनीतिक विचार-धाराओं का उनके मन, मस्तिष्क और साहित्य पर प्रभाव पड़ा है। राजनीतिक विचारों में वह लोकमान्य तिलक से अधिक प्रभावित रहे हैं।

हिन्दी के वर्तमान आलोचकों में चतुर्वेदीजी का प्रमुख स्थान है। उनके साहित्यिक जीवन का प्रादुर्भाव उस समय से होता है जब वह केवल ११ वर्ष के थे। अपनी इस छोटी अवस्था में उन्होंने एक दोहा लिखा था जो इस प्रकार है :—

'बड़का घर के पास ही, राम विरिछ का संड।
यहाँ अखाड़े में लड़ें और करें हम दंड॥'

बलिया से प्रयाग आने पर उनकी काव्य-प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ। वह राष्ट्रीय आन्दोलन का युग था। देश अपनी दासता की शृंखला तोड़कर स्वतन्त्र होने के लिए छटपटा रहा था। विद्यार्थियों में अपूर्व उत्साह और चेतना था। ऐसे वातावरण में चतुर्वेदीजी का बाल-हृदय काव्य के रूप में प्रस्फुटित हुआ और उन्होंने राष्ट्रीय कविताएँ लिखना आरम्भ किया। उस समय उनकी रचनाएँ 'प्रताप', 'कन्या-मनोरंजन', 'कवि-कौमुदी', 'मर्यादा' आदि पत्रों में प्रकाशित होती थीं।

चतुर्वेदीजी के साहित्यिक जीवन में गद्य का आविर्भाव अपेक्षाकृत बाद में हुआ। आरम्भ में उन्होंने गार्हस्थ्यजीवन और नीति-सम्बन्धी कुछ लेख लिखे जो 'त्यागभूमि' और 'विकास' में प्रकाशित होते रहे। इन्हीं प्रारम्भिक लेखों का संकलन 'गार्हस्थ्य जीवन और ग्राम सेवा' में किया गया है। इन निबंधों के पश्चात् उनके अध्ययन और लेखन में एक निश्चित क्रम और विकास दिखायी देता है। उनके गंभीर अध्ययन का सूत्रपात हिन्दी के सम्पूर्ण श्रृंगारिक काव्य से होता है। इस दिशा में उनके अध्ययन का फल उनकी रचना 'नव निबन्ध' में मिलता है। इसी प्रकार प्रेम-काव्य का विशेष अध्ययन 'हिंदी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह' तथा 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' के रूपों में दिखायी देता है। इन दोनों पुस्तकों से हिन्दी-जगत को उनकी आलोचनात्मक रुचि और उनकी मननशीलता का अच्छा परिचय मिलता है।

चतुर्वेदीजी के साहित्यिक जीवन का तीसरा रूप उनके वर्तमान साहित्य में देखा जा सकता है। शृङ्गार का विकास प्रेम में और प्रेम का पर्यवसान भक्ति में होता है। इसी स्वाभाविक क्रम के अनुसार उनकी अध्ययनशीलता भक्ति-काव्य की ओर उन्मुख हुई है। इस दिशा में उनकी पुस्तक 'उत्तरी भारत की संत-परम्परा' उनके अध्ययन का प्रतीक है। हिन्दी-जगत में इस पुस्तक-द्वारा उन्हें अच्छा यश मिला है। यह अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। संत-साहित्य, संत-मत, और संत-सिद्धान्तों की जैसी छान-बीन उन्होंने की है वैसी उनके पूर्व कोई नहीं कर सका है। इसका एक कारण है। चतुर्वेदीजी कई भाषाओं के ज्ञाता हैं। अँगरेजी, उर्दू, फारसी, संस्कृत, अपभ्रंश, बंगाली, गुजराती, मराठी, उड़िया, पंजाबी, फ्रेंच तथा तिब्बती भाषाओं का उन्हें अच्छा परिचय और ज्ञान है। इतनी भाषाओं के ज्ञान के बल पर ही उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का ताना-बाना बुना है। सिद्ध-साहित्य से आधुनिक काव्य तक का उन्होंने मथन कर डाला है।

चतुर्वेदीजी अपने कृतित्व में मुख्यतः आलोचक हैं। उनकी आलोचनाएँ दो रूपों में मिलती हैं : (१) मौलिक रचनाओं के रूप में और (२) भूमिकाओं के रूप में। 'उत्तरी भारत की संत-परम्परा', 'वैष्णव-धर्म',

'हिन्दी-काव्य-धारा में प्रेमप्रवाह,' 'मध्यकालीन प्रेम-साधना,' 'कबीर-साहित्य की परख,' संत-साहित्य की भूमिका' और 'भारतीय आख्यान की परम्परा' उनकी मौलिक आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। 'मीराँबाई की पदावली', 'सूफी काव्य-संग्रह', 'संत-काव्य' और मानस की रामकथा' की भूमिकाएँ आलोचनात्मक हैं। इनके अतिरिक्त डा० बड़थ्वाल-कृत "द निर्गुण स्कूल आफ़ हिन्दी पोयट्री', पद्मावती शबनम-कृत 'मीराँ-एक अध्ययन', गणेशप्रसाद द्विवेदी-कृत 'हिन्दी-संत-काव्य', डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित-कृत 'सुन्दर-दर्शन' तथा जगदीश ओझा-कृत 'मित्राग्नि' की भूमिकाएँ उन्हीं की लिखी हुई हैं। अपनी इन आलोचनात्मक कृतियों में वह अत्यन्त उदार हैं। आलोचना के क्षेत्र में उनके कुछ अपने मौलिक विचार हैं, कुछ अपने मान दण्ड हैं। उनमें आलोचना के किसी सार्वभौम एवं चिरस्थायी सिद्धान्त के प्रति आस्था नहीं है। अपनी आलोचना में वह न तो रचनाकार के व्यक्तिगत जीवन को महत्त्व देते हैं और न उसके मानसिक स्तरों का विश्लेषण करके उसकी रचनाओं में उस विश्लेषण का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। रचनाकार की कृतियों पर पड़नेवाले युग विशेष के प्रभावों की भी वह छान-बीन नहीं करते। प० रामचन्द्र तिवारी के शब्दों में 'काल क्रमानुसार जनता की रुचि एवं प्रवृत्ति में होनेवाले परिवर्तनों तथा फलस्वरूप साहित्य के स्वरूप में होनेवाले क्रमागत विकास को बिना किसी पूर्वग्रह के लक्ष्य करने की चेष्टा आपने की है। पूर्वग्रह का त्याग तथा सिद्धान्त विशेष के प्रति ममत्व की कमी यदि तटस्थता है तो वह आप में है। किसी पूर्वनिश्चित सिद्धान्त को ही आधार बनाकर रचना के मूल में कार्य करनेवाली अन्य वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रेरणाओं की उपेक्षा कर देना, आपकी दृष्टि में अनुपात सम्बन्धी अनौचित्य है।' अपने इसी दृष्टि कोण के अनुसार चतुर्वेदीजी ने अपनी आलोचना का रूप-विधान निश्चित किया है।

चतुर्वेदीजी ने मुख्यतः तीन प्रकार के निबन्ध लिखे हैं: (१) सामाजिक (२) धार्मिक तथा (३) साहित्यिक। तीनों प्रकार के निबन्ध

विचार-प्रधान है। ऐसे निबन्ध 'गार्हस्थ्य-जीवन और ग्राम-सेवा', 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' और 'नव निबन्ध' में संगृहीत हैं। उनके अधिकांश निबंध साहित्यिक हैं जिनमें संत-मत की आलोचना की गई है। भूमिकाओं के रूप में उनके जो निबंध मिलते हैं वे अनुसंधानात्मक हैं। उनमें हृदय का वेग कम, मस्तिष्क का अंश अधिक है। इसलिए उनमें रोचकता, रस-मग्नता और स्निग्धता का अभाव है। साथ ही हास्य और व्यंग का आयोजन भी नहीं है। इससे उनके निबंधों की शैली परुष हो गयी है।

चतुर्वेदीजी की भाषा

चतुर्वेदीजी भाषा के धनी हैं। उनकी रचनाओं में उनकी भाषा अत्यन्त सरल, सुबोध और प्रवाहमय है। उनके शब्द उनके भावों के सच्चे प्रतीक और उनके वाक्य उनके विचारों के सच्चे प्रतिनिधि होते हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में गंभीर विचार व्यक्त करना उनकी रचना-शैली की विशेषता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग वह खुलकर करते हैं, पर ऐसे नहीं जो कठिन और समझ के परे हों। गंभीर विषयों को सरल और बोधगम्य भाषा में व्यक्त करने की कला से वह भली भाँति परिचित हैं। अनेक भाषाओं का ज्ञान होने पर भी उन्होंने अपनी भाषा की पवित्रता नष्ट नहीं की है। उर्दू और फारसी के शब्द भी उनकी भाषा में नहीं के बराबर हैं। इस प्रकार उन्होंने अपनी भाषा को अपनी विशेष रुचि के अनुसार सजाया-सँवारा है।

चतुर्वेदीजी की शैली

चतुर्वेदीजी की शैली (१) विश्लेषणात्मक, (२) विवेचनात्मक और (३) गवेषणात्मक है। विवेचनात्मक शैली में उनकी रचनाएँ निबन्धों के रूप में देखी जा सकती हैं। आलोचनात्मक विषयों के लिए विवेचना-प्रधान-शैली ही उपयुक्त होती है। चतुर्वेदीजी ने इस शैली का प्रयोग बड़ी सफलतापूर्वक किया है। उनकी इस शैली में उनका शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास विषयानुसार सरल और गंभीर होता रहता है। आलोच्य-विषयों को सरलतम रूप देने और उन्हें सरल भाषा में व्यक्त करने की कला में

उन्हें विशेष सफलता मिली है। अवसरानुकूल उनके वाक्य कहीं लम्बे और कहीं संकुचित हो गए हैं। होना भी यही चाहिए। भाषा में उतार-चढ़ाव से ही प्रवाह आता है। चतुर्वेदीजी की भाषा में पर्याप्त चढ़ाव-उतार है। इससे उनकी भाषा और शैली में एक-रसता नहीं, सरसता है।

चतुर्वेदीजी की गवेषणात्मक शैली उनके उन मौलिक ग्रंथों में मिलती है जो उनके गंभीर अध्ययन और चिंतन की द्योतक हैं। इस शैली में उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से अपेक्षाकृत बोझिल हो गयी है। यह विषय का प्रभाव है, उनकी शैली का दोष नहीं। दार्शनिक विषयों के निरूपण एवं प्रतिपादन में जब-जैसी शब्दावली चाहिए, चतुर्वेदीजी ने वैसी ही शब्दावली का प्रयोग किया है। इस शैली में उनके वाक्य छोटे और कहीं-कहीं तो केवल सूत्र रूप में हैं। इस प्रकार उनकी यह शैली भी सफल है। उनकी शैली का एक उदाहरण लीजिए :—

'वैदिक युग से लेकर आधुनिक समय तक वर्णित रूप ग्रहण करते आने पर भी भारतीय प्रेमाख्यानों में कोई विषयगत मौलिक अंतर नहीं लक्षित होता। उनमें प्रायः सर्वत्र एक विशिष्ट भाव धारा काम करती जान पड़ती है। उनकी कथा-वस्तुओं की सरलता से जटिलता की ओर विकसित होते जाने पर भी उनमें भारतीय संस्कृति के ही उदाहरण मिलते हैं।'

वियोगी हरि

जन्म सं० १९५३

जीवन परिचय

वियोगी हरि का जन्म बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत छतरपुर राज्य में चैत्र, शुक्ल रामनवमी, सं० १९५३ वि० को हुआ था। उनका पूर्व नाम हरिप्रसाद द्विवेदी था, पर बाद को उन्होंने अपना नाम 'वियोगी हरि' रख लिया। वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। जब वह छः महीने के थे तभी उनके पिता पं० बलदेव प्रसाद द्विवेदी का देहान्त हो गया। फलतः बाल्यावस्था में उनका पालन-पोषण ननिहाल में हुआ। उनके नाना पं० अच्छेलाल तिवारी का उन पर विशेष प्रेम था।

वियोगी हरि की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। आठ वर्ष की अवस्था में उन्होंने हिन्दी पढ़ना आरम्भ किया। इसके पूर्व ही सात वर्ष की अवस्था में वह कुण्डलियाँ बनाकर अपनी कवित्व-शक्ति का परिचय दे चुके थे। हिन्दी से उन्हें विशेष प्रेम था। हिन्दी के साथ ही वह संस्कृत भी पढ़ते थे। हिन्दी की शिक्षा पाने के अनन्तर वह छतरपुर के हाई स्कूल में प्रविष्ट हुए। इस स्कूल से उन्होंने सं० १९७२ में मैट्रीकुलेशन की परीक्षा पास की। इसके बाद वह दर्शन-शास्त्र के अध्ययन की ओर झुके। आरम्भ में उनके विचार अद्वैतवादी थे, पर आगे चलकर इसमें परिवर्तन हो गया। बचपन से ही वह तत्कालीन छतरपुर की रानी श्रीमती कमल-कुमारी देवी उपनाम 'जुगुलप्रिया' के कृपा-पात्र थे। उन्हें वह पुत्रवत् मानती थीं। वह मध्व-सम्प्रदाय में दीक्षित थीं और प्रेम-पदों की रचना करती थीं। उनकी सत्सङ्गति में पड़कर वियोगी हरि अद्वैतवाद की सीमा से निकलकर द्वैतवादी हो गये।

छतरपुर की महारानी के साथ रहने के कारण वियोगी हरि को उनके साथ भारत के समस्त तीर्थ-स्थानों की यात्रा करने का कई बार अवसर मिला। इन यात्राओं से जहाँ उनके चित्त को शान्ति मिली वहाँ उन्हें सांसारिक अनुभव भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुए। एक बार तीर्थ-यात्रा के सम्बन्ध में वह प्रयाग आये। यहाँ श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन ने उन्हें साहित्य-सम्मेलन की सेवा के लिए रोक लिया। प्रयाग में रहकर उन्होंने 'सम्मेलन-पत्रिका' के सम्पादन के अतिरिक्त संक्षिप्त सूरसागर' का भी सम्पादन किया। इसी समय उन्होंने 'तरंगिणी' नामक एक सुन्दर गद्य-काव्य भी लिखा। बीच में फिर वह महारानी के साथ तीर्थ-यात्रा के लिए गये। वहाँ से लौटने पर उन्होंने बंगला के प्रसिद्ध काव्य 'शुकदेव' के ढङ्ग पर 'शुकदेव' नामक एक खण्डकाव्य खड़ीबोली में लिखा। इसके बाद वह फिर महारानीजी के साथ दक्षिण भारत के तीर्थ-स्थानों की यात्रा के लिए गये। इस यात्रा में सहसा ही महारानीजी का स्वर्गवास हो गया। उनके निधन से वियोगी हरि को बहुत दुःख हुआ। फलतः स्वर्ग-प्रयाण के समय महारानी की आज्ञानुसार उन्होंने प्रयाग आकर त्रिवेणी तट पर मारव-सम्प्रदाय के अन्तर्गत संन्यास ग्रहण कर लिया। उनके सन्यासाश्रम का नाम 'श्री हरितीर्थ' था, परन्तु अपने सर्वस्व के विधान में उन्होंने आजन्म के लिए अपना नाम ही वियोगी हरि रख लिया।

वियोगी हरि ने चार वर्ष तक बड़े परिश्रम से 'सम्मेलन-पत्रिका' का सम्पादन किया। अपने इसी सम्पादन-काल में उन्होंने कई प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की। इसके बाद नवम्बर सन् १९३२ (सं० १९८९) में वह गाँधीजी के प्रभाव से 'हरिजन-सेवक-संघ' में सम्मिलित हुए और 'हरिजन-सेवक-पत्र' का सम्पादन करने लगे। सं० १९९४ में वह 'गाँधी-सेवा-संघ' के सेवक सदस्य हुए। मार्च सन् १९३८ (सं० १९९५) से वह दिल्ली की हरिजन-बस्ती की उद्योगशाला के व्यवस्थापक का कार्य कर रहे हैं। इस संस्था की देख भाल करते हुए भी वह साहित्य-सेवा में लगे रहते हैं। वह कराची-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति रह चुके हैं। 'वीर सतसई' पर उन्हें १०००) का

मंगलाप्रसाद-पारितोषिक' भी मिला है। इस धन को उन्होंने सम्मेलन को भेंट कर अपनी उदारता का परिचय दिया है।

वियोगी हरि का जीवन त्याग और संयम का जीवन है। वह दार्शनिक होते हुए भी सरस हैं। उनके जीवन का आदर्श है सेवा और त्याग। इन्हीं दोनों आदर्शों के अनुरूप उन्होंने अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया है। उनके जीवन पर तुलसी, छतरपुर की महारानी और गांधीजी का यथेष्ट प्रभाव है। तुलसी की रचनाओं से उन्हें साहित्य-निर्माण की प्रेरणा मिली है, छतरपुर की महारानी से उन्हें दार्शनिक अनुभूति प्राप्त हुई है और गाँधीजी से उन्होंने सेवा-भाव की दीक्षा ली है। उनका अबतक का जीवन इन्हीं तीनों धाराओं के सुन्दर समन्वय से सफल हो सका है।

हरिजी की रचनाएँ

हरिजी हिन्दी के अनन्य प्रेमी और उच्च कोटि के साहित्यकार हैं। उन्होंने तुलसी की 'विनयपत्रिका' और श्रीमद्भागवत का विशेष रूप से अध्ययन किया है। उनका रचना-काल सं० १९७१ से आरम्भ होता है। उस समय से अबतक की उनकी समस्त रचनाएँ दो प्रकार की हैं: (१) मौलिक और (२) सम्पादित। उनकी मौलिक रचनाओं में कुछ तो साहित्यिक हैं और कुछ सामाजिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय। उनकी साहित्यिक रचनाओं में काव्य, गद्य-काव्य, निबन्ध तथा नाटक का स्थान है। उनकी समस्त रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) गद्य-काव्य—तरंगिणी (सं० १९७७), अन्तर्नाद (सं० १९८३), पगली (सं० १९८५), भावना (सं० १९८६), प्रार्थना (सं० १९८६), ठण्डे छींटे (सं० १९९०), मेरी हिमाकत (सं० १९९७), श्रद्धा-कण, गद्य-गीत।

(२) नाटक—वीर हरदौल, श्री छद्मयोगिनी नाटिका (सं० (१९८०), प्रबुद्ध-यामुन (सं० १९८६)।

(३) निबन्ध संग्रह—साहित्य विहार (सं० १९८३)।

(४) काव्य—प्रेम पथिक (सं० १९७५), शुकदेव, प्रेम-शतक, प्रेमांजलि, प्रेम-परिचय, मेवाड़ केसरी, चरखा-स्तोत्र (संस्कृत पद्य), चरखे

२२

की गूँज, वकील की राम-कहानी, असहयोग-वीणा, वीर-वाणी, श्रीगुरु पुष्पांजलि, कवि-कीर्तन (सं० १९८०), अनुराग-वाटिका, वीर-सतसई, (सं० १९८४)।

(५) धार्मिक एवं उपदेशात्मक रचनाएँ—मन्दिर-प्रवेश, महात्मा गाँधी का आदर्श, योगी अरविन्द की दिव्य वाणी (सं० १९७६), प्रेम-योग (सं० १९८६), विश्व-धर्म (सं० १९८७), चटने चलो, बुद्ध-वाणी, गीता में भक्तियोग, मत-चन्द्रिका।

(६) आत्म-कथा—मेरा जीवन प्रवाह।

(७) सम्पादित—संक्षिप्त सूरसागर (सं० १९७६), ब्रज माधुरी सार (सं० १९८०), छत्रसाल-ग्रन्थावली (सं० १९८३), सन्त-वाणी (सं० १९९५), बिहारी-संग्रह, सूर-पदावली, भजनावली, भजनमाला, विनय पत्रिका, हिन्दी-गद्य रत्न-माला, हिन्दी-पद्य-रत्न माला, मीराँ बाई आदि का पत्र-संग्रह, तुलसी-सूक्ति-सुधा, पंचदशी, अयोध्याकाण्ड की टीका, सन्त-सुधा-सार (सं० २०१०)।

हरिजी की साहित्य-साधना

हरिजी की उक्त रचनाओं से उनकी प्रतिभा और साहित्य-सेवा का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। हिन्दी के वह प्रौढ़ लेखक हैं और उनकी रचनाएँ आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। उन्होंने जितनी पुस्तकें लिखी हैं वे विषय की दृष्टि से तीन श्रेणियों में विभक्त की जा सकती हैं: (१) साहित्यिक, (२) धार्मिक और (३) सामयिक।

हरिजी की साहित्यिक रचनाओं में कविता, नाटक और निबंधों का प्रमुख स्थान है। वह हिन्दी-साहित्य के पिछले खेवे के कवि हैं। उन्होंने शान्त और वीररस प्रधान रचनाएँ की हैं। उनकी शृङ्गार-रसपूर्ण रचनाएँ कम हैं। राधा-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण उनका समस्त काव्य द्वैतवाद से प्रभावित है। ब्रजभाषा के माध्यम से उन्होंने अपने काव्य में प्रेम और भक्ति की जो धारा प्रवाहित की है वह हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है। अपनी भक्तिपूर्ण रचनाओं

में वह सूर और तुलसी से अधिक प्रभावित हैं। उनके स्तुति और विनय के पद बड़े मार्मिक होते हैं। उनमें उनके दार्शनिक विचारों का चित्रण बड़ी सुन्दरता से हुआ है। 'अनुराग वाटिका' में उनके इसी प्रकार के १०० पद संग्रहीत हैं। पद-रचना के अतिरिक्त उन्होंने दोहों और सवैयों में भी अपनी भक्ति-भावना का परिचय दिया है। 'कवि-कीर्तन' में हिन्दी के १०० कवियों के पद्यात्मक परिचय दिए गए हैं। उन्होंने ब्रजभाषा में वीररसपूर्ण 'वीर सतसई' भी लिखी है। हिन्दी-जगत् में इस 'सतसई' का बड़ा आदर हुआ है और यह उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना मानी जाती है। इस पर उन्हें साहित्य-सम्मेलन से 'मंगलाप्रसाद-पारितोषिक' मिला है।

हरिजी कवि ही नहीं, एक सफल निबंधकार और नाटककार भी हैं। 'साहित्य-विहार' उनके भक्ति-रस-पूर्ण सरस निबन्धों का संग्रह है। इन निबन्धों की भाषा खड़ीबोली और शैली भावात्मक है। इनमें भी उनकी भक्ति-भावना का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। एक प्रकार से ये निबन्ध गद्यात्मक काव्य हैं। 'तरंगिणी' और 'अन्तर्नाद' में उनके गद्य-काव्यों का संकलन है। इन पर भी उनके द्वैतवादी सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव है। इन साहित्यिक ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने नाटक भी लिखे हैं।

हरिजी एक सफल सम्पादक भी हैं। उनकी सम्पादन-कला का परिचय हमें दो रूपों में मिलता है: (१) पत्र-सम्पादक के रूप में और (२) पुस्तक-सम्पादक के रूप में। 'सम्मेलन-पत्रिका' और 'हरिजन-सेवक' का सम्पादन उन्होंने बड़े परिश्रम और कौशल से किया है। इन पत्रों के अतिरिक्त उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास-कृत 'विनयपत्रिका' पर 'हरितोषिणी' नामकी एक वृहत् टीका भी लिखी है। उन्होंने 'ब्रजमाधुरी-सार' नामक एक सरस ग्रन्थ का भी सम्पादन किया है।

हरिजी ने धार्मिक और कुछ सामाजिक ग्रन्थों की भी रचना की है। उनके धार्मिक ग्रन्थों पर द्वैतवाद का स्पष्ट प्रभाव है। उनके धार्मिक विचारों में संकीर्णता नहीं है। 'प्रेमयोग,' 'गीता में भक्ति-योग' आदि उनके धार्मिक ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में प्रेम और भक्ति की विवेचना बड़ी

सुन्दर हुई है। धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त उन्होंने जो सामयिक विषयों पर ग्रंथ लिखे हैं उनपर गांधीवाद का स्पष्ट प्रभाव है।

हरिजी की भाषा और शैली

हरिजी दो प्रकार की भाषा लिखते हैं : (१) ब्रजभाषा और (२) खड़ीबोली। उनकी काव्य-भाषा ब्रजभाषा है जिसपर उनका पूर्ण अधिकार है। उनकी ब्रजभाषा में वही सरसता, वही प्रवाह और वही मार्दव है जो हिन्दी के भक्त-कवियों की भाषा में पाया जाता है। उसमें शब्दों की तोड़-मरोड़ और खींचा-तानी नहीं है। सरल ब्रजभाषा में गंभीर दार्शनिक विचार उन्होंने बड़े कलापूर्ण ढंग से व्यक्त किए हैं। उसमें अलंकार-योजना भी एक मर्यादित सीमा के भीतर मिलती है।

हरिजी ने खड़ीबोली में कुछ कविताएँ भी लिखी हैं और गद्य की भी रचना की है। उनकी गद्य की भाषा खड़ीबोली है। इसके दो रूप हैं : (१) शुद्ध साहित्यिक और (२) व्यावहारिक। उनकी शुद्ध साहित्यिक भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है। इस प्रकार की भाषा उनके गद्य-काव्यों में मिलती है। गद्य-काव्य की भाषा संस्कृत-प्रधान है और उसमें गम्भीर विचार अधिकांश दुरूह हो गए हैं, पर भाषा का प्रवाह ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। 'अन्तर्नाद' की भाषा इसी प्रकार की है। इसके विपरीत उनके साहित्यिक निबंधों की भाषा में व्यावहारिकता अधिक है। इस भाषा में न तो संस्कृत के तत्समों की प्रधानता है और न उर्दू-शब्दों की भरमार। हरिजी ने अपनी इस भाषा में संस्कृत के तत्समों के साथ उर्दू के मतलब, अर्ज़, रोब, मालिक, जनाब, साहब, बेशक, परदेज़, कसूर आदि शब्दों का प्रयोग इतनी सुन्दरता से किया है कि विचारों की उठान में कहीं भी बाधा नहीं पड़ी है, पर जहाँ संस्कृत-तत्समों के बीच उन्होंने जाने अथवा अनजाने में उर्दू-शब्दों को स्थान दिया है वहाँ उनका भाषा-सौष्ठव विकृत हो गया है। संक्षेप में उनकी भाषा सरल, मधुर, प्रसाद गुणयुक्त और ओजपूर्ण है।

हरिजी की शैली

हरिजी हिन्दी के प्रसिद्ध शैलीकार हैं। उनकी गद्य-रचनाओं में दो

प्रकार की शैलियोंका प्रयोग हुआ है : (१) भावात्मक और (२) विचारात्मक। उनके निबन्धों की शैली भावात्मक है। उसमें हृदय पक्ष अधिक, मस्तिष्क का चमत्कार कम है। उनकी अनुभूति और सरस कल्पना ने ही इस शैली का निर्माण किया है। 'साहित्य-विहार' में उनके जो निबंध संग्रहीत हैं उनकी शैली इस प्रकार की है। इस शैली में अधिकांश व्यावहारिक भाषा का प्रयोग हुआ है। उनकी भावात्मक शैली का दूसरा रूप 'अन्तर्नाद' में मिलता है। 'अन्तर्नाद' की शैली काव्यात्मक शैली भी कही जा सकती है। यह संस्कृत समासान्त पदावली-प्रधान शैली है। भाव और भाषा की दृष्टि से इसमें गम्भीरता अधिक है। इसमें वाक्य छोटे, पर प्रवाहपूर्ण हैं और भावों की सम्बद्धता बराबर बनी रहती है। इसमें मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है।

हरिजी ने अपने सभी निबंधों में विषय-प्रवेश बड़ी अनुरंजनात्मक रीति से किया है। इससे उनके निबंधों में आरम्भ से ही एक अद्भुत चमत्कार और आकर्षण आ जाता है। निबंधों के बीच-बीच में हिन्दी-उर्दू और संस्कृत कवियों की चुभती और चमत्कारपूर्ण उक्तियों-द्वारा वह प्रतिपाद्य विषय को रोचक, बोधगम्य और आकर्षक भी बना देते हैं। इस प्रकार खड़ीबोली में उन्होंने ब्रजभाषा के माधुर्य और स्वाभाविक प्रवाह का बड़ी सफलतापूर्वक विधान किया है। अनुप्रासों की भरमार उनमें अधिक है। स्थान-स्थान पर हास्य और व्यंग के छींटे भी कसे गए हैं। हरिजी की विचारात्मक शैली इससे बिलकुल विपरीत है। इस शैली में उन्होंने अपने दार्शनिक एवं सामयिक विचारों को व्यक्त किया। यह शैली गम्भीर, ठोस और संयत है। उनकी शैली का उदाहरण लीजिए :—

'किसानों और मजदूरों की टूटी-फूटी झोपड़ियों में ही प्यारा गोपाल वंशी बजाता मिलेगा। वहाँ जाओ और उसकी मोहिनी छवि निरखो। जेठ-बैसाख की कड़ी धूप में मजदूर के पसीने की टपकती हुई बूँदों में उस प्यारे राम को देखो। दीन दुर्बलों की निराशा भरी आँखों में उस प्यारे कृष्ण को देखो।'

: २३ :

बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन'

जन्म सं० १६५३

जीवन परिचय

सुदर्शनजी का जन्म सियालकोट, पञ्जाब के एक मध्य श्रेणी के परिवार में सं० १६५३ में हुआ था। उनका असली नाम बद्रीनाथ भट्ट है, पर साहित्य के क्षेत्र में वह 'सुदर्शन' के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। प्रारम्भ में उन्होंने उर्दू पढ़ी। इसके पश्चात् उन्होंने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की। बाल्यावस्था से ही उनकी रुचि साहित्य की ओर थी। जब वह कक्षा छः में पढ़ते थे तब उन्होंने उर्दू में एक कहानी लिखी थी। इसी कहानी-द्वारा उर्दू-साहित्य में उनका प्रवेश हुआ। इसके बाद वह उर्दू में बराबर कहानियाँ लिखते रहे। उर्दू के ख्याति-प्राप्त कहानीकारों में उनकी गणना होती थी। पर इस क्षेत्र में वह अधिक दिनों तक न रह सके। कालांतर में हिंदी-साहित्य की लोक-प्रियता ने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। फलतः उन्होंने उर्दू-साहित्य का क्षेत्र त्यागकर हिन्दी की सेवा करने का व्रत लिया। उनकी सबसे पहली कहानी सं० १६७७ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। तब से अबतक हिंदी में वह कई कहानियों की रचना कर चुके हैं।

सुदर्शनजी हिंदी के सफल कलाकार हैं। स्वभाव से वह बड़े सरल कोमल और सरस हैं। हिंदी से उन्हें विशेष प्रेम है। उर्दू के विद्यार्थी होते हुए भी हिंदी में अपनी भाषा और अपनी रचनाओं-द्वारा उन्होंने जो ख्याति प्राप्त की है वह अत्यंत प्रशंसनीय है। फिल्म के लिए कहानी-सीनेरियो, संवाद और गीत लिखकर उन्होंने हिन्दी की बड़ी सेवा की है। साहित्य की भाँति ही संगीत भी उन्हें प्रिय है। सिनेमा-संसार में उनका प्रमुख स्थान है। इस क्षेत्र में प्रेमचन्द के विफल होने पर उन्हें ही सफलता मिली

है। पहले यह कलकत्ते की न्यू थिएटर्स फ़िल्म कम्पनी में निर्देशक नितीन घोस के सहयोगी हुए और फिर कथा-लेखक। 'रूप-लेखा', 'भाग्यचक्र' तथा 'धरती माता' के कथानक के वही लेखक थे। न्यू थिएटर्स को त्यागकर वह बम्बई मिनर्वा कम्पनी में चले गये। वहाँ उन्हें अधिक ख्याति मिली। 'सिकन्दर' के सवाद और गायन लिखकर उन्होंने लोगों को मन्त्र-मुग्ध कर दिया। इसी कपनी से दूसरा चित्र 'पत्थर का सौदागर' निकला जिसका कथानक उन्होंने ही लिखा था। यह भी अत्यन्त सफल रहा।

सुदर्शनजी की रचनाएँ

सुदर्शनजी उर्दू और हिन्दी के अच्छे ज्ञाता हैं। वह अपने विद्यार्थी-जीवन से ही लिख रहे हैं। उर्दू-साहित्य में उनकी रचनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी में उनकी रचनाएँ विविध प्रकार की हैं। उन्होंने कहानियाँ लिखी हैं, नाटकों की रचना की है और उपन्यास भी लिखे हैं। इस प्रकार हिन्दी के वह प्रतिभा-सम्पन्न कथाकार हैं। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) कहानी-संग्रह—पुष्पलता (सं० १९७६), सुप्रभात (स० १९८०), परिवर्तन (स० १९८३), सुदर्शन-सुधा (सं० १९८३), तीर्थ-यात्रा (स० १९८४), सुहराब और रुस्तम (स० १९८६), सात कहानियाँ (स० १९९०), सुदर्शन-सुमन (स० १९९१), गल्प-मजरी (सं० १९९१), चार कहानियाँ (स० १९९५), पनघट (स० १९९६), नगीना (सं० १९९७)।

(२) नाटक—दयानन्द (स० १९७४), अजना (स० १९८०), ऑनरेरी मजिस्ट्रेट (स० १९८४), सिकन्दर, धूप-छाँह, भाग्यचक्र (स० १९९५), छाया।

(३) उपन्यास—भागवन्ती, प्रेम-पुजारिन।

(४) गीत-संग्रह—झंकार (स० १९९६), दिल के तार।

(५) धार्मिक—पर्वोत्सव विवरण।

(६) बाल-साहित्य—फूलवती (स० १९८४), विज्ञान वाटिका (स० १९९०), अगूठी का मुकदमा (स० १९९७), राजकुमार सगर (स० १९९६), बच्चों का हितोपदेश।

(७) जीवनी—आंजनेय, धर्मवीर दयानन्द, गार्गी बाबा।

(८) अनुवाद—विद्रोही आत्माएँ (खलील जिब्रान)

सुदर्शनजी की गद्य-साधना

सुदर्शनजी हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार हैं। आरम्भ में वह एक उर्दू-कहानीकार थे और इस दिशा में अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उनमें मौलिकता थी, अच्छी सूझ-बूझ थी। वर्तमान समाज और उसकी समस्याओं पर ही उन्होंने अपने दृष्टिकोण से विचार किया था। अपने इन्हीं विचारों को उन्होंने अपनी कल्पना और सहज प्रतिभा के बल पर उर्दू-माध्यम द्वारा जनता तक पहुँचाया था। वह अपने वर्ग के सफल कलाकार थे। इसलिए जब उन्होंने इस क्षेत्र को त्यागकर हिन्दी की सेवा का व्रत लिया तब उन्हें अपने उद्देश्य की सफलता में कोई संदेह नहीं हुआ। हिन्दी में उन्होंने कहानीकार तथा नाटककार के रूप में अधिक ख्याति प्राप्त की।

(१) कहानीकार सुदर्शनजी—सुदर्शनजी द्विवेदी-युग के मौलिक कहानीकार हैं। प्रेमचन्द और कौशिकजी की भाँति हिन्दी-संसार में उनका प्रवेश सं० १९७७ में हुआ। उनकी पहली कहानी 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। तब से आज तक उन्होंने कई कहानियाँ लिखी हैं। सं० १९९२ तक प्रेमचन्द और कौशिकजी के साथ जिन कहानीकारों ने हिन्दी-कहानी-साहित्य को अपनी कला से चमकाया है उनमें उनका नाम अग्रगण्य है। प्रेमचन्द और कौशिकजी हिन्दी-कहानी-साहित्य के प्रथम उत्थान-काल के लेखक हैं और सुदर्शनजी द्वितीय उत्थान-काल के। उनकी कला प्रथम दोनों कलाकारों की कला से भिन्न है। उन्होंने अपनी कहानियों में अपनी दिव्य दृष्टि से जीवन के चिरन्तन सत्य को प्रत्यक्ष किया है। 'हार की जीत' उनकी इसी प्रकार की कहानी है। इस कहानी में उन्होंने जीवन के जिस मनोवैज्ञानिक सत्य की झाँकी उतारी है 'वह सार्वभौम, शाश्वत और सार्वकालिक है'। इसमें हमें उच्च मानवता के दर्शन मिलते हैं।

सुदर्शनजी की कहानियाँ बड़ी रोचक, प्रभावोत्पादक, मार्मिक और रसात्मक होती हैं। उनमें व्यक्ति घटनाओं का वर्णन थोड़ी बात-

चीत के सहारे कभी क्षिप्र गति से चलता है तो कभी परिस्थितियों के विशद और मार्मिक वर्णन मन्द गति से। इस प्रकार दोनों के सफल समन्वय में ही उनकी कहानी-कला का विकास हुआ है। उनकी कहानियाँ न तो अत्यधिक *घटना-प्रधान हैं और न भावना प्रधान।* उन्होंने दोनों के बीच की पद्धति का अनुसरण किया है। घटनाओं की व्यंजकता और पाठकों की अनुभूति पर आश्रित न रहकर वह अपनी कहानियों में कुछ मार्मिक व्याख्या भी करते चलते हैं। उनकी कहानियाँ घटना-प्रधान होते हुए भावात्मक हैं और भावना-प्रधान होते हुए घटनात्मक हैं। उनमें उन्होंने अपने वर्णन अथवा व्याख्यान-द्वारा परिस्थितियों की मार्मिकता का हृदयगम करने का स्वयं प्रयत्न किया है, उसका भार पाठकों पर नहीं छोड़ा है। ऐसी कहानियाँ वातावरण प्रधान होती हैं। यही उनकी कहानी-कला की विशेषता है।

सुदर्शनजी की कहानियाँ कुछ सामाजिक, कुछ ऐतिहासिक और कुछ राजनीतिक हैं। उनकी सामाजिक कहानियाँ पारिवारिक जीवन की वर्तमान समस्यों को लेकर चली हैं। ऐसी कहानियों में कहीं-कहीं उनकी आर्यसमाजी-मनोवृत्ति ने उनकी कला में बाधा उपस्थित की है। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द की भाँति उनकी कहानियों में कहीं-कहीं व्यक्ति सजीव नहीं हो पाया है, समाज ने विक्षेप डाल दिया है। सुदर्शनजी नगर के मध्य वर्ग के कहानीकार हैं। उनकी लेखनी के स्पर्श में नगर के मध्यवर्गीय पात्र किसान और मजदूर के रूप में मूक तपस्वी दिखलायी पड़ते हैं। इस प्रकार उनकी सामाजिक कहानियों के पात्र साधारण कोटि के होते हैं। उनकी कुछ कहानियों के कथानक ऐतिहासिक अथवा राजनीतिक भी हैं। इनमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। अपनी ऐतिहासिक कहानियों में उन्होंने कल्पना और तथ्य के सुन्दर समन्वय से जो आदर्श उपस्थित किया है वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। हिन्दी के वह आदर्शवादी कहानीकार हैं। मानव-हृदय के भीतर बैठकर, उसकी यथार्थ स्थिति देखते हुए, जीवन के विकास के लिए एक आदर्श स्थापित करना उनकी कहानियों की विशेषता है। प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी कहानीकारों में उनका प्रमुख स्थान है।

डा० श्रीकृष्ण लाल ने सुदर्शनजी को वातावरण-प्रधान कहानी लेखकों में 'सर्वश्रेष्ठ' लेखक माना है। प्रसाद और पन्त भी इसी प्रकार के१ कहानीकार हैं, पर सुदर्शन की कला इन दोनों से भिन्न है। प्रसाद और पन्त ने 'जहाँ अपनी कहानियों में कवित्वपूर्ण वातावरण का रूप दिया है वहाँ सुदर्शन ने अपनी वातावरण-प्रधान कहानियों में यथार्थवादी भावनाओं को यथार्थ वातावरण में चित्रित किया है।'१ 'हार की जीत' में हमें इसी कला के दर्शन होते हैं। इसमें बाबा भारती के एक वाक्य—लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे—पर पूरी कहानी का ढांचा खड़ा किया गया है। इस प्रकार यह कहानी 'एक भावना की व्यंजना है जिसके लिए लेखक ने यथार्थवादी वातावरण, परिस्थिति और चरित्रों की अवतारणा की है। तात्पर्य यह कि उन्होंने वर्तमान युग के मानव के सामने कहानियों के माध्यम से जीवन के कतिपय नैतिक मूल्य प्रस्तुत किए हैं और उनकी कलात्मक ढंग से प्रतिष्ठा की है। अपने इस प्रकार के प्रयत्न में वह कहीं भी प्रेमचन्द की भाँति उपदेशक नहीं हैं।

(२) नाटककार सुदर्शनजी—सुदर्शनजी ने नाटक भी लिखे हैं। 'दयानन्द' (सं० १९४७) उनका सर्वप्रथम नाटक है। इसमें स्वामी दयानन्द का जीवन चित्रित किया गया है। उनका एक दूसरा नाटक "अंजना" है। यह सं० १९८० की रचना है। यह एक पौराणिक आख्यान के आधार पर लिखा गया है। वस्तु-संगठन और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इसमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' सं० १९६८ की रचना है। यह हास्य रस प्रधान आमंकिक नाटक है। 'सिकन्दर' उनका तीसरा ऐतिहासिक नाटक है। यह पहले सिनेमा के लिए लिखा गया था। इसमें सफलता प्राप्त होने पर कुछ परिवर्तन के पश्चात् यह पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ है। सुदर्शनजी सिनेमा-प्रेमी भी हैं। 'सिकन्दर' के अतिरिक्त न्यूथियेटर्स के लिए उन्होंने 'धूपछाँह' लिखकर हिन्दी का अच्छा प्रचार किया है। चित्रपट में उनके आने से हिंदी को बहुत बल मिला है। उनके गीत बहुत सुन्दर, भावपूर्ण और साहित्यिक होते हैं।

सुदर्शनजी की भाषा

हम बता चुके हैं कि सुदर्शनजी उर्दू से हिन्दी में आये। इसलिए उनकी भाषा पर उर्दू का प्रभाव होना स्वभाविक है। अपनी भाषा में उन्होंने अधिकांश संस्कृत के प्रचलित तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। उर्दू शब्दों का प्रयोग उन्होंने अपनी भाषा में कम ही किया है। 'गुज़रा,' 'बाकी,' 'लापरवाह,' 'आदमी,' 'ज़रा' आदि शब्द उर्दू के ऐसे साधारण बोल-चाल के शब्द हैं जो उनकी भाषा में प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। जैनेन्द्र की भाषा की भाँति उनकी भाषा में पंजाबीपन नहीं है। वह बड़ी सुन्दर, भावानुकूल और प्रभाव-पूर्ण भाषा लिखते हैं। कई भाषाओं के जानकर होने के कारण वह शब्द-शक्ति से भलीभाँति परिचित हैं। इसलिए उनका शब्द-चयन भी अत्यन्त सुन्दर होता है।

सुदर्शनजी की शैली

सुदर्शनजी की शैली बड़ी प्रभावोत्पादक है। उसमें वाक्य छोटे-छोटे और भाव-व्यंजना के अनुरूप होते हैं। मुहावरों के प्रयोग से वह अपनी शैली को इतना सजीव, आकर्षक और हृदयग्राही बना देते हैं कि पाठक उसमें लीन हो जाता है। उनकी कथोपकथन की शैली प्रवाहपूर्ण होती है। अप्रचलित शब्दों के प्रयोगों से उन्होंने अपनी शैली को बहुत बचाया है। मानवीय व्यापारों, आकृतियों और चेष्टाओं के भी उन्होंने सफल चित्र उतारे हैं। उनकी शैली मुहावरेदार, प्रवाहमय, भावपूर्ण और संयत है। उनके कथा संगठन में अपूर्व एकता है जो आरंभ से अन्त तक प्रभाव की एकता स्थापित करने में समर्थ है। इस प्रकार भाषा और शैली की दृष्टि से वह अपनी रचनाओं में अत्यन्त सफल हैं। उनकी शैली का उदाहरण लीजिए :—

'पंडितजी तिलमिलाकर खड़े हो गये। वह आवाज न थी, विष में बुझी हुई कटार थी। सोचने लगे, ये काँटे इसी के बोये हुए हैं। कैसी चैन से कटती थी। आज वे दिन सपना हो गये। कड़ककर बोले—क्या है विसाखो ?'

उदयशंकर भट्ट

जन्म सं० १९५४

जीवन-परिचय

उदयशंकर भट्ट का जन्म श्रावण, शुक्ल ५, सं० १९५४ को इटावा में हुआ था। इटावा में उनकी ननिहाल थी। उनका मूल निवास-स्थान कर्णवास, जिला बुलन्दशहर है। उनके पूर्वज गुजरात प्रान्त के चाणोद कन्याली के निवासी थे। किसी समय कर्णवास पर उनका अधिकार था, इसलिए चाणोद कन्याली से आकर वे कर्णवास में बस गए थे।

भट्टजी औदीच्य ब्राह्मण हैं। उनके पिता पं० फतहशंकर मेहता बम्बई में नौकर थे। वहाँ से उनकी बदली अजमेर हो गयी। इसलिए पिता के पास अजमेर में ही भट्टजी की शिक्षा आरम्भ हुई। वहीं उनका यज्ञोपवीत हुआ। पहले वह एक सरकारी स्कूल में अँगरेजी पढ़ते थे, पर बीच-बीच में जब वह अजमेर से घर आते थे तब संस्कृत का भी अध्ययन करते थे। संस्कृत में उनकी विशेष रुचि थी। अतः पिता के आग्रह से उन्होंने घर पर रहकर ही संस्कृत का अध्ययन आरंभ किया। इसी बीच उनके पिता भी अस्वस्थ होकर घर चले आये। ऐसी दशा में आर्थिक संकटों ने उन्हें आ घेरा। परिवार का भरण-पोषण दूभर हो गया। अपने परिवार की ऐसी दशा से चिन्तित होकर भट्टजी अपने चाचा के पास बड़ौदा चले गये, पर चाचा भी अस्वस्थ होकर थोड़े ही दिनों पश्चात् घर चले आये। इस प्रकार उनकी शिक्षा का क्रम पुनः भंग हो गया। दैवयोग से उनके पिता स्वस्थ हो गये और उन्होंने लाहौर के रेलवे-दफ्तर में नौकरी कर ली। नौकरी करते अभी उन्हें दो ही दिन हुए थे कि भट्टजी के चाचा का स्वर्गवास हो गया। इसलिए उनके पिता उन्हें लाहौर में ही छोड़कर सपरिवार फिर कर्णवास चले गये।

लाहौर में रहकर भट्टजी ने मैट्रिक-परीक्षा पास की। आर्थिक सङ्कटों के कारण वह आगे न पढ़ सके। इसके बाद उनकी माता का और फिर उसी वर्ष उनके पिता का भी देहांत हो गया। ऐसी सङ्कटापन्न परिस्थितियों में पड़कर वह अपने भाई-बहनों के साथ अपने ननिहाल चले गये। ननिहाल में उनका जी नहीं लगा। इसलिए एक दिन अकेले वह अपने एक संबंधी के यहाँ हरिद्वार चले गये। उस समय वह अपने जीवन से बहुत उदास थे। वह आवारों की तरह दिनभर इधर-उधर घूमा करते थे। उनकी ऐसी प्रवृत्ति देखकर उनके संबंधी ने उनको अपने घर से निकाल दिया। इससे खाने पीने और रहने का ठिकाना भी जाता रहा। अब वह अपने भावी जीवन से और भी निराश हो गए। पेट की ज्वाला ने उनकी उदासी और आवारागर्दी दूर कर दी। उन्हें कुछ काम करके पेट भरने की चिंता हुई। फलस्वरूप मजदूरी करके उन्होंने अपनी क्षुधा शांत की। कुछ दिनों तक इन्होंने खोनचा भी लगाया। एक दिन उन्हें अपने इस प्रकार के जीवन पर बड़ी ग्लानि हुई और वह घाट की सीढ़ी पर बैठकर रोने लगे। दैवात् एक सन्यासी उधर आ निकले और उन्हें रोता देखकर समझाने-बुझाने लगे। उनके समझाने का भट्टजी के हृदय पर अच्छा प्रभाव पड़ा। फलतः वह हरिद्वार छोड़कर काशी चले गये और संस्कृत-साहित्य का अध्ययन करने लगे। काशी से उन्होंने साहित्याचार्य के दो खंड, कलकत्ता से काव्यतीर्थ और पञ्जाब से शास्त्री की परीक्षाएँ पास कीं। अँगरेजी उन्होंने बी० ए० कक्षा तक पढ़कर छोड़ दी।

इस प्रकार अपने प्रारम्भिक जीवन की सङ्कटापन्न परिस्थितियों से निकलकर विद्याध्ययन करने के पश्चात् भट्टजी साहित्य-निर्माण की ओर अग्रसर हुए। पहले उन्होंने संस्कृत में लिखना आरम्भ किया, पर जब शारदा-सम्पादक पं० चन्द्रशेखर शास्त्री से उनका परिचय हुआ तब उनके आग्रह से उन्होंने हिंदी में लिखना आरम्भ किया। सं० १६७४ में उनका पहला लेख 'सांख्य दर्शन के कर्ता' 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ। इस लेख की आचार्य द्विवेदीजी ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की और उन्हें बराबर

लिखते रहने के लिए प्रोत्साहित किया। तब से समय-समय पर उनकी साहित्यिक कृतियाँ सामयिक पत्रों में निकलती रहीं। वास्तविक रूप से उन्होंने सं० १९८५ से लिखना प्रारम्भ किया। उस समय वह लायलपुर के खालसा-कालेज में संस्कृत के अध्यापक थे। इसके बाद उन्होंने लाहौर के डी० ए० वी० कालेज में नौकरी की। भारत के विभाजन के समय वह लाहौर से दिल्ली आए और आलिण्डिया रेडियो के नाटक-विभाग में कार्य करने लगे। इस समय वह दिल्ली में ही रहते हैं।

भट्टजी संस्कृत-साहित्य के पण्डित हैं। उन्होंने संस्कृत और अँगरेजी नाटकों का विशेष अध्ययन किया है और दोनों के सुन्दर समन्वय से अपनी नाट्य-कला को विकसित किया है। वह अच्छे वक्ता भी हैं। संस्कृत-भाषा पर उन्हें इतना अधिकार है कि वह उस भाषा में धारा-प्रवाह बोल सकते हैं। नाना प्रकार और विषयों से भरा की तरङ्ग का रसास्वादन करने में उन्हें विशेष आनन्द मिलता है। वह स्वभाव से उदार, शीलवान और अपने मित्रों के लिए गौरव की वस्तु हैं।

भट्टजी की रचनाएँ

भट्टजी हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक हैं। हिंदी के नाट्य-साहित्य में उनकी रचनाओं का विशिष्ट स्थान है। हिंदी-साहित्य में उनका अपना दृष्टिकोण है। उन्होंने कविताएँ भी लिखी हैं, पर उनके नाटकों की संख्या ही अधिक है। हिंदी में वह नाटककार के नाते ही प्रसिद्ध हैं। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) काव्य—तक्षशिला (सं० १९८८), राका (सं० १९९२), मानसी (सं० १९९६), विसर्जन (सं० १९९६), वन्दना के बोल, बलि-पथ के गीत, अमृत और विष, युगदीप, यथार्थ और कल्पना।

(२) उपन्यास—वह जो मैंने देखा (सं० २००१), नए मोड़ (सं० २०१०)

(३) नाटक—विक्रमादित्य (सं० १९९०), विष-पतन (सं० १९९०), अम्बा (सं० १९९२), सगर-विजय (सं० १९९४), मत्स्यगंधा (सं० १९९४)

विश्वामित्र (सं० १९९५), कमला (सं० १९९६), राधा (सं० १९९८), अंतहीन अंत (सं० १९९९), अभिनव एकांकी (सं० १९९९), स्त्री का हृदय (सं० १९९९), मुक्ति-पथ (सं० २००१), एकला चलो रे (सं० २००५), समस्या का अंत (सं० २००५), आदिम युग (सं० २००५), शक-विजय (सं० २००६), धूमशिखा (सं० २००६), कालिदास (सं० २००७), मेघदूत (सं० २००७), विक्रमोर्वशी (सं० (सं० २००७), अंधकार और प्रकाश (सं० २००६), क्रांतिकारी (सं० २०१०), नया समाज (सं० २०१२), पर्दे के पीछे (सं० २०१२)। इनके अतिरिक्त 'आधुनिक एकांकी नाटक' उनका सम्पादित ग्रंथ है।

भट्टजी की सत्य साधना

भट्टजी की उक्त रचनाओं से उनकी साहित्यिक अभिरुचि का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। हिन्दी में नाटककार के रूप में वह विशेष रूप से सम्मानित हैं। उन्होंने कविता भी की है और उपन्यास भी लिखे हैं। साहित्य के इन विभिन्न अंगों के अतिरिक्त उन्होंने निबन्ध और आलोचनाएँ भी लिखी हैं। इस प्रकार उनकी प्रतिभा का परिचय हमें तीन रूपों में ही विशेष रूप से मिलता है, पर वह नाटककार के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध है।

(१) **नाटककार भट्टजी**—भट्टजी का नाट्य-साहित्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने कवि की आत्मा पायी है जो उनके नाटकों में यत्र तत्र प्रस्फुटित हुई है। उनके नाटकों की तीन शैलियाँ हैं : (१) नाटक, (२) एकांकी और (३) गीति नाट्य। उनके नाटक तीन प्रकार के हैं (१) पौराणिक, (२) ऐतिहासिक और (३) सामाजिक। उनके पौराणिक नाटकों में 'अम्बा' और 'सगर-विजय' का प्रमुख स्थान है। इन नाटकों की रचना में उनकी प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ है। 'अम्बा' में भीष्म पर लुब्ध काशिराज की कन्या अम्बा का चित्रण है। इसमें अपमानित नारी के क्षुब्ध हृदय की फुफकार, प्रतिहिंसा तथा करुणा आदि प्रवृत्तियों का बड़ा ही मार्मिक अंकन हुआ है। नाट्य-गीतों की योजना भी कतिपय स्थलों पर अत्यन्त भावपूर्ण है। विदूषक का भी अच्छा उपयोग किया गया है। 'सगर-विजय' एक

प्राचीन पौराणिक कथा पर आधारित है। इसमें वस्तु-संगठन की शिथिलता, स्वगत-योजना की अधिकता तथा कथोपकथन की दीर्घता के कारण अस्वाभाविकता आ गयी है।

उनके ऐतिहासिक नाटकों में 'दाहर अथवा सिंध-पतन', 'विक्रमादित्य', 'मुक्ति पथ' और 'शक-विजय' का स्थान है। दाहर सं० १९९० में प्रकाशित हुआ था। इसकी कथा सिंध-पतन की इतिहास-विश्रुत घटना है जिसमें भारतीय एवं इस्लामी संस्कृतियों के पारस्परिक द्वंद तथा वैवाहिक प्रत्याघातों का चित्रण है। यह वीररस-प्रधान दुखान्त नाटक है। 'विक्रमादित्य' साधारण रचना है। 'मुक्ति-पथ' की कथा सीधी-सादी है। इसमें कल्पना से कम काम लिया गया है। पात्र सभी ऐतिहासिक हैं। इसका संबन्ध बुद्धजी के जीवन से है। 'शक-विजय' की मुख्य घटना अवन्ती के राजा गर्धसेन-द्वारा सरस्वती साध्वी के अपहरण से संबन्ध रखती है। उनके इन नाटकों में धार्मिक समस्यों का विशेष चित्रण मिलता है। 'कमला' और 'अन्तहीन अन्त' उनके सामाजिक नाटक हैं। इनमें से प्रथम दुखान्त और दूसरा सुखान्त कहा जा सकता है। वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण तथा कथोपकथन की दृष्टि से ये साधारण रचनाएँ हैं। 'कमला' में किसान-आन्दोलन तथा सामाजिक असामञ्जस्य का मार्मिक चित्रण है।

भट्टजी ने एकांकी नाटक भी लिखे हैं। उनके एकांकी नाटकों के चार संग्रह अब तक प्रकाशित हुए हैं: 'अभिनव एकांकी नाटक', 'स्त्री का हृदय,' 'समस्या का अन्त' और 'धूमशिखा'। उन्होंने एकांकी लिखना सं० १९९५ से प्रारंभ किया था। अपने इन चारों संग्रहों में उन्होंने सामाजिक तथा राजनीतिक सामग्री को कथानक का रूप देकर एकांकी नाटकों की रचना की है। इनमें से कुछ सुखान्त हैं और कुछ दुखान्त। इन्हीं एकांकियों में 'जवानी' शीर्षक एक नाट्य रूपक भी है। इसके विविध पात्र विविध अवस्थाएँ जगत् के तत्वों के रूपक हैं। 'आगन्तुक' विचारक का रूपक है, 'स्त्री' स्मृति का रूपक है और 'युवती' जवानी का रूपक है। इस प्रकार का नाट्य-रूपक हिन्दी में उनकी प्रथम रचना है।

भट्टजी ने गीति-नाट्य भी लिखे हैं। उनके गीति नाट्य तीन हैं: (१) मत्स्यगंधा, (२) विश्वामित्र और (३) राधा। इन नाटकों में कार्य की अपेक्षा भाव का महत्त्व अधिक है। ऐसी दशा में उनके गीति-नाट्यों में आन्तरिक द्वंद का ही चित्रण है, बाह्य संघर्ष केवल आन्तरिक संघर्ष को तीव्रतर करने में सहायता देता है। उनका 'मत्स्यगंधा' अत्यन्त उच्चकोटि का गीति-नाट्य है। इसकी गति में पर्याप्त वेग है। इसमें यौवन की दुर्दमनीय लालसा एवं समाज के बन्धनों से उसका संघर्ष दिखाने के पश्चात् अन्त में उसकी पराजय का दिग्दर्शन कराया गया है। 'विश्वामित्र' की कथावस्तु प्रतीकात्मक है। लेखक के शब्दों में 'विश्वामित्र पुरुष है, मेनका नारी है और उर्वशी उन दोनों का संघर्ष है। विश्वामित्र अहंकार है, बल है, शक्ति का प्रतीक है, अभिमान है और है नर। मेनका प्रेम है, कोमलता है, भाव-प्रबलता है, नम्रता है, स्फूर्ति है, जीवन है और है नारी।' नर-नारी का जो संघर्ष अनादि काल से चला आया है वही इस भाव-नाट्य की आधार-शिला है। राधा का कृष्ण के प्रति आकर्षण, समर्पण और अन्त में विलय 'राधा' का विषय है। इस प्रकार भट्टजी ने गीति-नाट्य की जो शैलियाँ हमें दी हैं वे हिन्दी-नाट्य-साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

भट्टजी की नाट्य-कला बहुत मजी हुई है। प्रसादजी के पश्चात् उन्होंने ही नाट्य-कला को बड़ी सावधानी और कुशलता से आगे बढ़ाया है। उनके नाटकों पर उनके काव्यमय व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। उनकी कला का पूर्ण विकास उनके पौराणिक नाटकों में ही दिखायी पड़ता। पौराणिक क्षेत्र के भीतर से वह ऐसे पात्र खोजकर लाए हैं जिनके चारों ओर जीवन की रहस्यमयी विषमताएँ बड़ी गहरी छाया डालती हुई आती हैं—ऐसी विषमताएँ जो वर्तमान समाज को भी छुआ करती रहती हैं। यही बात उनके ऐतिहासिक कथानकों के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है। उन्होंने अपने आस-पास के जीवन से जिस प्रकार के वस्तु-संगठन का सन्निधान किया है उसमें भी एक व्यथा है और वही व्यथा उनके नाटकों की व्याख्या है। अपने नाटकों के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में वह कहते हैं—

'वस्तुतः नाटक चरित्र का परिवर्तनशील एवं क्रियात्मक अभिव्यक्तिकरण है। घटना, संवाद और गीत उसके साधन हैं, साध्य नहीं। घटना-वैचित्र्य जो नाटक को रोचक बना सकता है स्वयं नाटक नहीं है। इसी प्रकार संवाद से पात्रों का रूप निखरता है, संवाद स्वयं नाटक नहीं है। नाटक तो केवल पात्र है।' भट्टजी ने अपने नाटकों में अपने इसी दृष्टिकोण का पूर्णरूपेण निर्वाह किया है। उनके नाटकों में उनकी प्रतिभा दुखान्त अथवा वियोगान्त की ओर ही अधिक झुकी है। इस सम्बन्ध में उनका विचार है कि वियोग की अनुभूति मनुष्य को उन्नत बना देती है।

(२) उपन्यासकार भट्टजी—भट्टजी ने दो उपन्यास भी लिखे हैं: 'वह जो मैंने देखा' और 'नए मोड़'। इन दोनों की दो शैलियाँ हैं। पहले पर शरत् बाबू के 'श्रीकान्त' का प्रभाव है और दूसरे पर अज्ञेय-कृत 'शेखर: एक जीवनी' का। 'वह जो मैंने देखा' की शैली आत्म-कथात्मक है। 'मदन' इसका नायक है जो अपनी कहानी कहता है। वह रोमांटिक जीवन व्यतीत करता है और उसी के अनुसार कथा में नए मोड़ प्रस्तुत करता है। 'नए मोड़' में मध्यवर्गीय जीवन की कहानी ली गई है। इसमें क्रान्तिकारी भावनाओं का चित्रण हुआ है। समस्याएँ राजनीतिक हैं, पर घटनाओं तथा परिस्थितियों के चयन में कहीं-कहीं अस्वाभाविकता आ गयी है। उक्त दोनों उपन्यासों के कथा-संगठन में कलात्मकता और आकर्षण है। कहने का ढंग भी काव्यमय और प्रभावशाली है और जीवन के सत्यों का चित्रण भी है, पर उनके नाटकों के सामने उनका प्रकाश धूमिल है। एक सफल उपन्यासकार का जो व्यक्तित्व होना चाहिए वह इनमें नहीं झलकता।

भट्टजी की भाषा

भट्टजी की भाषा विशुद्ध हिन्दी है। संस्कृत का प्रकांड पंडित होने के कारण इन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत के तत्समों का अत्यन्त विशुद्ध प्रयोग किया है। उनका शब्द-चयन अत्यन्त संयत, भावानुकूल और प्रभावपूर्ण होता है। रस और प्रसंग के अनुसार उनकी भाषा में कभी प्रसाद, कभी माधुर्य और कभी ओज गुण की प्रधानता रहती है। उनकी भाषा तत्सम-

प्रधान होने पर भी क्लिष्ट नहीं है। उनके शब्द सरल और भाव-व्यंजक होते हैं, इसलिए उनके पाठकों को उनकी भाषा समझने में विशेष कठिनाई नहीं होती। अपने संवादों में उन्होंने जहाँ सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया है वहाँ उन्होंने अपने पाठकों का ध्यान रखा है। इस प्रकार उनकी भाषा सरल, स्वाभाविक, प्रसाद और माधुर्य गुणयुक्त तथा प्रवाहपूर्ण है। उर्दू-शब्दों का उन्होंने बहुत कम प्रयोग किया है। मुसलिम पात्रों के मुख से जो उर्दू-शब्द निकले हैं वे भी सरल और बोधगम्य हैं।

भट्टजी की शैली

शैली की दृष्टि से भट्टजी की रचनाएँ (१) विचारात्मक और (२) भावात्मक हैं। अपने भाव-नाट्यों में उन्होंने भावात्मक शैली का प्रयोग किया है। इस शैली में उनके वाक्य छोटे-छोटे और प्रवाहपूर्ण होते हैं। उनका वाक्य-विन्यास अत्यन्त सुलझा हुआ, स्पष्ट और भाव-व्यंजक होता है। उसमें भावों की दुरूहता के साथ-साथ एक प्रकार की तन्मयता भी रहती है जो पाठक को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इस प्रकार उनकी भावात्मक शैली में अद्भुत प्रवाह और वेग रहता है। थोड़े में बहुत कुछ कह जाना उनकी इस शैली की परम विशेषता है। लम्बे संवादों में उनकी शैली का रूप विचारात्मक है। इस शैली में उनके वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े हो गए हैं, पर उनमें भाषा की प्रांजलता और स्वाभाविकता बराबर बनी रहती है। उनकी शैली का उदाहरण लीजिए :—

'सुन्दर को सुन्दर कहने में दोष क्या है, यही मैं नहीं जान सकी। स्त्री के यौवन की सार्थकता उसके रूप में, उसके सौंदर्य में, उसके विलास में है। पुरुष के यौवन में वीरत्व है, कठिन से कठिन कार्य करने की क्षमता है, किन्तु स्त्री की चरम सार्थकता मातृत्व में है और मातृत्व से पहले यौवन की उद्दाम प्रवृत्ति का वही रूप है जिसके लिए प्रत्येक ललना जन्म से आकांक्षा करती है।'

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

जन्म सं० १९५६

जीवन-परिचय

भगवतीप्रसाद वाजपेयी का जन्म बुधवार, आश्विन शुक्ल ७, सं० १९५६ को कानपुर के अन्तर्गत मंगलपुर ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम पं० शिवरतनलाल था। पं० शिवरतनलाल अपने गाँव के प्रसिद्ध पण्डित थे। पाण्डित्य-वृत्ति के अतिरिक्त वह कृषि-कार्य में भी दक्ष थे। वाजपेयीजी के मामा स्व० जगन्नाथ मिश्र भी मंगलपुर में ही रहते थे और अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान थे। उन्होंने धार्मिक ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन किया था। उन्हीं के पद-चिह्नों पर चलकर वाजपेयीजी के भ्राता स्व० रामभरोसे वाजपेयी ने भी अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। इन दोनों व्यक्तियों का वाजपेयीजी के बाल-जीवन पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

वाजपेयीजी की शिक्षा मंगलपुर के ग्रामीण पाठशाला में ही हुई। आरम्भ से ही वह विद्या-प्रेमी थे। संस्कृत में उनकी विशेष अभिरुचि थी और वह धाराप्रवाह संस्कृत-श्लोकों के पाठ से अपने शिक्षकों को आश्चर्य-चकित कर देते थे। जबतक उनके मामाजी जीवित रहे तबतक वाजपेयीजी की शिक्षा का क्रम भलीभाँति चलता रहा, परन्तु बाल्यावस्था में ही उनके निधन के पश्चात् वाजपेयीजी का विद्यार्थी-जीवन अस्तव्यस्त हो गया। उनके पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, इसलिए विवश होकर उन्हें हिन्दी मिडिल पास करने के पश्चात् अपने ग्रामीण पाठशाला में ही शिक्षक का कार्य करना पड़ा। इस प्रकार जो समय विद्याध्ययन का था, वह जीवन-संग्राम में लग गया।

वाजपेयीजी जीवन संग्राम में पड़ तो गये, पर उनके अन्तःकरण में

विद्यानुराग की जो भावना थी वह उन्हें अध्ययन की ओर प्रेरित करती रही। उसे प्रोत्साहन मिला प० बाकेबिहारी लाल चतुर्वेदी से। चतुर्वेदीजी मंगलपुर में ही रहते थे और ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। उनके तत्वावधान में वाजपेयीजी को काव्य-कला का अध्ययन करने का अच्छा अवसर मिला। धीरे-धीरे उनका साहित्य-प्रेम इतना बढ़ा कि उन्हें शिक्षा-वृत्ति से अरुचि हो गयी। यह सं० १६७१ की बात है। उस समय लखनऊ की कांग्रेस समाप्त हो चुकी थी और श्रीमती एनीबीसेंट के शुभ प्रयत्नों से कानपुर में होमरूल लीग की स्थापना हो चुकी थी। उसके पुस्तकालय में एक पुस्तकाध्यक्ष की आवश्यकता थी। गुरुवर चतुर्वेदीजी के आग्रह से वाजपेयी जी ने इस पद को स्वीकार किया और वह मंगलपुर से कानपुर चले गये।

वाजपेयीजी होमरूल-लीग-पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष तो हो गये, पर अंगरेजी भाषा का ज्ञान न होने के कारण उन्हें कठिनाई होने लगी। ऐसी दशा में उन्होंने अँगरेजी पढ़ने का विचार किया। वह किसी अँगरेजी स्कूल में प्रविष्ट होना ही चाहते थे कि उनके भाई प० राममरोसे का स्वर्गवास हो गया। उनकी मृत्यु से वह हतोत्साह हो गये। बारह वर्ष की अवस्था में ही उनका विवाह हो गया था, इसलिए भाई की मृत्यु के पश्चात् परिवार का सम्पूर्ण भार उन्हें वहन करने के लिए विवश होना पड़ा। ऐसी दशा में अँगरेजी भाषा का विधिवत् ज्ञान प्राप्त करना उनके लिए कठिन हो गया। फलतः उन्होंने निजी रूप से पुस्तकालय का कार्य करते हुए अँगरेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया।

कानपुर होमरूल-लीग के कार्यकाल में ही हिन्दी-जगत् से वाजपेयीजी का परिचय हुआ। उरई के 'उत्साह' तथा कानपुर के 'प्रताप' में उनकी प्रारंभिक कविताएँ प्रकाशित होती रहती थीं। उस समय कानपुर से 'संसार' नामक मासिक पत्र भी निकलता था। सं० १६७७ में वह इसी पत्र के प्रूफरीडर के पद पर नियुक्त हुए। उनमें प्रतिभा थी, इसलिए धीरे-धीरे उन्नति करके वह इसके सहायक सम्पादक और फिर प्रमुख सम्पादक हो गये। आरंभ में वह कविताएँ ही लिखते थे, पर बाद में लेख भी लिखने

लगे। सं० १९७७ में 'प्रभा' में उनका एक मौलिक लेख 'विचार स्वातंत्र्य का व्यावहारिक रूप' प्रकाशित हुआ। इस लेख से उनकी अच्छी ख्याति हुई। सं० १९७९ में जबलपुर से निकलनेवाली 'श्रीशारदा' नाम की मासिक पत्रिका में उनकी पहली कहानी 'यमुना' प्रकाशित हुई। यह कहानी गृह-जीवन की एक सच्ची घटना के आधार पर बड़े सुन्दर ढंग से लिखी गयी थी। इसलिए हिन्दी-जगत में इस कहानी का अच्छा स्वागत हुआ। अपनी इस प्रारम्भिक कला-कृति से उत्साहित होकर उन्होंने कथा-साहित्य की सेवा करना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। इस प्रकार उन्होंने कई कहानियों और उपन्यासों की रचना की।

वाजपेयीजी का जीवन-प्रवाह आरम्भ से ही अस्त-व्यस्त रहा है। यह मुनीमी जानते हैं और अपने ग्राम में सराफी भी कर चुके हैं। एक आयुर्वेदिक औषधालय में कम्पाउण्डर का कार्य भी उन्हें करना पड़ा है। अध्यापक के जीवन से ही उनके साहित्यिक जीवन का विकास हुआ है। यह पुस्तकाध्यक्ष, प्रूफरीडर, सहायक सम्पादक भी रहे हैं। सं० १९८१ से सं० १९८४ तक उन्होंने साहित्य-सम्मेलन-कार्यालय में सहायक मंत्री का भी कार्य किया है। इसके बाद वह पुस्तक-प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता भी रहे हैं। उनके इन विविध कार्यों से यह स्पष्ट है कि अपने जीवन में उन्हें आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा है, पर इन सब प्रकार की परिस्थितियों में रहते हुए भी साहित्य-सेवा की भावना के फलस्वरूप हिन्दी-जगत् ने उन्हें मान्यता दी है। अबोहर-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के साहित्य-परिषद् के यह सभापति रह चुके हैं और सं० २००२ से सं० २००६ तक बम्बई में रहकर सिनेमा के लिए कथा, संवाद और गीत भी लिखते रहे हैं। इस समय वह कानपुर में हैं।

वाजपेयीजी की रचनाएँ

वाजपेयीजी हिन्दी के प्रतिभा-सम्पन्न लेखक हैं। उनका रचना-काल सं० १९७७ से आरम्भ होता है। तब से अबतक उन्होंने हमें अपना जो साहित्य दिया है वह प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कानपुर से

निकलनेवाले मासिक 'संसार' तथा दैनिक 'विक्रम' और 'सम्मेलन-पत्रिका' के सम्पादकीय विभागों में कार्य करने के कारण उन्हें सम्पादन-कला का अच्छा अनुभव है। इसके साथ ही उनकी मौलिक रचनाएँ भी हिन्दी-जगत में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। उनकी अबतक की रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) उपन्यास—प्रेम-पथ (सं० १९८३), मीठी चुटकी (सं० १९८४), अनाथ पत्नी (सं० १९८५), त्यागमयी (सं० १९८६), लालिमा (सं० १९९१), प्रेम-निर्वाह (सं० १९९१), पतिता की साधना (सं० १९९३), पिपासा (सं० १९९४), दो बहनें (सं० १९९७), निमन्त्रण (सं० १९९९), गुप्त धन (सं० २००६), अगवाई (सं० २००७), चलते-चलते (सं० २००६), पतवार (सं० २००६), मनुष्य और मानव (सं० २०११), मनुष्य और देवता (सं० २०११), यथार्थ से आगे (सं० २०११), धरती की सांस (सं० २०११), हिलोर (सं० २०१२), निर्वासन (सं० २०१२) भूदान (सं० २०१२), विश्वास का बल (सं० २०१३) और सूनी राह (सं० २०१३)

(२) कहानी संग्रह—मधुपर्क (सं० १९८६), दीपमालिका (सं० १९८८), हिलोर (सं० १९९६), पुष्करिणी (सं० १९९६), खाली बोतल (सं० १९९७) मेरे सपने (सं० १९९७), ज्वार भाटा (सं० १९९७), कला की दृष्टि (सं० १९९९), उपहार (सं० २०००), अंगारे (सं० २००१) और उतार-चढ़ाव (सं० २००७)

(३) नाटक—छलना (सं० १९९६)

(४) कविता संग्रह—ओस के बूँद (सं० १९९९)

(५) बाल साहित्य—आकाश-पाताल की बातें (सं० १९९०), बालकों के शिष्टाचार, शिवाजी, बालक प्रहलाद, बालक ध्रुव, हमारा देश, नागरिक शास्त्र की कहानियाँ और शिक्षा की योजना।

(६) सम्पादित-ग्रंथ—प्रतिनिधि कहानियाँ, हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ (सं० १९९९); नव कथा, नवीन पद्य-संग्रह, युगारम्भ।

वाजपेयीजी की गद्य साधना

वाजपेयीजी की उक्त रचनाएँ उनकी साहित्यिक क्षमता की द्योतक

हैं। वह बचपन से ही अध्ययनशील रहे हैं। उनकी साधना के तीन क्षेत्र हैं : उनका ग्राम मगलपुर, कानपुर और प्रयाग। मंगलपुर में प० मन्दिलाल चतुर्वेदी के सम्पर्क में आने पर उन्हें बीजरूप में जो साहित्यिक प्रेरणा मिली वह कानपुर के साहित्यिक वातावरण में प्रस्फुटित हुई और प्रयाग में आकर पल्लवित हुई। तब से अबतक इनके भौतिक जीवन में कई प्रकार के उतार-चढ़ाव आये, पर उनकी साहित्य-साधना समान रूप से उत्तरोत्तर गतिशील रही। सर्वप्रथम काव्य-द्वार से उन्होंने साहित्य-प्रदेश में प्रवेश किया, फिर सम्पादक के रूप में निबन्ध आदि लिखने के पश्चात् कहानी, उपन्यास और नाटक की ओर अग्रसर हुए। इस प्रकार उनके साहित्यिक जीवन का जो विकास हुआ वह हिन्दी की स्थायी निधि बन गया। इस समय भी वह अपने साहित्यिक जीवन में व्यस्त हैं और अपनी विविध रचनाओं-द्वारा हिन्दी का भाण्डार भरने में समर्थ हैं। वह मस्ती के क्षणों में कविता और चिन्तन के समय से कहानी तथा उपन्यास की रचना करते हैं। प्रमुख रूप से वह हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार हैं।

वाजपेयीजी प्रेमचन्द और प्रसाद के समकालीन हैं; पर उन्होंने न तो प्रेमचन्द का अनुकरण किया है और न प्रसाद का। इन महान कलाकारों की विचार-धारा के समन्वय से जो एक तीसरे प्रकार की धारा बनती है उसी का प्रतिनिधित्व वाजपेयीजी ने अपनी रचनाओं में किया है। इस प्रकार वह अपने युग के हिन्दी-कलाकारों से अंशतः ही प्रभावित हैं। बंगला के अमर कलाकार शरत्चन्द्र का भी उनपर प्रभाव पड़ा है। यदि ध्यान से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि वस्तु-संगठन उनका अपना है, शैली तथा उद्देश्य पर प्रेमचन्द और प्रसाद का प्रभाव है और पात्रों पर शरत्चन्द्रीय कला का पुट है। इस प्रकार वाजपेयीजी अपने कथानकों के चयन, संगठन एवं सम्पादन में सर्वथा मौलिक हैं।

प्रत्येक कलाकार अपने गत तथा वर्तमान जीवन-परिस्थितियों से प्रभावित रहता है और उन्हीं के अनुरूप अपनी रचना में प्राण-प्रतिष्ठा करता है। वाजपेयीजी के जीवन में जितना उतार-चढ़ाव, जितना विद्रोह

और जितना सघर्ष रहा है वह सब उनकी रचनाओं मे स्थान पा सका है। वह वास्तविक जीवन के उपासक हैं। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त उदार है। वह कहते हैं—'मैं सत्य के सौन्दर्य का पुजारी हूँ। मधु का नहीं, कटु सत्य का भी। सत्य का ही दर्शन, चिन्तन और मन्थन मैं साहित्य में करना और देखना चाहता हूँ। संस्कारवश प्रकृति से मैं आस्तिक हूँ, पर ईश्वर की उपासना पर मेरी आस्था नहीं है। मैं तो आचार धर्म का कायल हूँ।' उनके इन शब्दों से स्पष्ट है कि वह मानवतावादी हैं। उनके लिए मानवता साधन भी है और साध्य भी। उनकी यही मानव-प्रियता उनके भौतिक जीवन मे छनकर उनके साहित्यिक जीवन मे आयी है और इसी ने उनके साहित्य को शाश्वत रूप प्रदान किया है।

वाजपेयीजी स्वप्नदर्शी नहीं हैं। वह पार्थिव जीवन के कलाकार हैं। उन्होंने वास्तविक जगत से अपने कथानक की सामग्री एकत्र की है। उन्होंने अपनी आँखों से अपने चारों ओर जो देखा और जिसका अनुभव किया है उसी को कथानक के रूप में हमारे सामने रखा है। वह हमारे समाज के मध्य वर्ग के चित्रकार हैं। मध्य वर्ग के पारिवारिक जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही उनके कथानक का प्राण है। कहा जा सकता है कि वस्तु सगठन के विचार से उनकी दृष्टि व्यापक नहीं है, पर इस सकुचित सामाजिक क्षेत्र के भीतर मानव का मानवता का पाठ पढ़ाने में उन्हें जो सफलता मिली है वह समाज को अत्यन्त व्यापक रूप मे ग्रहण करनेवाले हिन्दी-उपान्यासकारों मे से प्रेमचन्द के अतिरिक्त किसी को नहीं मिली। प्रेमचन्द अपने कथानक में वर्गवादी हैं, वाजपेयीजी व्यक्तिवादी। प्रेमचन्द समाज को उठाकर देश का उत्थान करना चाहते हैं और वाजपेयीजी व्यक्ति को उठाकर समाज का। इसलिए वाजपेयीजी अपने कथानक की सामग्री जीवन के मार्मिक स्थलों से ही एकत्र करते हैं। जहाँ वह प्रेम, दुःख और कष्ट एक साथ पाते हैं वहीं से वह अपने कथानक की सामग्री बटोर लेते हैं। इस प्रकार वह किसी विशेष सैद्धान्तिक भाव-धारा की प्रेरणा से साहित्य-सृजन नहीं करते। वह अपने कथानकों-द्वारा न तो

किसी राजनीतिक दाँव-पेच की गुत्थियाँ सुलझाते हुए दीख पड़ते हैं और न आर्थिक संकटों का विश्लेषण ही करते हैं।

वाजपेयीजी ने कहानियाँ भी लिखी हैं। उनकी कहानियों की भूमि एकांतिक होती है। 'कला के विकास' के लिए यह भूमि अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। 'एक अवस्था विशेष, एक घटना विशेष, किसी मनुष्य विशेष अथवा उसकी मानसिक प्रवृत्ति विशेष को उसके आस-पास की चौहद्दी से अलग निकाल कर और उस टुकड़े को असाधारण योग्यता के साथ सजाकर दर्शक या पाठक के सामने प्रस्तुत कर देना वाजपेयीजी की सिद्ध-हस्त कला का नमूना है।' उनकी कहानियाँ बड़ी सरस, सहानुभूतिपूर्ण और भाव-व्यंजक होती हैं। उनमें पाठकों को मुक्तक काव्य जैसा आनन्द मिलता है। वाजपेयीजी व्यक्तिगत दुःखों का चित्रण बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से करते हैं और इसी में उनकी कला को पूर्ण सफलता मिली है। संसार की सर्वसंघर्ष परिस्थितियों के बीच उनके जीवन में जिस प्रकार उतार-चढ़ाव आया है उसी के अनुरूप उनके पात्रों ने भी अपनी परिस्थितियों से लोहा लिया है। कभी वे उनमें जूझते-जूझते विपत्ति के फेर में पड़ गए हैं और कभी उनमें ऊबकर आत्महत्या तक करने पर उतारू हो गए हैं। सर्वसंघर्ष जीवन का यही सत्य है और इस सत्य का उन्होंने स्वाभाविक और मार्मिक चित्रण किया है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वाजपेयीजी ने अपनी रचनाओं में दो शैलियाँ अपनाई हैं। उन्होंने या तो कथोपकथन-द्वारा अपने पात्रों के चरित्र का विकास किया है या कार्य-कलाप-द्वारा। इन दोनों शैलियों में उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। उनके पात्र मध्य वर्ग के होते हैं जिनमें आगे बढ़ने और अपना स्तर ऊँचा करने की भावना रहती है। इस प्रकार की भावना के कारण जब उन्हें अपने जीवन में संघर्ष करना पड़ता है तब वे या नियति का सहारा लेकर कष्ट सहन करते हुए देखे जाते हैं या अपने प्रयास में आशानुकूल सफलता न मिलने पर आत्महत्या करने पर उतारू होते हैं। वाजपेयीजी के जीवन में भी एक बार ऐसा अवसर आया है जब उन्होंने

आत्महत्या की चेष्टा की है। इससे स्पष्ट है कि वाजपेयीजी के पात्रों पर उनके व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं का भी प्रभाव है। उनके जीवन में पार्थिव अतृप्ति की जो भावना है वह उनकी कला का केन्द्र-विन्दु सा बन गयी है। इससे उनका उद्देश्य स्पष्ट रूप से हमारे सामने नहीं आया है और चरित्र-विकास में भी बाधा पड़ी है। पर इस त्रुटि के होते हुए भी उनकी पात्र-योजना अत्यन्त सफल है। उनकी रचनाओं में आवश्यकता से अधिक पात्र नहीं मिलते। उनके पात्र नपी-तुली भाषा में अपने मन के भाव व्यक्त करते हैं और अपनी तथा अपने समाज की मर्यादा का ध्यान रखते हैं। वे नियतिवादी होने पर भी क्रियाशील, संवेदनशील, सहानुभूतिपूर्ण और यौवन के उपासक हैं, उस यौवन के जिसमें रोमांस और प्रेम का उफान है।

कथानक और चरित्र-चित्रण की अपेक्षा वाजपेयीजी को अपने कथोपकथन में विशेष सफलता मिली है। उनके पात्रों में भाषण की शक्ति है, वाचालता है, पर वे अपनी इस शक्ति का उचित सीमा के भीतर ही उपयोग करते हैं। इससे उनकी कथन-शैली में स्वाभाविकता और प्रभावोत्पादकता बराबर बनी रहती है। वे जो कुछ कहते हैं नपी-तुली भाषा में कहते हैं और उतना ही कहते हैं जितने से उनके हृदयगत भावों को समझने में किसी को कठिनाई नहीं होती। इस दृष्टि से वाजपेयीजी कौशिकजी के अत्यन्त निकट हैं। जिस प्रकार कौशिकजी अपने संवादों से पाठकों का हृदय अपने में तल्लीन कर लेते हैं उसी प्रकार वाजपेयीजी अपने हृदय की सारी सरसता अपने संवादों में निचोड़कर अपने पाठकों को उससे सराबोर कर देते हैं। संवाद की यह कला बहुत कम कथाकारों में देखी जाती है।

वाजपेयीजी की भाषा

वाजपेयीजी की भाषा अत्यन्त शुद्ध और प्रांजल है। उन्होंने हिन्दी-खड़ीबोली का व्यावहारिक रूप अपनाया है। इसलिए उनकी भाषा में क्लिष्टता नहीं है। वह भावानुरूप भाषा लिखते। उन्होंने संस्कृत और फारसी

के तत्समों का प्रयोग स्वाभाविक ढङ्ग से किया है। आसमानी, शौक, सफेद, लेकिन आदि उर्दू-शब्द के प्रयोग से उनकी भाषा में जो मार्दव और प्रवाह आ गया है उससे स्पष्ट है कि भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है। वह अपनी भाषा के स्वयं निर्माता हैं। उनकी भाषा में प्रयत्न नहीं, एक प्रकार की स्वाभाविकता है जो पाठक को अपने में तल्लीन कर लेती है। उनकी भाषा मुहावरेदार होती है। कहीं-कहीं अँगरेजी के शब्द भी लिखते हैं, पर वे भी अवसरानुकूल ही आए हैं और उनसे भाषा में प्राण-प्रतिष्ठा हुई है।

वाजपेयीजी की शैली

वाजपेयीजी की शैली (१) विवेचनात्मक (२) विश्लेषणात्मक और (३) भावात्मक है। इन शैलियों में उनके वाक्य छोटे, पर भाव व्यञ्जक होते हैं। उनके वाक्यों में आवश्यकता से अधिक एक भी शब्द नहीं होता। नारीत्व सौंदर्य के चित्रण में उनकी शैली भावात्मक हो जाती है। उस समय वह जिस विषय को लेते हैं उसका चित्र आँखों के सामने खड़ा कर देते हैं। हाव-भाव तथा वेश-भूषा के चित्रण में वह सिद्धहस्त हैं। ऐसे अवसरों पर उनकी भाषा-शैली का प्रवाह पाठकों को तन्मय बना देता है। पात्रों के चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते समय उनकी शैली गम्भीर और कुछ दुरूह हो जाती है, पर इतनी नहीं कि पाठक उसका आनन्द न उठा सकें। वाजपेयीजी अपनी भाषा-शैली में अपने पाठकों का ध्यान रखते हैं और उन्हें अपने सम्पर्क में लाकर उनके हृदय में अपनी विचार-धारा को उतारने की चेष्टा करते हैं। उनकी शैली का उदाहरण लीजिए :—

'संतोष मनुष्य को कभी नहीं होता। सम्पत्ति और सन्तान चाहे जितनी हों। चाहे कैसी सुन्दर और सुशील पत्नी हो और चाहे जितना वैभव। मैं तुम्हारे यहाँ पहुँच भी जाता तो तुमको संतोष न होता। क्योंकि फिर एक-आध दिन बाद लौटना तो पड़ता ही। मगर आज मेहमान भी तो विदा न हो पाये होंगे और तुम यहाँ चले आये। बात क्या है, कुछ समझ में नहीं आता। तुम्हारी सभी बातें विचित्र होती हैं। कम से कम पुराना अनुभव तो यही कहता है।'

लक्ष्मीनारायण मिश्र

जन्म सं० १९६०

जीवन-परिचय

लक्ष्मीनारायण मिश्र सरयूपारीण वशिष्ट-गोत्रीय ब्राह्मण हैं। उनका जन्म पौष शुक्ल प्रतिपदा, सं० १९६० को आजमगढ़ जिले के पूर्वी भाग मिसिरान क्षेत्र के बस्ती ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम प० कमलाप्रसाद मिश्र तथा उनकी माता का नाम श्रीमती सहोदरा देवी था। उनके पूर्वज ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्रिय-कर्मा थे। कहा जाता है कि सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में नगरकोट के क्षत्रिय राजा से संघर्ष होने के कारण उन्हें अपने मूल निवास-स्थान बस्ती जिले के बटुकपुर 'करणी' ग्राम को त्यागकर हटना पड़ा। इससे उन्हें अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा, परन्तु वे हतोत्साह नहीं हुए। गोरखपुर तथा जौनपुर के अंतर्गत अनेक स्थानों में रहते हुए वे आजमगढ़ आये और वहीं बस गये। वह अराजकता का युग था। इसलिए थोड़े ही दिनों में उन्होंने अपना खोया हुआ वैभव पुनः प्राप्त कर लिया। कई मील के गाँवों का अधिकार उनके हाथों में आ गया और एक उपशासक की भाँति वे उनपर शासन करने लगे। सं० १९१४ की प्रथम राज्य-क्रांति में भी स्वभावत: उनके पूर्वजों का सहयोग रहा। उस समय बिहार तथा पूर्वी युक्त-प्रांत के जन-नायक कुँअर सिंह के साथ उनकी पूरी सहानुभूति रही, पर अँगरेजी शासन का प्रादुर्भाव होने पर उनका उत्साह मंद पड़ गया। उनके अधिकार-क्षेत्र के कई गाँव नीलाम हो गये। इससे उन्हें अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अपने जीवन-यापन का अन्य कोई उपाय न देखकर उन्होंने अपने जातिगत कर्मों को अपनाया और इस क्षेत्र में भी

अपना सहज अधिकार प्राप्त कर लिया। इस प्रकार हम देखते हैं हमारे मिश्रजी में एक ओर तो क्षत्रियों की वीरता का रक्त है और दूसरी ओर ब्राह्मणों का पाण्डित्यपूर्ण वैभव। इन्हीं दोनों के सहज समन्वय में उनके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है।

मिश्रजी बाल्यावस्था से ही विद्या-प्रेमी हैं। आरम्भ में उन्होंने अपने गांव में शिक्षा पाई। इसके पश्चात् उन्होंने अपने पड़ोस की पाठशाला में सं० १९७५ में मिडिल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। अपनी इस सफलता से प्रोत्साहित होकर अँगरेजी पढ़ने के लिए वह प्रयाग और फिर काशी गये। उन्होंने काशी के सेंट्रल हिन्दू स्कूल में इंट्रेंस की परीक्षा पास की और इसके पश्चात् हिन्दू-विश्वविद्यालय से सं० १९८५ में बी० ए० पास किया। इस प्रकार मिश्रजी का विद्यार्थी-जीवन बड़ा सफल रहा। विद्यार्थी-जीवन में ही उन्हें अपने मित्रों से साहित्य-रचना की प्रेरणा मिली। उस समय उनके सहपाठियों में श्री उग्र, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पं० कमलापति त्रिपाठी शास्त्री और पं० जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' थे। इन मित्रों की प्रेरणा से मिश्रजी को भी साहित्यिक क्षेत्र में आना पड़ा।

मिश्रजी दसवीं कक्षा से ही कविता करने लगे थे। उस समय उन्होंने 'अन्तर्जगत' नाम से खड़ी बोली की एक कविता-पुस्तक लिखी थी जो दूसरे वर्ष 'पुस्तक-भण्डार, लहरिया सराय' से प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् एम० ए० में पहुँचने पर उन्होंने अपने प्रथम नाटक 'अशोक' की रचना की। इस पुस्तक की रचना में उन्हें द्विजेन्द्रलाल राय के ऐतिहासिक नाटकों के अध्ययन से प्रेरणा मिली थी; पर राय बाबू के पथ का उन्होंने अनुसरण नहीं किया। राय बाबू के नाटकों में सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय भावना का सर्वथा अभाव था। मिश्रजी ने अपने इस नाटक में भारतीयता की पूर्ण रूप से रक्षा की। इससे हिन्दी के तत्कालीन नाटककारों में शीघ्र ही उन्होंने अपना स्थान बना लिया। इस प्रकार अपने विद्यार्थी-जीवन में ही वह कवि के अतिरिक्त नाटककार भी हो गये।

विद्यार्थी-जीवन समाप्त करने के पश्चात् मिश्रजी का अधिकांश जीवन

साहित्य-सेवा में ही व्यतीत हुआ है। उन्होंने लगभग एक दर्जन से अधिक नाटकों की रचना की है। उनका एक नाटक 'आधीरात' है। इस नाटक की रचना के बाद ही २७ अगस्त सन् १९३५ (स० १९९२) की आधीरात को उनके शत्रुओं ने उनके एकमात्र अनुज की हत्या कर डाली। इस वज्र-पात के आघात से वह मुक्त भी न हो पाए थे कि उनकी पत्नी का भी देहात हो गया। परिवार की इन भीषण तथा आकस्मिक विपदाओं ने उन्हें मूक बना दिया। फलतः लगभग दस वर्षों तक उनकी कोई रचना प्रकाश में नहीं आयी। इसी बीच ४२-४३ वाले आन्दोलन में वह शत्रु-चर बनाकर जेल भेजे गये। अपनी इस जेल-यात्रा को वह अपने जीवन की बड़ी सिद्धि समझते हैं। जेल से मुक्त होने के पश्चात् स० २००२ से वह प्रयाग में रहते हैं। उन्होंने आल इंडिया रेडियो, प्रयाग में भी कार्य किया है और छोटे-बड़े चार एकांकी नाटकों की रचना की है। स० २००६ में हैदराबाद-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन के अवसर पर साहित्य-परिषद के अध्यक्ष के पद से उन्होंने जो भाषण दिया है उसमें उन्होंने अपने साहित्यिक दृष्टिकोण का भलीभाँति स्पष्टीकरण किया है।

मिश्रजी की रचनाएँ

मिश्रजी हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार हैं। उनका रचना-काल उस समय से प्रारम्भ होता है जब वह नवीं कक्षा में पढ़ते थे। उस समय वह कविताएँ लिखा करते थे। यह सं० १९७९-८० की बात है। तब से अब तक उन्होंने हमें बहुत कुछ दिया है। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) कविता संग्रह—अन्तर्जगत (सं० १९७७), विद्रोह (स० १९८६)

(२) मौलिक नाटक—अशोक (स० १९८४), सन्यासी (सं० १९८६) राक्षस का मंदिर (स० १९८८), मुक्ति का रहस्य (सं० १९८९), राजयोग (सं० १९९१), सिन्दूर की होली (सं० १९९१), आधीरात (स० १९९२), गरुड़ध्वज (स० २००२), नारद की वीणा (सं० २००३), वत्सराज (स० २००७), दशाश्वमेध (सं० २००७), अशोक वन (स० २००७), प्रलय के पंख पर (स० २००७), चक्रव्यूह (स० २०११), कवि भारतेन्दु (स० २०१२),

वितस्ता की लहरें (सं० २०१०), वैशाली में वसन्त (सं० २०११), किरात नाटकावली (सं० २०११), कावेरी में कमल (सं० २०१२)

(३) अनूदित नाटक —गुड़िया का घर, समाज के स्तम्भ।

मिश्रजी की साहित्य-साधना

मिश्रजी की उक्त रचनाओं के अध्ययन से उनकी साहित्य-साधना का रूप स्पष्ट हो जाता है। काशी के सेंट्रल हिन्दू कालेज में पढ़ते समय ही उन्होंने 'अन्तर्जगत' की रचना की थी। यह रचना समय को देखते हुए काफी प्रौढ़ थी। आरम्भ से ही जहाँ उन्होंने मिल्टन शा, इब्सन, गेटे, नीत्शे, रोम्याँ रोलाँ, प्लेटो आदि से प्रेरणा प्राप्त की है वहाँ वह वाल्मीकि कालिदास, तुलसीदास आदि से भी प्रभावित हैं। हिन्दी में उनकी ख्याति उनके नाटकों के कारण है। वह हिंदी के प्रतिभासम्पन्न नाटककार हैं। आधुनिक नाटकों के क्षेत्र में प्रसादजी के पश्चात् उन्हीं का स्थान है। उनके साहित्यिक विचार अत्यन्त सात्विक, जीवन-स्पर्शी और गम्भीर हैं। साहित्य में वह चिरंतन सत्य के उपासक हैं। वह प्रत्येक बात को बुद्धि की तुला पर तौलकर, उसकी अच्छी तरह छान-बीन करके, उसे साहित्य में स्थान देते हैं। वह बुद्धिवादी कलाकार हैं। इसलिए उनकी मानसिक तुला पर जो बात खरी नहीं उतरती उसकी वह उपेक्षा करते हैं। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव में जो अभारतीयता आ गयी है उसके वह घोर विरोधी हैं। वह चाहते हैं, साहित्य को वास्तविक जीवन के पूर्ण सम्पर्क में लाना और उसे अपनी संस्कृति और सभ्यता के अनुकूल बनाना। धर्म में, साहित्य में, कला में और सदाचार में वह उन्हीं बन्धनों को स्वीकार करते हैं जो सदैव से हैं, जो हमारे ही रक्त और हमारी ही आत्मा से उत्पन्न होते हैं, जो चिरंतन हैं, इसलिए उपयोगी हैं। यही उनका बुद्धिवाद है। इस सम्बन्ध में वह स्वयं कहते हैं—'जो लोग बुद्धिवाद को पश्चिम से आयी हुई एक भयंकर बीमारी समझते हैं वह भूल करते हैं। सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य और वेदान्त मीमांसा इसी बुद्धिवाद पर अवलम्बित है। उपनिषदों में जिस व्यक्तिगत् स्वतंत्रता और आध्यात्मिक सहिष्णुता या व्यापकता पर ज़ोर दिया गया है वह अगर

बुद्धिवाद नहीं तो है क्या ? इसी मतलब से मैं अपने को बुद्धिवादी कहता हूँ।" आगे वह कहते हैं—'जहाँ तक मैं समझता हूँ बुद्धिवाद हमारे यहाँ कोई नयी चीज नहीं है। हमारे संस्कार का आधार ही बुद्धिवाद या विवेकजनित प्रवृत्ति है। योरप में यह प्रणाली अवश्य नयी है।' अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वह टाल्सटाय, रोम्यांरोला, अनातोले फ्रांस और बर्नर्ड शा के समर्थक हैं। पाश्चात्य साहित्य के इन महान कलाकारों के चरित्रों में, उन चरित्रों की भलाई-बुराई में, धर्म-अधर्म में मानव हृदय की सहानुभूति स्पष्ट देख पड़ती है।' कहने का तात्पर्य यह कि मिश्रजी वास्तविक जीवन के, उसके गुण-दोष, उसके राग-द्वेष, उसकी इच्छा-अनिच्छा, उसकी आशा-निराशा के चित्रकार हैं और इन सब का चित्रण वह भारतीय संस्कृति के अनुरूप करना चाहते हैं। मानव-हृदय के भावों को कल्पना और भावुकता के चोखे रङ्ग से रङ्गकर, जीवन की वास्तविक गतिविधि पर आवरण डालकर, वह साहित्य की मर्यादा को नष्ट नहीं करना चाहते। वह साहित्य को वास्तविक जीवन की व्याख्या बनाने के पक्ष में हैं।

धार्मिक क्षेत्र में मिश्रजी सोलह आना आस्तिक हैं। ईश्वर को वह आत्मानंद और अनुभूति का विषय मानते हैं। हमारा हिन्दू-धर्म पुनर्जन्म, कर्मवाद और मोक्ष सम्बधी जिन धारणाओं पर आधारित है उनमें उनका अडिग विश्वास है। धर्म के वाह्याडम्बर में वह आस्था नहीं रखते।। इस सम्बध में वह कहते हैं—'मेरे मस्तिष्क और मन में शायद कोई ऐसी बात है जो कि मुझे धर्म की प्रदर्शिनी के भी भीतर पैर नहीं रखने देती। भिन्न-भिन्न धर्मों में उपासना की जो प्रचलित प्रणालियाँ हैं, उन्हें केवल नियमन कह सकता हूँ।' इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में वह तत्त्वदर्शी हैं। वह धर्म को व्यक्तिगत सम्पत्ति मानते हैं और कहते हैं—'वह सत्य तो मन और वचन से परे की वस्तु है।' इसलिए वह अपने धार्मिक विचारों के सम्बध में किसी को प्रश्न करने का अवसर नहीं देना चाहते।

मिश्रजी की विचार-धारा का संक्षेप में जो स्पष्टीकरण किया गया है उससे उनके दो व्यक्तित्व हमारे सामने आते हैं—एक तो वह जो

आत्मानंद और अनुभूति पर आश्रित है और दूसरा वह जो बुद्धिवाद पर आधारित है। आत्मानद और अनुभूति उनके काव्य का संबल है और इसीलिए वह अपनी मुक्तक कविताओं में अधिकांश रहस्यवादी हैं। वहाँ उनके बुद्धिवाद की पहुँच नहीं है। अपने हृदय के सत्य को उन्होंने काव्य के माध्यम द्वारा ही व्यक्त किया है। इसके विरुद्ध उनके नाटकों में जीवन का सत्य है। इस प्रकार कवि मिश्रजी नाटककार मिश्रजीसे सर्वथा भिन्न हैं। अनुभूति-प्रधान होने के कारण कवि मिश्रजी सरस हैं और बुद्धिवादी होने के कारण नाटककार मिश्रजी अपेक्षाकृत शुष्क।

मिश्रजी का पहला नाटक है 'अशोक'। इसकी रचना उन्होंने उस समय की थी जब उन पर एक ओर तो अँगरेजी नाटककार शेक्सपियर का प्रभाव था और दूसरी ओर बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय का। रायबाबू बंगला के 'शेक्सपियर' थे। उनके नाटकों में वही गुण-दोष थे जो शेक्सपियर के नाटकों में। ऐसी दशा में मिश्रजी ने भी उन गुण-दोषों को अंशतः अपनाया। परंतु जब उन्होंने संस्कृत के नाटकों का परिचय प्राप्त किया तब उन्हें ज्ञात हुआ कि शेक्सपियर और इसलिए रायबाबू की समस्त रचनाएँ कल्पना-प्रसूत और भावुकता से परिपूर्ण होने के कारण जीवन के सत्य से दूर हैं। बस, इस विचार ने उन्हें बुद्धिवादी बना दिया। फलतः प्रतिक्रिया के रूप में उन्होंने आगे चलकर जिन नाटकों की रचना की उनमें उन्होंने जीवन के चिरंतन सत्य को अपनी बुद्धि की तुला पर तौलकर चित्रित किया। अपने नाटकों में वह व्यक्ति की प्रमुख समस्या, सेक्स, लेकर हमारे सामने आये।

सेक्स की समस्या आज विश्व-व्यापी समस्या है। इसका सीधा सम्बन्ध है विवाह से। 'व्यक्ति की समाज से टक्कर जिस प्रकार अनेक समस्याओं को जन्म देती है उसी प्रकार सेक्स-समस्या का जन्म भी व्यक्ति की प्रवृत्ति और विवाह की संस्था से ही होता है।' हमारे भारतीय समाज में यह समस्या इसी कारण उत्पन्न हुई है। यहाँ भी व्यक्ति और समाज के बीच जो संघर्ष चल रहा है और उसके फलस्वरूप जो समस्याएँ उत्पन्न हुई

हैं उनमें से एक यह भी समस्या है। मिश्रजी ने इस समस्या को व्यापक रूप न देकर शिक्षित समाज तक ही उसे सीमित रखा है और उसका हल भारतीय परम्परा के अनुकूल निकालने का प्रयत्न किया।

मिश्रजी के अबतक के कुल नाटक चार भागों में विभाजित किए जा सकते हैं: (१) ऐतिहासिक, (२) सांस्कृतिक, (३) पौराणिक और (४) सामाजिक। 'अशोक' ऐतिहासिक नाटक है। इस नाटक में ऐतिहासिक सत्य का खुलकर हत्या की गई है। 'गरुड़ध्वज' 'वत्सराज' आदि सांस्कृतिक नाटक हैं। 'नारद की वीणा' पौराणिक नाटक है। 'सन्यासी', 'राक्षस का मंदिर', 'मुक्ति का रहस्य', राजयोग', 'सिन्दूर की होली' और 'आधी रात' सामाजिक नाटक हैं। 'अशोक' के अतिरिक्त मिश्रजी के इन सभी नाटकों की एक ही समस्या है और वह है सेक्स की। जैसा कि पहले बताया जा चुका है मिश्रजी ने इस समस्या पर अपने बुद्धिवादी दृष्टिकोण से विचार किया है, पर उनका बुद्धिवाद शुद्ध बुद्धिवाद नहीं है। जिस भावुकता से बचने की दुहाई उन्होंने दी है उससे वह अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सके हैं और सच पूछिए तो इसलिए वह सफल भी हुए हैं। इस दिशा में 'मुक्ति का रहस्य' उनकी अत्यंत सफल रचना है।

मिश्रजी के नाटकों में चार प्रकार की समस्याएँ हैं: (१) सामाजिक, (२) राजनीतिक, (३) पौराणिक और (४) ऐतिहासिक। सामाजिक समस्याओं में सेक्स समस्या के अतिरिक्त गाँधीवाद के प्रभाव से अन्य राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याएँ भी आयी हैं, पर इनका स्थान सर्वत्र गौण है। नाटकीय ऐक्य की दृष्टि से इन सभी समस्याओं में दूध-पानी का-सा सम्बध नहीं है। इसलिए प्रत्येक समस्या का जो प्रभाव पड़ना चाहिए वह नहीं पड़ता ऐसा जान पड़ता है कि नाटककार ने कृत्रिम रूप से कथानक में उनका समावेश किया है। इससे कहीं-कहीं कथानक की स्वाभाविकता नष्ट हो गयी है और रसोत्पत्ति में बाधा पड़ी है।

मिश्रजी के समस्या नाटकों के सम्बंध में जो बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है वह यह कि उनमें केवल समस्याओं का चित्रण है,

उन समस्याओं का समाधान नहीं है। इस सम्बंध में उनका मत है—'एक बात और अपने समस्या नाटकों के सम्बध में कहना चाहता हूँ और वह यह कि रचना विवशता की देन है, उसी प्रकार जैसे प्रेम। दुनिया का रूप बदलने के लिए रचना नहीं होती, बल्कि सामाजिक जीवन जिन कठिनाइयों और संकटों से पार हो रहा है उन्हीं में से एक या दो का रूप साहित्यकार खड़ा कर देता है। समस्या उठाना ही उसका काम है, समाधान प्रस्तुत करना नहीं। जो अभाव या जो परेशानी उसके भीतर होती है उसका भी चित्र वह खींचता है, पर अपने से स्वतंत्र होकर। मेरे नाटकों में यही दृष्टिकोण प्रमुख है।' मिश्रजी ने अपने समस्या नाटकों में इस दृष्टि का सफल निर्वाह किया है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से मिश्रजी के नाटक अत्यन्त सफल हैं। उन्होंने अपने सामाजिक नाटकों के पात्रों का चयन शिक्षित वर्ग से किया है। उनके पात्र या तो ज़मींदार, धनवान और प्रोफेसर होते हैं या किसी भारतीय राजवंश के सदस्य। इसलिए सभी बुद्धिवादी होते हैं। वे तार्किक हैं, जागरूक हैं, सजग हैं, अपनी परिस्थितियों से परिचित हैं, अपने हृदय की क्षणिक भावुकता को दबाना जानते हैं, साथ ही पुरुषार्थी और क्रियाशील हैं। वे स्वयं अपने कथन तथा क्रियाओं-द्वारा अपने चरित्र का विकास करते हैं। उनकी संख्या भी कम है। निम्नश्रेणी के पात्रों की बहुत कमी है।

कथोपकथन की दृष्टि से भी मिश्रजी के नाटक सफल हैं। उनके नाटकों में लम्बे-लम्बे भाषणों का सर्वथा अभाव है। उनके पात्र उतना ही कहते हैं जितने से उनका काम चल जाता है। व्यर्थ का शब्दाडम्बर उनके संवादों में नहीं है। मिश्रजी ने अपने कथोपकथन में मनोविश्लेषण की शैली सफलतापूर्वक अपनायी है। अतः कथोपकथन प्रायः टूटे वाक्यों में चलता है। उसमें हृदय की सरसता कम, मस्तिष्क का सूखापन बहुत रहता है।

टेक्नीक में मिश्रजी अधिक सफल नहीं हैं। उनके टेक्नीक पर पाश्चात्य नाटककारों का, विशेषतः इब्सन का प्रभाव है। उनके कुछ नाटकों में दृश्य-परिवर्तन इतना शीघ्र होता है कि दर्शक उसका आनन्द

नहीं उठा पाता। इसके अतिरिक्त 'प्रवेश' और 'प्रस्थान' भी इतने अधिक रहे हैं कि कभी-कभी उनसे जी ऊब जाता है। 'आधीरात' में अतिप्राकृतिक तत्व का समावेश होने से उसकी अभिनयशीलता में भी बाधा पड़ी है। उनके नाटकों में गीतों का भी अभाव-सा है। उनकी राय है कि नाटकों में गीत रखना आवश्यक नहीं है। वह जब अपने किसी पात्र का झुकाव संगीत की ओर देखते हैं तभी वह उसके द्वारा दो-चार गीतों का आयोजन करते हैं। स्वगत भाषण तो हैं ही नहीं। अभिनय की स्वाभाविता बनाए रखने तथा रंगमंच का जीवन के साथ सम्पर्क स्थापित करने के विचार से वह 'स्वगत' की प्रणाली को उचित नहीं समझते। उनके नाटकों में मूक अभिनय अत्यन्त सफल है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी के समस्या-नाटकों में मिश्रजी के समस्या-नाटकों का प्रमुख स्थान है। उनके समस्त नाटकों में एक स्वर, एक विचार-धारा है, एक समस्या है और वह है चिरन्तन नारी की। इस समस्या को हल करने के लिए उन्होंने अपने नाटकों में आडम्बरपूर्ण धार्मिक संस्कारों की उपेक्षा की है, भावुकता पर बुद्धि की विजय घोषित की है, व्यक्ति की उन्नति में समाज की उन्नति का स्वप्न देखा है और भौतिक प्रेम को नारी की प्रधान समस्या के रूप में बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किया है। उनकी नायिकाएं—आशा देवी, चम्पा, चन्द्रकला और मनोरमा—जिन नारी-समस्याओं को जन्म देती हैं उनका समाधान वे स्वयं अपने हृदय और मस्तिष्क के द्वन्द्व के बीच करती हैं। वे अपना कोई भाव गोपनीय नहीं रखतीं। उनके भीतर जो इच्छा, द्वेष, ईर्ष्या, प्रेम, वासना, त्याग, समर्पण, विवशता है और जिस पर बाह्य आचार और शील का आवरण चढ़ा हुआ है वह अन्त में प्रकट हो जाता है। 'नारी अपने अवांछित कर्मों को ढकने के लिए जिन कर्मों-द्वारा अपनी आत्म शक्ति का ह्रास करती जाती है उनका स्पष्टीकरण ही अन्त में उसे संसार का सामना करने का साहस प्रदान करता है।' ऐसे ही अवसरों पर मिश्रजी की कला का विकास हुआ है, जो एक ओर तो भारतीय-साहित्य से प्रभावित

है और दूसरी ओर पाश्चात्य साहित्य से। इन दोनों प्रभावों के सुन्दर समन्वय में ही मिश्रजी ने अपने उद्देश्य की सिद्धि की है।

मिश्रजी और प्रसादजी : तुलनात्मक अध्ययन

मिश्रजी के सम्बन्ध में अबतक हमने जो विचार प्रकट किए हैं उनसे स्पष्ट है कि वह हिंदी के प्रसिद्ध नाटककार प्रसादजी के सर्वथा विरोधी हैं। प्रसादजी के नाटकों में अतीत का वैभव है; मिश्रजी के सामाजिक नाटकों में वर्तमान नारी की समस्याएँ हैं। प्रसादजी के नाटकों में समाज की व्यक्ति पर विजय है; मिश्रजी के नाटकों में व्यक्ति की समाज पर। इस प्रकार प्रसादजी के ऐतिहासिक कथानकों का क्षेत्र जहाँ विस्तृत और विशाल है वहाँ मिश्रजी के सामाजिक कथानकों का क्षेत्र सङ्कुचित और सीमित है। प्रसादजी की रचनाओं में एक नहीं, अनेक समस्याएँ हैं जो अतीत कालीन होते हुए भी हमारे वर्तमान जीवन से सम्बन्धित हैं। मिश्रजी के सामाजिक नाटकों में एक ही समस्या है और उसी समस्या के अन्तर्गत अन्य समस्याओं का चित्रण हुआ है। प्रासंगिक कथाओं का आयोजन दोनों नाटककारों ने किया है, पर जहाँ प्रसादजी अपने प्रासंगिक कथाओं का मूल कथानक के साथ भाव-ऐक्य स्थापित करने में समर्थ हो सके हैं, वहाँ मिश्रजी अपने मूल कथानक में अधिक गहराई तक उतरने के कारण प्रासंगिक कथाओं का सफलतापूर्वक निर्वाह नहीं कर सके हैं।

पात्रों के चयन की दृष्टि से प्रसादजी और मिश्रजी दोनों समान हैं। दोनों के पात्र अधिकतर उच्च वर्ग के शिक्षित नागरिक अथवा राजवंश के सदस्य हैं। पर दृष्टिकोण में अन्तर होने के कारण जहाँ प्रसादजी के पात्र कर्तव्य के पालन में आत्म-सन्तोष लाभ करते हैं और धार्मिक संस्कारों से बँधे हुए हैं वहाँ मिश्रजी के पात्र धार्मिक संस्कारों में रूढ़िवादिता का अनुभव करते हैं और उनके विरोध में आत्म-सन्तोष लाभ करते हैं। प्रसादजी के पात्र भावुक हैं, काल्पनिक हैं, सहृदय और कोमल हैं। उनके हृदय में जो द्वन्द्व और संघर्ष है उसमें भावुकता भरी हुई है। मिश्रजी के सभी पात्र

सोलह आना बुद्धिवादी हैं। वे प्रत्येक बात को मानसिक तुला पर तौलते हैं और खोटा-खरा परखते हैं। इसके अतिरिक्त प्रसादजी के पात्र समाज की उन्नति में अपनी उन्नति देखते हैं। मिश्रजी के पात्र व्यक्तिवादी हैं। वे अपनी उन्नति में समाज की उन्नति देखना चाहते हैं।

पाश्चात्य नाटककारों का प्रसादजी और मिश्रजी पर समान रूप से प्रभाव पड़ा है। प्रसादजी पर शेक्सपियर का प्रभाव है और मिश्रजी पर इब्सन और बर्नर्ड शा का। शेक्सपियर में कल्पना और भावुकता है, इब्सन में जीवन का सत्य। जिस प्रकार शेक्सपियर और इब्सन एक दूसरे के साथ मेल नहीं खाते, उसी प्रकार प्रसादजी और मिश्रजी एक नहीं हो पाते। प्रसादजी के अंतरंग और बहिरंग दोनों पर पाश्चात्य विचार-धारा का प्रभाव है, मिश्रजी के नाटकों का अंतरंग अधिकांशतः भारतीय साहित्य से प्रभावित है और बहिरंग पाश्चात्य साहित्य से।

शैली की दृष्टि से भी प्रसादजी और मिश्रजी में अंतर है। प्रसादजी के सभी नाटकों में अंकों और दृश्यों का संतुलन है। इसके साथ ही उनमें गायन, वादन और नृत्य की योजना है। फिर भी उनके अधिकांश नाटक अभिनयशील नहीं हैं। मिश्रजी के नाटक अभिनयशील तो हैं, पर उनके अंकों और दृश्यों में सन्तुलन न होने से उनकी अभिनयशीलता में बाधा पड़ती है। गायन, वादन और नृत्य की भी उनमें कोई योजना नहीं है। प्रसादजी की भाषा इतनी क्लिष्ट है कि साधारण पाठक उसे समझ नहीं सकते। मिश्रजी की भाषा सरल और साहित्यिक है। प्रसादजी का काव्य उनके नाटकों में उतर आया है, इसीसे वह अत्यन्त भावुक, सरस और कोमल है। मिश्रजी के नाटकों में एक तीव्र विचार-धारा और वर्तमान समाज के प्रति एक मार्मिक व्यंग है; इससे उनमें सरसता और कोमलता कम, तर्क की शुष्कता अधिक है।

मिश्रजी की भाषा

मिश्रजी की भाषा शुद्ध हिन्दी है। उन्होंने अपनी भाषा में शुद्ध तत्सम का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से किया है। उसमें कहीं-कहीं उर्दू के शब्द भी

मिलते हैं। ऐसे शब्द हैं—तबीयत,खुश, हालांकि, जिन्दगी, कोशिश, जोर, जिम्मेदारी आदि। इन शब्दों के प्रयोग से भाषा की स्वाभाविकता बनी रहती है और प्रवाह में बाधा नहीं पड़ती। उर्दू-शब्दों के समान ही अँगरेजी के शब्द भी उनकी भाषा में मिलते हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग जहाँ हुआ है वहाँ केवल हिन्दी जानने वालों के लिए कठिनाई उपस्थित हो गयी है और भाषा बोधगम्य न होकर दुरूह हो गयी है। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में प्रान्तीय प्रयोग और लिंग की त्रुटियाँ भी मिलती हैं। इस प्रकार की त्रुटियों का कारण उनकी असावधानता नहीं है। मिश्रजी अपने नाटकों में पात्रोचित भाषा का प्रयोग करते हैं। जो जैसा है वह वैसी भाषा बोलता है। मिश्रजी अपने पात्रों की भाषा पर अपना रंग नहीं चढ़ाते। उनकी भाषा का उत्कृष्ट रूप उनके निबंधों तथा उनकी कविताओं में मिलता है।

मिश्रजी की शैली

मिश्रजी ने दो शैलियों का प्रयोग किया है। निबंधों में उनकी शैली आलोचनात्मक है और कथोपकथन में मनोविश्लेषणात्मक। अपनी इन दोनों शैलियों में वह सफल हैं। कथोपकथन में उनके वाक्य टूटे हुए चलते हैं। उनमें कवित्व का यथासम्भव बहिष्कार किया गया है। उनमें तीखापन अवश्य मिलता है, पर यह सत्य का तीखापन है, भाषा का नहीं। अपने संवाद को स्वाभाविक बनाने के लिए कहीं तो अँगरेज़ी के सम्पूर्ण वाक्य ज्यों-के-त्यों रख दिए गए हैं और कहीं उनका अनुवाद दिया गया है। इससे कथोपकथन के प्रवाह में बाधाएँ उपस्थित हो गयी हैं। 'प्रकाश देखता है' हिन्दी का कोई मुहावरा नहीं है। मिश्रजी की आलोचनात्मक शैली अवश्य निर्दोष है। उसमें मुहावरे भी हैं, प्रवाह भी है और स्वाभाविकता भी है। उनकी शैली का उदाहरण लीजिए :—

'विश्वास मन के गहरे तल में उठता है प्रेमचन्द! इसमें तर्क-वितर्क नहीं होता। मैं नहीं जानता तुमने पहले ही दिन मुझ पर क्या टोना किया कि मैं तुम्हारी आँखों से अपना मुँह देखने लगा।'

जैनेन्द्र कुमार

जन्म सं० १९६२

जीवन परिचय

जैनेन्द्र कुमार का जन्म सं० १९६२ में कौड़ियागंज, अलीगढ़ के एक मध्य श्रेणी के परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री प्यारेलाल और माता का नाम श्रीमती रामदेवी था। चार मास की अवस्था में ही पिता के स्नेह से वंचित होने के कारण उनकी माता ने ही उनका पालन-पोषण किया। इसका उनके बाल जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा जैन-गुरुकुल ऋषि ब्रह्मचर्याश्रम, हस्तिनापुर में हुई। इस गुरुकुल में सं०१९६९ से सं० १९७५ तक पढ़ने के पश्चात् उन्होंने निजी तौर पर पढ़ना आरम्भ किया और सं० १९७६ में मैट्रिक की परीक्षा पास की। वह बचपन से ही विद्या-प्रेमी थे। इसलिए आगे पढ़ने के विचार से उन्होंने काशी जाकर हिन्दू-विश्वविद्यालय में नाम लिखा लिया। दो वर्ष तक वहाँ पढ़ने के पश्चात् वह महात्मा गांधी के असहयोग-आन्दोलन (सं० १९७७) में सम्मिलित हो गए। इस प्रकार उनकी शिक्षा का क्रम टूट गया।

असहयोग-आन्दोलन में जैनेन्द्रकुमार ने सक्रिय भाग लिया। फलतः उन्हें जेल-जीवन व्यतीत करना पड़ा। सं० १९८१ में वह पहली बार जेल गए। इसके पश्चात् सं० १९८७ और सं० १९८९ में उन्हें फिर जेल जाना पड़ा। जेल-जीवन में ही उन्हें लिखने की प्रेरणा मिली। उन्होंने सब से पहले 'अहिंसा' पर एक लेख लिखा। यही उनकी सर्वप्रथम रचना है। उनकी पहली कहानी 'खेल' सं० १९८५ में 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई। इसी समय उनका पहला उपन्यास 'परख' भी प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास पर उन्हें हिंदुस्तानी एकाडमी, प्रयाग ने ५००) का पुरस्कार दिया।

जैनेन्द्रजी सरल, उदार और गम्भीर व्यक्ति हैं। उनके जीवन में आडम्बर नहीं है। स्वभाव से वह एकान्त-प्रिय हैं। दैनिक जीवन की हलचलों का उन पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। जैन-धर्मावलम्बी होने के कारण वह कट्टर अहिंसावादी हैं। गांधीवाद का भी उनके जीवन पर प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार उनका जीवन दो सूत्रों में बंधा हुआ है। हिंदी के वह दार्शनिक साहित्यकार हैं। इस समय वह दिल्ली में रहते हैं और साहित्यकार का जीवन व्यतीत करते हैं।

जैनेन्द्र की रचनाएँ

जैनेन्द्रजी का रचना-काल सं० १९८५ से आरम्भ होता है। उन्हें लिखने की प्रेरणा दो स्रोतों से मिली है: (१) अपने निकम्मेपन के परिणाम स्वरूप और (२) नागपुर के एक मित्र मनचेर शाह बस्तमजी बनाजी के देनदारों के परिणाम स्वरूप। स्पष्ट है कि उनमें लिखने की रुचि का प्रादुर्भाव स्वाभाविक ढङ्ग से नहीं हुआ है। उन्होंने लिखने के लिए कोई तैयारी नहीं की। इस प्रकार हिन्दी-क्षेत्र में उनका प्रवेश सब से भिन्न है। उनकी भावना अपनी भावना है। वह हिन्दी के किसी साहित्यकार से प्रभावित नहीं हैं। उनकी समस्त रचनाएँ इस प्रकार हैं:—

(१) उपन्यास—परख (सं० १९८७), तपोभूमि (सं० १९९३) सुनीता (सं० १९९३), त्यागपत्र (सं० १९९४), कल्याणी (सं० १९९७), सुखदा (सं० २००६), विवर्त (सं० २०१०), व्यतीत (सं० २०१०) और जयवर्धन (सं० २०१३)।

(२) कहानी-संग्रह—फाँसी (सं० १९८६), स्पर्धा (सं० १९८७), वातायन (सं० १९८८), एक रात (सं० १९९२), नीलम देश की राजकन्या (सं० १९९५), नई कहानियाँ (सं० १९९५), कपटकुमारोउलि (सं० १९९६), पाजेब (सं० २००५), जयसंधि (सं० २००५), ध्रुवयात्रा, एक दिन, दो चिड़ियाँ।

(३) नाटक—पाप और प्रकाश न० (सं० २०१०), टकराहट एकांकी (सं० २०१०)।

(४) निबन्ध संग्रह—प्रस्तुत प्रश्न (सं० १९९५), जड़ की बात ८ (सं० २००३), गांधीनीति, जैनेन्द्र के विचार (सं० १९९४), लघु निबन्ध, व्यक्तिवाद, पूर्वोदय (सं० २००७), सर्वोदय (सं० २००७), विचारवल्लरी (सं० २००६), साहित्य का श्रेय और प्रेय (सं० २०१०), मन्थन (सं० २०१०), सोच-विचार (सं० २०१०), काम, प्रेम और परिवार (सं० २०१०), ये और वे (सं० २०११)।

जैनेन्द्र की सत्य-साधना

जैनेन्द्रजी अध्ययनशील और चिन्तक साहित्यकार हैं। उन पर एक ओर तो गांधीवाद का प्रभाव है और दूसरी ओर बुद्ध की करुणा तथा महावीर की अहिंसा का। इस प्रकार वह मनुष्य की सद्वृत्तियों और आध्यात्मिक सम्भावनाओं को जागरित करनेवाले साहित्यकार हैं। वह आध्यात्मिक दर्शन के अनुयायी हैं और संसार की व्यावहारिक समस्याओं को भी अपनाते चलते हैं। वह भौतिक विज्ञान और उसकी वर्तमान विधियों को सर्वथा ग्राह्य नहीं मानते। वह अपने विचारों में पुराण-पंथी या रूढ़िवादी भी नहीं हैं। उनकी अपनी स्वतन्त्र विचार-धारा है। उनका कहना है कि 'जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है।' किस प्रकार क्षुद्र में महत्, पिण्ड में ब्रह्माण्ड प्रति-फलित हो रहा है, किस प्रकार जीवन का प्रत्येक क्षण सम्पूर्ण जीवन की गरिमा से मण्डित है और उसे समझने की कुंजी है—यही उनका अखण्ड सत्य है और इसी अखण्ड सत्य का व्यावहारिक रूप अहिंसा है। अहिंसा का विरोध करनेवाली शक्ति है बुद्धि। बुद्धि भेदात्मक होती है और वह द्वन्द्व की सृष्टि में सहायक होती है। इसलिए जैनेन्द्रजी बुद्धि के स्थान पर साहित्य की प्रतिष्ठा करते हैं। वह बुद्धिवादी दृष्टिकोण को साहित्य का श्रेय नहीं मानते; अहिंसा, करुणा और प्रेम को ही साहित्य का श्रेय मानते हैं। साहित्य की आत्मा में वह इन्हीं का निवास स्वीकार करते हैं। इन्हीं के आधार पर वह कहते हैं—'जो साहित्य जितना ही उन भावनाओं को व्यक्त करता है जो सब देश-काल के मनुष्यों में एक समान हैं, वह उतना ही चिरस्थायी है। ऐसा वही कर सकता है जिसने अपना

अन्त समष्टि में खो दिया है।' इस प्रकार जैनेन्द्रजी भेद में अभेद देखते हुए साहित्य को चिरन्तन और शाश्वत मानते हैं और समष्टि में खो जाने को व्यष्टि की पूर्णता स्वीकार करते हैं। यही उनके साहित्य में व्यक्तित्व की विशिष्टता है। अपने इस दृष्टिकोण के कारण वह अपने पाठकों के लिए पहेली बन गए हैं। उनके उपन्यास, उनकी कहानियाँ, उनके निबंध —सभी इसी दृष्टिकोण से प्रभावित हैं।

1) उपन्यासकार जैनेन्द्र—जैनेन्द्र ने 'परख', 'तपोभूमि', 'त्यागपत्र' 'कल्याणी', 'सुनीता', 'विवर्त', 'व्यतीत,' 'जयवर्धन' आदि कई विचार प्रधान उपन्यासों की रचना की है। इन उपन्यासों के कथानक सामाजिक हैं। इनमें घटनाएँ कम, व्यक्तिगत समस्याएँ अधिक हैं जिनमें बुद्धि और हृदय का, समाज और व्यक्ति का एक अविराम संघर्ष मिलता है। इसलिए जैनेन्द्रजी को अपने उपन्यासों के लिए कथा गढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह मूल कथा को ही इस कौशल से विस्तृत करते हैं कि प्रासंगिक कथा के लिए अवसर ही नहीं आने पाता। इस प्रकार अपने उपन्यासों में घटनाओं का वर्णन करना या कहानी कहना उनका उद्देश्य नहीं है। उनका उद्देश्य है व्यक्तिगत जीवन के क्षुद्रतम संकेतों के प्रति आदर का भाव उत्पन्न करना और उनके माध्यम से सम्पूर्ण जीवन को परखना। उनके इसी उद्देश्य में उनकी शक्ति और उनकी कला का रहस्य निहित है। हिन्दी के उपन्यासकारों में यह केवल उन्हीं की विशेषता है कि वह कथा के विकास के लिए स्थूल घटनाओं पर आश्रित न रहकर, जीवन की नितान्त साधारण गतियों एवं संकेतों का आश्रय लेते हैं। उनका विश्वास है कि—'इस विश्व के छोटे-से-छोटे खंड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं।' अपने इसी विश्वास को उन्होंने अपने कथा साहित्य में चरितार्थ किया है। तात्पर्य यह कि उनके कथानकों में घटनाएँ नहीं, संकेत हैं। इसलिए पात्र भी थोड़े ही हैं। किन्तु पात्रों और घटनाओं की कमी के कारण उनके उपन्यासों में अरोचकता नहीं आने पाई है विषय की दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि उन्होंने अपने सर्व

उपन्यासों में पुरुष और नारी के प्रेम की समस्या को ही आधारभूत समस्या बनाई है। यह सामाजिक समस्या है, पर उनके उपन्यासों में यह व्यक्तिगत समस्या बन गई है। इसलिए उनके उपन्यासों की कथा अत्यन्त सूक्ष्म होती है। अपनी इस विशेषता के कारण हिन्दी में वह यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक चित्रण-प्रधान उपन्यासों के जनक माने जाते हैं।

जैनेन्द्रजी ने अपने उपन्यासों में क्षुद्र की महत्ता का उद्‌घाटन मनोविज्ञान और दर्शन-द्वारा किया है। उन्होंने अपने पात्रों की गति-विधियों को गहन मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक तथ्यों से सम्बद्ध करके अपनी कला का विकास किया है। उनके पात्रों की समस्त समस्याएँ वैज्ञानिक हैं जो दार्शनिक भाव-भूमि पर चित्रित की गयी हैं। दर्शन से तात्पर्य है जीवन सम्बन्धी प्रश्नों का अनुचिंतन। जैनेन्द्रजी स्वभाव से दार्शनिक हैं। उनके इस प्रकार के स्वभाव का उनके पात्रों पर भी प्रभाव पड़ा है। इसलिए उनके पात्रों को अपने दार्शनिक भावों को व्यक्त करने के लिए न तो अवसर की आवश्यकता पड़ती है और न भूमिका की। उनके दार्शनिक भाव स्वतः निकल पड़ते हैं और पाठकों को अपनी स्वाभाविकता एवं सरल आकर्षकता से अभिभूत कर लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनेन्द्रजी के पात्रों के व्यक्तित्व में एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक जटिलता है और वे निरन्तर जीवन की नैतिक सार्थकता को सहज भाव से देखते या खोजते रहते हैं।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में कई विशेषताएँ हैं। उन्होंने अपने पात्रों के अंग और चेष्टाओं के हृदयग्राही वर्णन द्वारा चरित्र-विकास में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। इसके साथ ही विश्लेषणात्मक ढंग पर किए गए चरित्र-चित्रण में उन्होंने अपनी लेखन-शैली के बल से पर्याप्त रोचकता उत्पन्न कर दी है। उनका अभिनयात्मक प्रणाली से किया गया चरित्र-चित्रण भी बड़ा सरस और आकर्षक है। पात्रों के कथोपकथन तथा कार्यों-द्वारा भी उनके चरित्र के सम्बन्ध में बहुत कुछ विदित हो जाता है। सबसे अधिक आश्चर्योत्पादक तथा मनोरंजक चरित्र-चित्रण वहाँ हुआ है जहाँ पात्र मुख से कुछ कह कर कार्य उसके विपरीत करते हैं। जैनेन्द्रजी

के उपन्यासों का कथानक जिस प्रकार कटा-छँटा, छोटा और भावपूर्ण होता है उसी प्रकार उनके पात्र भी संख्या में कम रहते हैं। इसलिए चरित्र का विकास पर्याप्त मात्रा में हो जाता है।

जैनेन्द्रजी की पात्र-योजना बड़ी सरल है। उनके उपन्यासों में व्यक्तिगत विशेषता रखनेवाले पात्रों की अधिकता है। ऐसे सभी पात्र आरंभ से अन्त तक अपनी-अपनी वैचित्र्यपूर्ण वैयक्तिक विशेषताएँ बनाए रखते हैं। उनमें दार्शनिकता भी पायी जाती है। उनकी वेश-भूषा से भी दार्शनिकता टपकती है। 'सुनीता' का हरिप्रसन्न, 'परख' का सत्यधन और 'तपोभूमि' का नवीन ऐसे ही पात्र हैं जो अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के बल पर नयी-नयी परिस्थितियों का निर्माण करने की सामर्थ्य रखते हैं और जीवन के प्रचलित तथ्यों तथा नियमों के विरुद्ध खड़े होकर उन पर अपना रंग चढ़ाने का प्रयत्न करते दिखायी देते हैं। साथ ही प्रवाह के साथ बहते हुए भी वे अपनी शक्ति भर उसमें हलचल उत्पन्न करके उसके मार्ग को परिवर्तित करने का उद्योग करते हैं। उनके समान ही स्त्रियाँ भी शक्तिदायिनी के रूप में चित्रित की गयी हैं। वे स्वयं सब कुछ करती हैं और पुरुषों को भी प्रेरित करती हैं। वे ही व्यक्ति, परिवार, समाज, जाति और देश की प्राण और करुणा, दया, स्नेह, सहानुभूति की प्रतीक हैं। उनमें छिछोरापन नहीं है। वे किसी आदर्श की ओर उन्मुख नहीं हैं। वे अपने यथार्थ रूप में सामने आती हैं। सुनीता, जो आरंभ में सीमित क्षेत्र के भीतर रहकर चौका-बरतन करनेवाली एक साधारण महिला है, आगे चलकर असाधारण रूप धारण कर लेती है। 'कट्टो' का चरित्र भी अपने ढंग का निराला ही है। इस प्रकार जैनेन्द्र के सभी स्त्री तथा पुरुष-पात्र संयमी, कर्तव्यशील, नीति-कुशल और कर्मठ हैं।

जैनेन्द्रजी का कथोपकथन घटनाओं को गतिशील बनाने में इतना सहायक नहीं होता जितना शील-निरूपण में। उनके छोटे-छोटे कथोपकथन सहज एवं भावपूर्ण होते हैं और उनमें मनोरंजक वार्तालाप के साथ मन सरल गति से हँसता-खेलता चलता है। जिस प्रकार दृश्य-काव्य में पात्रों

के अनुभावों को अभिनय द्वारा व्यक्त किया जाता है उसी प्रकार यह कार्य कथोपकथन-द्वारा किया गया है। इससे उनके उपन्यासों में नाटकीय छटा आ गयी है।

जैनेन्द्रजी के कथा-साहित्य के सम्बन्ध में जिन विशेषताओं का उल्लेख अब तक किया गया है उनके अतिरिक्त कुछ ऐसे दोष भी हैं जिनके कारण उपन्यास की रोचकता में बाधाएँ उपस्थित हुई हैं। हम बता चुके हैं कि जैनेन्द्र मनुष्य की सद्वृत्तियों और आध्यात्मिक सम्भावनाओं को जागरित करनेवाले कलाकार हैं, परन्तु अपने इस प्रयत्न में वह पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सके हैं। उनके पात्रों में संकोच है, झिझक है, गोपनीयता की प्रवृत्ति है, निर्भीकता का अभाव है। इसलिए अध्यात्मवादी और पवित्रतावादी दृष्टि उनमें पर्याप्त परिपुष्टि नहीं हो पाती है। उनके प्रमुख पात्र 'एक ऊँचे उद्देश्य को लेकर एक उच्च मानसिक भूमि पर व्यवहार करते हैं, किन्तु सच्ची चारित्रिक उच्चता और उदात्त मनःस्थिति उनमें नहीं है। इससे उनके चरित्र-चित्रण में एक ऐसी विचित्र रहस्यात्मकता आ गयी है जो पात्रों के व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण में बाधक है। हम यह जान ही नहीं पाते कि वे चाहते क्या हैं। वे किसी क्रमबद्ध मनोविज्ञान के आधार पर नहीं चलते। उनके सामने न तो जीवन का कोई स्पष्ट लक्ष्य है और न कोई स्पष्ट प्रश्न।' इन दोषों के कारण ही उनके पात्र हमारी पूरी सहानुभूति प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं।

जैनेन्द्रजी अपने उपन्यासों में अपनी शक्तियों का, एक निर्दिष्ट दिशा में प्रयोग नहीं करते। उनका मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण और दार्शनिक चिन्तन दोनों अलग-अलग अथवा एकसाथ, एक हृदयगम्य प्रयोजन की पूर्ति के लिए नहीं होते। पात्रों की विशिष्ट परिस्थियों तथा उनके सफल विश्लेषण में उनका जितना आग्रह दिखायी देता है उतना उनके सम्पूर्ण जीवन को प्रकाशित करने में नहीं। उनमें विश्लेषण-पटुता तो है, पर समन्वय-शक्ति नहीं है। इस शक्ति के अभाव के कारण ही उनके उपन्यास लोक-प्रिय न होकर पाठकों के लिए दुरूह और चिन्तन के विषय हो गए हैं।

इन त्रुटियों के होते हुए भी जैनेन्द्र हिन्दी के मौलिक उपन्यासकार हैं। अपने दृष्टिकोण की नवीनता से छोटी-से-छोटी घटना को असाधारण बना देने की उनमें अद्भुत क्षमता और शक्ति है। उन्होंने अपने उपन्यासों में दिखावटी भावुकता और कारणहीन अस्वाभाविक करुणा के स्थान पर विशुद्ध, सुन्दरतम भावना और आदर्श की प्रतिष्ठा की है। इसके साथ ही तथाकथित प्रगतिवाद के नपे-तुले सिद्धान्तों को त्यागकर उन्होंने जीवन की वास्तविक गहराई में पैठने का उपक्रम भी किया है। उनमें न केवल स्वतंत्र विचार-धारा है, स्वतंत्र कलात्मक अभिव्यक्ति भी है। इस प्रकार वह हमारे साहित्य के प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार हैं। उनके उपन्यासों में समाज के प्रति विद्रोह भावना के दर्शन होते हैं।

(२) कहानीकार जैनेन्द्र—जैनेन्द्र हिन्दी के युग-प्रवर्तक कहानीकार भी हैं। प्रेमचन्द के पश्चात् वह हिन्दी के श्रेष्ठ कहानीकार माने जाते हैं। उनकी पहली कहानी 'खेल' सं० १९८४ में प्रकाशित हुई थी। उसके अब तक उन्होंने दर्जनों कहानियाँ लिखी हैं। इन कहानियों में उनका सब कुछ अपना है। उनकी अपनी कहानी-परिभाषा है और उसी परिभाषा के अनुरूप उन्होंने अपनी कहानी-कला का स्वरूप निश्चित किया है। प्रेमचन्द की कहानियों के आदर्श बदले हैं, उनकी शैली बदली है, उनका स्वरूप बदला है, उनकी परिभाषा बदली है, पर जैनेन्द्र आरम्भ से अब तक अपनी कहानियों में एक से हैं। जिस 'मनोवैज्ञानिक सत्य' को प्रेमचन्द से पाकर उन्होंने कहानियों की परिभाषा बनाई है उसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर वह आज भी अटल हैं। इस सम्बन्ध में प्रो० वासुदेव ने ठीक ही लिखा है—'कहानीकार के रूप में प्रेमचन्द और जैनेन्द्र की स्थिति ठीक ३ और ६ जैसे अंकों की है। जिस सूत्र को प्रेमचन्द ने जहाँ छोड़ दिया था वहीं से जैनेन्द्र का साहित्यिक जीवन आरंभ होता है। दोनों में यही महान अंतर है।' इससे स्पष्ट है कि 'परिस्थितियों के प्रभाव से मनोभावों के विकास में जो परिवर्तन होते हैं उन्हीं को जैनेन्द्र ने वाणी दी है। उनकी कहानियों में सामाजिक संस्कारों के रूढ़ नीति-बन्धनों

के प्रति विद्रोह है। उन्होंने समाजवाद की अपेक्षा व्यक्तिवाद को और भौतिकवाद की अपेक्षा अध्यात्मवाद को अपनी कहानियों में अधिक प्रश्रय दिया है। इसलिए उनके पात्र जीवन की परिस्थितियों तथा उनके वातावरण से असन्तुष्ट दीख पड़ते हैं और उन पर विजय पाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं। अपने प्रयत्न में वे संघर्ष का मार्ग न अपनाकर समझौते का मार्ग अपनाते हैं। इसीलिए उनमें समर्पण और आत्म-त्याग की भावना भी पायी जाती है। आत्म-त्याग ही उनका चरम लक्ष्य है। यह बुद्धिवाद नहीं है, भावुकता का परिणाम है। जैनेन्द्र के पात्र भावुक अधिक हैं। पात्रों की मानसिक दशाओं का चित्रण उनकी कला की परम विशेषता है। वह अपने पात्रों के मन में काफी गहराई तक उतरे हैं और इसमें वह सफल हुए हैं।

जैनेन्द्रजी की कहानी-कला हिन्दी-कहानी-साहित्य में अपना विशिष्ट-स्थान रखती है। वह मन के चितेरे हैं। इसलिए उनकी कहानियों से सस्ते मनोरञ्जन की आशा नहीं की जा सकती। उनकी कहानियों को समझने के लिए उन्हीं के-से मानव-मन में पैठना चाहिए। जो उनकी इतनी गहराई तक नहीं उतर सकता वह उनकी कहानियों की थाह नहीं पा सकता। यही कारण है कि जैनेन्द्रजी की अधिकांश कहानियाँ रहस्यमय प्रतीत होती हैं। उनमें एक प्रकार का अवगुण्ठन है जो सब खोल नहीं पाते। इससे स्पष्ट है कि उनकी कहानियों का स्तर ऊँचा है। कला की दृष्टि से उनकी कहानियों में सङ्कलन-त्रय—काल सङ्कलन, स्थान-सङ्कलन तथा घटना-सङ्कलन का पूर्ण निर्वाह मिलता है। प्रभाव की एकता भी उनमें पायी जाती है। एक ही भाव अथवा एक ही विचार उनकी कहानियों का मूलाधार होता है जो *धीरे-धीरे चरम-सीमा पर पहुँचकर मानव-मन* को अपने में लपेट लेता है।

(३) **निबंधकार जैनेन्द्र**—जैनेन्द्र कुमार हिन्दी के प्रौढ़ निबंधकार भी हैं। उन्होंने दो सौ से अधिक निबंध लिखे हैं जो 'जड़ की बात', 'गांधी-नीति', 'जैनेन्द्र के विचार', 'लघु निबंध', 'विचार वल्लरी', 'ये और वे',

'प्रस्तुत प्रश्न', 'पूर्वोदय', 'सर्वोदय', 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', 'मंथन', 'सोच-विचार' और 'काम, प्रेम और परिवार' में संगृहीत हैं। इनमें विषय की दृष्टि से चार प्रकार के निबंध मिलते हैं : (१) सामाजिक, (२) दार्शनिक, (३) साहित्यिक और (४) राजनीतिक। 'काम, प्रेम और परिवार' के प्रायः सभी निबन्ध सामाजिक हैं। इस निबंध-संग्रह में मुख्यतः नारी-जीवन की समस्याएँ ली गई हैं। 'विच्छेद और विवाह', 'काम की सामाजिक परिणति', 'संयम और सन्तान', 'आर्थिक सभ्यता में नारी की स्थिति' आदि उनके उत्कोटि के सामाजिक निबंध हैं। इन निबंधों में जैनेन्द्रजी ने नारी-जीवन से सम्बन्धित प्रेम, विवाह, सन्तति, काम आदि समस्याओं पर अत्यंत गम्भीर दृष्टि से विचार किया है। वह पुरुष और नारी के बीच विवाह को ही प्रेम का आदर्श नहीं मानते। वह सात्विक प्रेम में विश्वास करते हैं। 'दान की बात', 'दीन की बात', 'मजदूर और मालिक' आदि में उन्होंने आर्थिक समस्याओं पर विचार किया है। ये भी उनके सामाजिक विषय सम्बंधी निबंध हैं। 'धर्म और अधर्म', 'दर्शन और उपलब्धि', 'मृत्यु पूजा', 'मानव का सत्य', 'निरा बुद्धिवाद', आदि उनके दार्शनिक विषय सम्बंधी निबंध हैं। इन निबंधों में उनके चिन्तन की गहराई है ऐसे निबंध 'मन्थन', 'सोच-विचार', 'जैनेन्द्र के विचार', 'व्यक्तिवाद' 'गांधी-नीति' आदि में संग्रहीत हैं। 'ये और वे' में जैनेन्द्रजी के साहित्यिक निबन्ध हैं जो रवीन्द्रनाथ टागुर, प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद शुक्लजी, शरच्चन्द्र, महादेवी, माताजी, नेहरू और उनकी कहानी तथ महात्मा गांधी की विचारधाराओं के सम्बन्ध में लिखे गए हैं। इनकी शैली वार्तिक शैली अथवा 'प्रश्नोत्तरी शैली' है। इनका अध्ययन करते समय ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे जैनेन्द्रजी उनमें बातें कर रहे हों और उनके प्रश्न का उत्तर देते जाते हों। उनकी इस शैली में विशेष आत्मीयता है जो उन्होंने इसी दृष्टि से जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक तथा साहित्यिक प्रश्नों पर विचार किया है। यह उनकी अपनी शैली है जो अत्यन्त आकर्षक, सजीव और प्रभावोत्पादक है। 'बाजार-

दर्शन', 'आप क्या करते हैं', 'कहानी नहीं' आदि भी इसी शैली के निबंध हैं। उनके राजनीतिक निबंधों में 'देश : उसकी स्वाधीनता', 'क्रांति', 'शासन तंत्र विचार', 'भारत की एकता', 'स्वतन्त्रता के बाद' आदि का प्रमुख स्थान है। इन निबन्धों पर गाँधीजी की विचार धारा का स्पष्ट प्रभाव व्यंजित होता है। इस प्रकार जैनेन्द्रजी अपने सम्पूर्ण निबन्ध-साहित्य में एक गंभीर विचारात्मक के रूप में हमारे सामने आते हैं। वह हिन्दी के दार्शनिक कलाकार हैं और जीवन की मुख्य समस्याओं में इतनी गहराई तक उतरे हैं कि कहीं-कहीं वह बुरी तरह उलझकर पाठकों के लिए रहस्यात्मक बन गए हैं। यही उनका दोष है।

जैनेन्द्र और प्रेमचंद तुलनात्मक अध्ययन

जैनेन्द्रकुमार की औपन्यासिक-कला के सम्बंध में अबतक जो विचार व्यक्त किए गए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि हिन्दी के कथा-साहित्य में वह एक नवीन धारा के उपन्यासकार हैं। उनकी कला प्रेमचन्द की कला से सर्वथा भिन्न है। प्रेमचन्द की भाँति ही जैनेन्द्र भी सामाजिक जीवन के कथाकार हैं, पर जहाँ प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में जीवन का सामूहिक चित्र मिलता है वहाँ जैनेन्द्र के कथा-साहित्य में व्यक्तिगत जीवन का। प्रेमचन्द ने अपने परिवार, अपने समाज, अपने देश की सभी समस्याओं को कथानक का रूप देकर उनके प्रति हमारी सहानुभूति प्राप्त की है, जैनेन्द्र ने वैयक्तिक जीवन की समस्याओं को चित्रित करके उनके प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। प्रेमचन्द ने समाज की सामूहिक चेतना को जागरित किया है, जैनेन्द्र ने व्यक्ति की आत्म-साधना को। प्रेमचन्द समाज के उत्थान में विश्वास करते हैं, जैनेन्द्र व्यक्ति के उत्थान में। प्रेमचन्द ने समाज के माध्यम से व्यक्ति को देखा है, जैनेन्द्र ने व्यक्ति के माध्यम से समाज को। प्रेमचन्द ने सामाजिक संघर्षों और उनसे उत्पन्न सुधारों की योजना का स्वरूप चित्रित किया है, जैनेन्द्र ने व्यक्ति का संघर्ष समाज के प्रति सचेत किया है। प्रेमचन्द में सामाजिक चेतना मुख्य है, जैनेन्द्र में वैयक्तिक। प्रेमचन्द के उपन्यासों में समस्याएँ प्रमुख हैं, जैनेन्द्र के उपन्यासों में विचार। इस प्रकार हिन्दी के ये

दोनों कलाकार एक-दूसरे से भिन्न हैं। उनकी रचनाओं में सैद्धांतिक विरोध है। प्रेमचन्द का साहित्य सुधार-मूलक है; जैनेन्द्र का समस्यामूलक। प्रेमचन्द में जीवन-पथ का निर्देशन है, जैनेन्द्र में जीवन-पथ के निर्माण का आवेदन। प्रेमचन्द की प्रतिभा बहिर्मुखी है, जैनेन्द्र की प्रतिभा अन्तर्मुखी। गांधीवाद का दोनों पर प्रभाव है, पर जहाँ इस प्रभाव के कारण प्रेमचन्द आदर्शवादी हैं वहाँ जैनेन्द्र अध्यात्मवादी हो गए हैं।

कथा-वस्तु की दृष्टि से प्रेमचन्द जैनेन्द्र की अपेक्षा जटिल हैं। प्रेमचन्द के कथानक कुछ उलझे हुए और अनियंत्रित-से हैं। जैनेन्द्र के कथानक सरल और नियंत्रित हैं। प्रेमचन्द के वस्तु-सङ्गठन में मुख्य कथानक के साथ प्रासङ्गिक कथाएँ भी जुड़ी हुई हैं, जैनेन्द्र के वस्तु-सङ्गठन में मुख्य कथानक के साथ प्रासङ्गिक कथाओं का अभाव-सा है। यही कारण है कि जहाँ प्रेमचन्द के कथानकों में पात्रों का जमघट है, वहाँ जैनेन्द्र के कथानकों में पात्रों की संख्या बहुत कम है। प्रेमचन्द के कथानकों का क्षेत्र विस्तृत है, जैनेन्द्र के कथानकों का क्षेत्र सीमित और संकुचित। प्रेमचन्द अपने कथानकों में प्रचारक और उपदेशक-से हो गए हैं; जैनेन्द्र एक तत्त्व-चिन्तक के रूप में हमारे सामने आए हैं। इसलिए जहाँ जैनेन्द्र अपने उपन्यासों में अपने दार्शनिक विचारों के कारण अस्पष्ट हो गए हैं, वहाँ प्रेमचन्द अपने सरल विचारों के कारण अत्यन्त स्पष्ट हैं। प्रेमचन्द सर्वसाधारण के उपन्यासकार हैं, जैनेन्द्र गंभीर चिंतकों के।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रेमचन्द और जैनेन्द्र ने उन सभी प्रणालियों का अनुसरण किया है जिनसे पात्रों को समझने में सहायता मिलती है। पर दोनों में सैद्धांतिक मत-भेद होने के कारण चरित्र-चित्रण का स्वरूप एक-सा नहीं है। प्रेमचन्द के पात्र वर्गवादी हैं। वे जो कुछ करते हैं या कहते हैं उनका सीधा सम्बन्ध उनके समाज से होता है। जैनेन्द्र के पात्र व्यक्तिवादी हैं। वे जो कुछ करते या कहते हैं, उनका सम्बन्ध उनके समाज से न होकर उनके व्यक्तिगत जीवन से होता है। प्रेमचन्द के पात्र सामाजिक संघर्षों के बीच अपने चरित्र का विकास करते हैं, इसलिए वे कुछ

भी गोपनीय नहीं रखते। वे स्पष्ट रूप से हमारे सामने आते हैं। जैनेन्द्र के पात्र अपनी मनोवृत्तियों में उलझते हैं। उनमें एक प्रकार की आध्यात्मिक चेतना है जो उन्हें रहस्यवादी बना देती है। इसलिए वे स्पष्ट रूप में अपने चरित्र का विकास नहीं कर पाते। प्रेमचन्द के पात्र भावुक हैं, जैनेन्द्र के पात्र बुद्धिवादी। प्रेमचन्द के पात्र विभिन्न वर्ग के हैं, विभिन्न जाति के हैं, जैनेन्द्र के पात्रों में न तो वर्गवादी विशेषताएँ हैं और न जातीय। वे मनुष्य हैं, मानव हैं।

कथोपकथन की दृष्टि से भी प्रेमचन्द और जैनेन्द्र में साम्य नहीं है। प्रेमचन्द के कथोपकथन घटनाओं को गतिशील बनाने में सहायक होते हैं; जैनेन्द्र के कथोपकथन घटनाओं को गतिशील बनाने की अपेक्षा शील-निरूपण में सहायक होते हैं। इस मौलिक भेद के अतिरिक्त प्रेमचन्द के कथोपकथन प्रायः लम्बे, अन्य तत्वों की अपेक्षा बढ़े हुए और असतुलित होते हैं। जैनेन्द्र के कथोपकथन छोटे, पर पूर्ण, सतुलित और मार्मिक होते हैं। कहीं-कहीं पात्रों की रहस्य-भावना के कारण उनके कथोपकथन हृदयंगम न होकर चिन्तन की अपेक्षा रखते हैं, पर प्रेमचन्द के कथोपकथन आरंभ से अन्त तक स्पष्ट बने रहते हैं।

जैनेन्द्र की भाषा

जैनेन्द्रकुमार की भाषा हिन्दी-खड़ीबोली है। उनकी भाषा के दो रूप हैं, एक तो उनके कथा-साहित्य में और दूसरा उनके निबन्ध-साहित्य में। उनकी भाषा के इन दोनों रूपों में एक बात की समानता है और वह यह कि उन्होंने सस्कृत, फारसी और अँगरेजी, तीनों भाषाओं के शब्दों को बड़ी सफाई और ईमानदारी से अपनाया है। उन्हें उर्दू से घृणा नहीं, अँगरेजी से चिढ़ नहीं और सस्कृत से दुराव नहीं है। उन्होंने अपनी भाषा में 'शायद', 'दिलासा', 'जिन्दगी', 'लेकिन', 'बेकार' आदि फारसी के शब्दों को भी अपनाया है, पर इन शब्दों के प्रयोग से उनकी भाषा में दुरूहता नहीं आने पायी है। भाषा की स्वाभाविकता और बोधगम्यता पर उन्होंने विशेष रूप से ध्यान दिया है। उनकी भाषा में प्रयत्न अथवा

कृत्रिमता नहीं है। वह विषय और परिस्थितियों के अनुरूप बदलती चलती है। इसीलिए उनके समस्त उपन्यासों की भाषा भी एक-सी नहीं है। उनके उपन्यासों की कथा की भाँति ही उनकी भाषा भी बदलती है। कला की दृष्टि से ऐसा होना पूर्णरूपेण स्वाभाविक ही है। ऐसा जान पड़ता है कि वह रचना करते समय यह नहीं देखते कि उनकी लेखनी से किस भाषा के शब्द निकल रहे हैं, प्रत्युत वह यह देखते हैं कि जो शब्द उनकी लेखनी से निकल रहे हैं वे उनके भावों को व्यक्त करने और उनको प्रभावशाली बनाने में कहाँ तक समर्थ हैं।

जैनेन्द्र की शैली

जैनेन्द्र की शैली दो प्रकार की है। उनके उपन्यासों में जो शैली हम पाते हैं उसे हम वाचिक शैली कह सकते हैं और वह इसलिए कि वह अपनी कथाओं में सर्वत्र बात-चीत करते दिखाई देते हैं। बात-चीत करने में वह जैसी भाषा और जैसी शैली का प्रयोग करते हैं वही शैली उनके उपन्यासों में पायी जाती है। उनकी इस शैली में स्वाभाविकता है, सहृदयता है और प्रभाव है। उनके उपन्यासों को पढ़ते समय ऐसा लगता है मानो लेखक हमसे बात-चीत कर रहा हो। उस बात-चीत में कहीं कुछ गर्मी भी आ जाती है, पर ठीक उसी सहज और स्वाभाविक ढंग से, जैसे हम कभी-कभी बात-चीत करते-करते गर्म हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस शैली में उनकी भाषा भावों का स्पर्श पाते ही अपना रूप स्वयं प्रकट करने लगती है। उसमें भावों की ऊँचाई तक उठकर उन्हें अभिव्यक्त करने की अद्भुत क्षमता और शक्ति है। इसके विरुद्ध उनके निबन्धों में विचारात्मक शैली मिलती है। इस शैली में गंभीर विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए भाषा साधारण धरातल से कुछ ऊँची उठी हुई है। इसमें उनका शब्द-चयन भी विचारों के अनुकूल गहन और गंभीर है, पर क्लिष्ट नहीं। वह क्लिष्ट भाषा के पोषक नहीं हैं। उनकी भाषा साहित्यिक होने के साथ-साथ व्यावहारिक होती है जो अपने स्वाभाविक प्रवाह के कारण पाठक को अपने में तल्लीन कर लेती है।

जैनेन्द्रजी की दोनों शैलियों में वाक्यों का विस्तार और संकोच भावों के अनुरूप होता है। वह छोटे छोटे वाक्य लिखकर जहाँ अपनी वार्तिक शैली में घरेलू वातावरण की सृष्टि करते हैं, वहाँ उन्हीं के द्वारा अपनी विचारात्मक शैली में गंभीरता उत्पन्न करते हैं। लम्बे वाक्य उन्होंने प्रायः कम लिखे हैं। अपने छोटे और नपे-तुले वाक्यों में वह भाव भरना अच्छी तरह जानते हैं। उनके वाक्य जितना कहते नहीं उससे अधिक ध्वनि करते हैं। उनके वाक्यों के प्रवाह में एक कम्पन, एक सिहर, एक मस्तानापन रहता है। बीच-बीच में आए हुए प्रश्नात्मक वाक्य कभी कुतूहल, कभी अस्थिरता और कभी निश्चयात्मक ज्ञान की बरबस उत्पत्ति कर देते हैं। सजीवता उनका प्रधान लक्षण है।

जैनेन्द्रजी की भाषा में कुछ दोष भी हैं। उसमें व्याकरण-सम्बन्धी भूलें तो हैं ही, *साथ ही कहीं कहीं मुहावरों का अशुद्ध प्रयोग भी हुआ है।* 'राह मूँदता है' कोई मुहावरा नहीं है। 'मूँदना' आँख के लिए ही प्रयुक्त होता है। कहीं-कहीं प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग भी भाषा सौंदर्य में बाधक हुआ है। कुछ अप्रचलित क्रिया पदों के रूप भी मिलते हैं। 'देर नहीं खोयेगा' 'दीख नहीं सकना दीखता', आदि क्रिया पदों से उनकी भाषा का प्रवाह नष्ट हुआ है। कहीं-कहीं अँगरेजी के वाक्यों के अनुवाद भी भद्दे हुए हैं। पर इस प्रकार की त्रुटियों के होते हुए भी जैनेन्द्रजी की भाषा में जो स्वाभाविकता, माधुर्य, प्रवाह, सहृदयता और सरसता है वह उनकी त्रुटियों की ओर हमें नहीं जाने देती। उनकी शैली का एक उदाहरण लीजिए:—

'मुझे अच्छा न लग रहा था. कहा, स्त्री पुरुष के बीच क्या एक ही संबंध है, विवाह ? क्या दूसरा कोई सहयोग संभव नहीं ? जो साथ रहे, परस्पर विवाहित ही हो ? मैत्री, सहानुभूति, करुणा क्या इस तरह के सहज सात्विक संबंधों को आप समाज में संभव न बनने देंगे। स्त्री-पुरुष के बीच क्या सब संबंध शारीरिक मान लिया जायगा और इसको आप श्रेष्ठ और उपादेय गिनेंगे। विवाह से इतर सब आपकी निगाह में संदिग्ध होगा और समाज आप उन्नत कहेंगे ?'

रामकुमार वर्मा

जन्म सं० १९६२

जीवन-परिचय

रामकुमार वर्मा का जन्म मध्य प्रदेश के सागर जिले में १५ नवम्बर १९०५ (सं० १९६२) को हुआ था। उनके पिता श्री लक्ष्मीप्रसाद डिप्टी कलेक्टर थे। इसलिए सरकारी नौकरी करते समय उन्हें कई स्थानों में रहना पड़ा। ऐसी दशा में वर्माजी की प्रारम्भिक शिक्षा भिन्न-भिन्न स्थानों में हुई। रामटेक तथा नागपुर के मराठी स्कूल में उन्होंने मराठी भाषा की शिक्षा में अपने चार वर्ष व्यतीत किए। हिन्दी की शिक्षा उनकी माता श्रीमती राजरानी देवी ने उन्हें घर पर ही दी। वह तुलसी और मीरां के पदों को बड़े प्रेम से गाया करती थीं। वह विदुषी महिला थीं। काव्य-रचना की ओर भी उनका झुकाव था। अपने अवकाश के क्षणों में वह कभी-कभी कविता भी किया करती थीं। ऐसी दशा में वर्माजी की प्रारम्भिक शिक्षा पर इस भक्ति-भावनापूर्ण काव्यमय वातावरण का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। वास्तव में वर्माजी को कविता करने की प्रेरणा अपनी माता से ही प्राप्त हुई थी।

आरम्भ से ही वर्माजी बड़े भावुक और अध्ययनशील विद्यार्थी थे। जब वह आठवीं कक्षा में पढ़ते थे तब उनके गुरु श्री विश्वम्भर प्रसाद गौतम 'विशारद' 'विद्यार्थी' में अपनी कविताएँ प्रकाशित कराते थे। वह अपनी कविताओं की प्रतिलिपि वर्माजी से ही कराते थे। प्रतिलिपि करते समय वर्माजी उन कविताओं को गा-गा कर पढ़ा करते थे। उनके बड़े भाई श्री रघुवीर प्रसाद भी कविता करते थे। अतः इस वातावरण का भी उन पर प्रभाव पड़ा और उनके हृदय में कविता करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई।

इस प्रवृत्ति की प्रेरणा से ही उन्होंने हिन्दी-काव्य-ग्रन्थों का अध्ययन किया और फिर स० १९७७ में हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की प्रथमा-परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। तब से हिन्दी साहित्य उनके अध्ययन का मुख्य विषय बन गया।

स० १९७८ के राष्ट्रीय आन्दोलन में वर्माजी ने स्कूल छोड़ दिया। उस समय वह इन्ट्रेंस में पढ़ते थे। उनके पिताजी ने उन्हें बहुत समझाया, पर वह अपने निश्चय पर अटल रहे। उस समय उन्होंने कई कविताएँ लिखीं। स० १९७९ में 'देश-सेवा' शीर्षक कविता पर उन्हें ५१) का 'कन्हा पुरस्कार' मिला। इस सफलता पर उनकी माता ने भी उन्हें ५१) देकर उनका उत्साह बढ़ाया। स० १९८० में उन्होंने पुनः स्कूल में पढ़ना प्रारम्भ किया और उसी वर्ष इन्ट्रेंस की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् वह जबलपुर के रावर्टसन कालेज में प्रविष्ट हुए। इस कालेज से स० १९८२ में उन्होंने एफ० ए० की परीक्षा पास की और फिर प्रयाग विश्वविद्यालय में पढ़ने लगे। इस विश्वविद्यालय से उन्होंने स० १९८४ में बी० ए० और स० १९८६ में एम० ए० पास किया। एम० ए० की परीक्षा में वह हिन्दी लेकर प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। उस समय प्रयाग-विश्वविद्यालय में एक हिन्दी लेक्चरर की आवश्यकता थी। विश्वविद्यालय के तत्कालीन अधिकारी उनकी योग्यता से परिचित थे। फलत. उस पद पर उनकी नियुक्ति हो गई। अधिक काल तक इस पद पर सफलतापूर्वक कार्य करने के पश्चात् वह फिर मध्य प्रान्त चले गये और वहाँ के शिक्षा-विभाग के डिप्टी डायरेक्टर हो गये। परन्तु वहाँ उनका जी न लगा। अतः वह फिर प्रयाग लौट आये।

वर्माजी अत्यन्त सहृदय और विनोदप्रिय हैं। हिन्दी से उन्हें विशेष प्रेम है और वह उसके साहित्य का बराबर अध्ययन करते रहते हैं। कबीर, तुलसी और मीराँ ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया है। वह नागपुर विश्वविद्यालय के पी० एच० डी० हैं। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के ३१ वें तथा ३३ वें वार्षिक अधिवेशनों के अवसरों पर वह साहित्य परिषदों के

अध्यक्ष तथा अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन, जयपुर के सभापति भी रह चुके हैं।

वर्माजी की रचनाएँ

वर्माजी हिन्दी के कुशल साहित्यकार हैं। उनका रचना-काल सं० १९८७ से आरम्भ होता है। तब से अबतक उन्होंने हमें अपना जो साहित्य दिया है वह शैली और विषय की दृष्टि से विविध प्रकार का है। उनकी समस्त रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) उपन्यास—माँ का हृदय।

(२) निबंध संग्रह—विचार-दर्शन (सं० २००४)

(३) गद्य काव्य—हिमहास (सं० १९९८)।

(४) आलोचना—कबीर का रहस्यवाद (सं० १९८८), साहित्य-समालोचना (सं० १९९५), हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (सं० १९९५), हिन्दी-साहित्य की रूप रेखा (सं० १९९५), एकांकी-कला (सं० २००६), हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं० २०१२), साहित्य-शास्त्र (सं० २०१२)।

(५) कविता-संग्रह—वीर हम्मीर (सं० १९८१), चित्तौड़ की चिता (सं० १९८४), अभिशाप (सं० १९८७), अंजलि (सं० १९८८), रूपराशि (सं० १९९०), निशीथ (सं० १९९०), चित्ररेखा (सं० १९९२), चन्द्र-किरण (सं० १९९४), जौहर (सं० १९९६), कुल-ललना, चित्तरन और आधुनिक कवि (सं० १९९८)।

(६) एकांकी-संग्रह—पृथ्वीराज की आँखें (सं० १९९२), रेशमी टाई (सं० १९९८), चारुमित्रा (सं० १९९९), शिवाजी (सं० २००१), विभूति, (सं० २००१), सप्त किरण (सं० २००४), कौमुदी महोत्सव (सं० २००५), चार ऐतिहासिक एकांकी नाटक, (सं० २००६), ध्रुव तारिका (सं० २००७), विक्रमादित्य, रूपरंग (सं० २००७), सरस एकांकी (सं० २००८) रजत रश्मि (सं० २००९), ऋतुराज (सं० २००९), दीपदान (सं० २०१०), इन्द्र धनुष (सं० २०१२), रिमझिम (सं० २०१२)

(७) नाटक—सत्य का स्वप्न (स० २०११), विजय पर्व (स० २०१२)

(८) सम्पादित—हिन्दी गीति काव्य, कबीर पदावली, आठ एकांकी नाटक (स० १९९८), आधुनिक हिन्दी काव्य (स० १९९६), वृहत्त सन्त कबीर (स० २००३), संक्षिप्त सन्त कबीर (स० २००३)।

इन रचनाओं में से 'चित्ररेखा' काव्य पर स० १९९२ ई० में वर्मा जी को २०००) का 'देव-पुरस्कार' मिल चुका है। इसके अतिरिक्त सं० १९९४ में उन्हें 'चन्द्रकिरण' काव्य पर ५००) का 'चक्रधर पुरस्कार' भी मिला है।

वर्माजी की गद्य साधना

वर्माजी की इन रचनाओं से ज्ञात होता है कि वह हिन्दी के प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार हैं। उनकी प्रतिभा कई रूपों में मुखरित हुई है। वह कवि हैं, नाटककार हैं, आलोचक हैं और निबन्धकार हैं। इन विविध रूपों में उन्होंने अपनी साहित्य-साधना का जो आदर्श स्थापित किया है वह अत्यत महत्वपूर्ण और हमारे लिए गौरव की वस्तु है। अगली पंक्तियों में हम उनकी गद्य-साधना पर विचार करेंगे :—

(१) **वर्माजी की नाट्य कला**—वर्माजी एक सफल नाटककार हैं। उन्होंने अब तक कई एकांकी नाटकों की रचना की है। उनका सर्वप्रथम एकांकी है—'बादल की मृत्यु'। यह स० १९८७ की रचना है। इसलिए इसी के आस पास हिन्दी एकांकी का जन्म माना जाता है। इसलिए हिन्दी-एकांकी के जन्मदाताओं में वर्माजी की भी गणना की जाती है। उनके इस एकांकी में कथानक का अभाव है। वास्तव में यह एक अभिनयात्मक गद्य-काव्य है। इसमें एकांकी नाट्य-कला का विकास नहीं हो पाया है। पर इसके पश्चात् इस क्षेत्र में उन्होंने जो रचनाएँ की हैं वे कला की दृष्टि से अत्यन्त उच्चकोटि की हैं। उनके विषय भिन्न हैं। कथानक की दृष्टि से हम उन्हें चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं : (१) सामाजिक, (२) पौराणिक, (३) सांस्कृतिक तथा (४) ऐतिहासिक। अपने इन सब प्रकार के एकांकी नाटकों में वर्माजी आदर्शवादी कलाकार हैं। इनमें वह 'कलुष

के भीतर से पवित्रता, दैन्य के भीतर से शालीनता, वासना के भीतर से आत्म-संयम एवं क्षुद्रता के भीतर से महानता का अन्वेषण करने में समर्थ हुए हैं और यह सब उन्होंने पात्रों और परिस्थितियों के संदर्भ में स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत किया है। इस प्रकार अपने आदर्शवाद में वह अपने देश और अपनी संस्कृति के प्रतिनिधि ज्ञात होते हैं। उनमें उच्चकोटि की राष्ट्रीय भावना है।'

वर्मा जी के नाटकों के कथानक का आधार प्रायः सामाजिक जीवन है जिसका सम्बन्ध मद्र परिवार के उच्च शिक्षित व्यक्तियों से रहता है। आधुनिक भद्र जीवन का प्रेम, ईर्ष्या सन्देह, असंतोष और दंभ उनके नाटकों में किसी-न-किसी रूप में अवश्य चित्रित है। कौतूहलपूर्ण परिस्थितियों के निर्माण में उनकी प्रतिभा अत्यन्त शक्तिशाली है। वह नियोजित परिस्थिति के रूप में अथवा घटना-जन्य समस्या के रूप में नाटक का उद्घाटन एक कौशल के साथ करते हैं। इसलिए उनके नाटक प्रारम्भिक भाग में ही इतने आकर्षक, इतने रोचक और इतने रोमांचित हो जाते हैं कि पाठक उनकी समाप्ति के लिए व्यग्र हो जाते हैं।

वर्मा जी का चरित्र-चित्रण अत्यन्त सफल है। चारित्रिक द्वन्द्व उनके एकांकी नाटकों का प्राण है और उसी के विकास में उनकी कला का विकास हुआ है। अपनी पात्र-कल्पना में वह 'जीवन के उस पहलू को छूना चाहते हैं जिसके द्वारा हृदय का अधिक से अधिक आन्दोलन हो और फलस्वरूप प्रतिक्रिया के रूप में हृदय स्थायी शान्ति प्राप्त कर सके।' इस बात को ध्यान में रखकर जब हम उनके नाटकों पर विचार करते हैं तब हमें पता चलता है कि उन्होंने अपने चरित्र चित्रण में इस उद्देश्य का बड़ी सफलता-पूर्वक निर्वाह किया है। उनके नाटकों में जो संघर्ष और जो द्वन्द्व मिलता है वह अन्त में शान्ति में परिणत हो जाता है। उनके पात्र घटनाओं के प्रवाह में अपना विकास स्वयं करते हैं अथवा अपने इतिहास को विकसित रूप में स्पष्ट करते हैं। उनके पात्रों की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वे कल्पना की अनन्त परिधि में विचरते हुए भी स्वाभाविक हैं और जीवन के लिए

सत्य है। उनका विकास अन्तस्तल की उस प्रेरक शक्ति से होता है जो मानवी जीवन के शाश्वत सत्य के क्रोड़ में पोषित है। वर्माजी ने जीवन की विविध परिस्थितियों का गंभीर अध्ययन किया है और उसे कल्पना के साथ समन्वित कर अपने नाटकों में साहित्यिक रूप दिया है।

संवाद की दृष्टि से भी वर्माजी के नाटक अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। उनके कथोपकथन स्वाभाविक, चारित्रिक, मार्मिक और भाव-व्यंजक होते हैं। पात्रों की मानसिक परिस्थिति के अनुसार घटनाओं की क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में जो शब्द उनकी लेखनी से अनायास ही निकल पड़ते हैं उन्हीं से पात्रों के संवाद की सृष्टि हुई है। इन स्वाभाविक रूपों से निकले हुए शब्दों में हृदय की अनुभूति के साथ-साथ भाषा का कलात्मक सौन्दर्य भी पाया जाता है। जहाँ पात्र सुशिक्षित हैं, वहाँ वार्तालाप में भाषा की सुरुचि है। हम बता चुके हैं कि वर्माजी के अधिकांश पात्र सभ्रान्त और शिक्षित नागरिक हैं, इसलिए उनकी भाषा सर्वत्र प्रौढ़ और स्वाभाविक है। इस प्रकार की भाषा में एक सम्बद्धता है जिससे वस्तु-संगठन पर किसी प्रकार का आघात नहीं पड़ता। बीच-बीच में हास्य और व्यंग्य की शक्तियाँ हैं जिनसे भावना के गंभीर वातावरण में भी जी नहीं ऊबता।

जहाँ तक टेकनीक का प्रश्न है, वर्माजी ने अपने नाटकों में उस शैली का प्रयोग किया है जिसमें एक क्रमिक उतार-चढ़ाव के सहारे घटना अथवा चरित्र चरम सीमा तक पहुँचता है और अन्त में उसका रहस्योद्घाटन होता है। इस शैली-द्वारा आरम्भ में हमारी जिज्ञासा को जो उत्तेजना मिलती है वह अन्त में तुष्ट हो जाती है। वर्माजी के वस्तु-विकास में विस्मय और जिज्ञासा दोनों को स्थान मिला है। इनको उत्पन्न करने में उन्होंने कृत्रिम और स्वाभाविक दोनों प्रकार के साधनों का प्रयोग किया है और इन साधनों में उन्हें पूरी सफलता मिली है। अपने कुछ नाटकों में उन्होंने विन्यास की शैली का भी प्रयोग किया है। इस शैली में विकास का कोई स्पष्ट क्रम नहीं होता। इसमें घटनाओं का उद्घाटन होता रहता है और परितोष का कोई निश्चित साधन नहीं होता। 'रूप की

बीमारी' में इस शैली का प्रयोग हुआ है। '१८ जुलाई की शाम में' मानसिक संघर्ष तीव्र हो जाने के कारण विकास और विन्यास दोनों ही शैलियों का प्रयोग मिलता है। इन दोनों शैलियों के प्रयोग से कहीं-कहीं दोष भी उत्पन्न हो गए हैं।

अभिनय की दृष्टि से वर्माजी के सभी नाटक अत्यन्त सफल हैं। उनके नाटकों में रंगमंच की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति हुई है। इसका एक कारण है और वह यह कि वर्माजी स्वयं अभिनेता हैं और रंगमंच की आवश्यकताओं और कठिनाइयों से भलीभाँति परिचित हैं। उन्होंने रंगमंच के समस्त विधानों का अध्ययन कर अपने नाटकों में प्राण-प्रतिष्ठा की है। 'एक ही दृश्य में घटनाओं का उत्थान और पतन, कौतूहल-जनक आवेगों का चरम सीमा में विस्फोट, पात्रों के मनोविकारों का क्रमिक परिवर्तन और उसकी नियतांत एकांकी नाटक में होना अनिवार्य है। 'बादल की मृत्यु' को छोड़कर वर्माजी के अन्य सभी नाटकों में इन आवश्यक नियमों का पालन किया गया है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्माजी हिन्दी के सफल एकांकी नाटककार हैं। उन्होंने एकांकी नाटक-साहित्य में अनेक प्रयोग किए हैं। इसमें संदेह नहीं कि उनकी नाट्य कला पर पाश्चात्य नाटककारों—शा, इब्सन, मेटरलिंक आदि—का विशेष प्रभाव है, पर अपने मनोवेगों की अभिव्यक्ति में वह सर्वथा मौलिक और भारतीय हैं, उन्होंने अपने नाटकों में ऐसे आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की है जो जीवन की व्यावहारिकता से ओत-प्रोत होकर नैतिक दृष्टि से जनता के लिए कल्याणकारी है। सांस्कृतिक दृष्टि से वह अपने क्षेत्र में प्रसाद और प्रेमचन्द के समकक्ष रखे जा सकते हैं। भारतीय आदर्शों के साथ ही साथ जीवन की उत्कृष्ट स्वाभाविकता उनके नाटकों का प्रधान अंग है। समस्त जीवन की किसी एक घटना में केंद्रित कर कुशलता के साथ चरम सीमा का निर्माण करना उनकी कला का मापदंड है।

(२) वर्माजी का आलोचना और निबन्ध-साहित्य—वर्माजी सफल नाटककार ही नहीं, आलोचक और निबन्धकार भी हैं। 'साहित्य-समा-

लोचना' और 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लिखकर जहाँ उन्होंने अपने अध्ययन, अनुशीलन एवं साहित्यिक क्षमता का परिचय दिया है वहाँ 'कबीर' की रचनाओं पर गंभीर दृष्टि से विचार करके उन्होंने अपनी आलोचना-शक्ति से हमें प्रभावित किया है। उनकी आलोचनाएँ सिद्धान्त की दृष्टि से बड़ी सारगर्भित होती हैं। उन्होंने निबन्ध भी लिखे हैं जो 'विचार-दर्शन' में संग्रहीत हैं। इनमें से अधिकांश आलोचनात्मक हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने गद्य-काव्य भी लिखा है। उनके गद्य काव्य में कल्पना और अनुभूति की प्रधानता रहती है। इसलिए उनकी कविताओं की भाँति उनके गद्य काव्य भी रहस्यवादी भावना से ओत-प्रोत हैं।

वर्माजी की भाषा

वर्माजी की भाषा विशुद्ध हिन्दी है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है, पर वह क्लिष्ट नहीं है, उसमें प्रसाद-गुण का आधिक्य है। उसकी शब्दावली भावों और विचारों के अनुरूप कभी सरल और कभी गम्भीर होती है। उसके दो रूप मिलते हैं : (१) व्यावहारिक और (२) साहित्यिक। वर्माजी की व्यावहारिक भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ फारसी के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। तस्वीर, दरअसल, हमेशा, लेकिन, मगर, लायक, इन्तजाम, शीशा, तारीफ, गुनाह, खिदमत, सिर्फ आदि फारसी भाषा के शब्दों का यत्र-तत्र प्रयोग बड़े स्वाभाविक ढंग से हुआ है। ऐसी भाषा में संस्कृत के सरल तत्सम शब्द पाए जाते हैं। उनकी साहित्यिक भाषा इससे भिन्न है। इस भाषा में उर्दू फ़ारसी शब्दों का सर्वथा बहिष्कार किया गया है और संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है। वर्माजी के निबन्धों, गद्य-गीतों तथा सांस्कृतिक ऐतिहासिक एकांकी नाटकों की भाषा इसी प्रकार की है। 'शिवाजी' तथा 'औरंगज़ेब की आखिरी रात' में भाषा का जो रूप है वह 'कौमुदी महोत्सव' की भाषा से सर्वथा भिन्न है। वर्माजी अपने नाटकों में भाषा का निर्माण करते समय देश, काल और पात्र का बराबर ध्यान रखते हैं। उनका जो पात्र जिस वर्ग और जिस संस्कृति का है उसी के अनुरूप वह अपनी भाषा

से अपने-अपने विचारों को व्यक्त करता है। इससे उसकी भाषा में सजीवता एवं स्वाभाविकता बनी रहती है। यही कारण है कि उनके समस्त नाटकों की भाषा एक सी नहीं है।

वर्मा जी की साहित्यिक भाषा अत्यन्त प्रौढ़ और चुस्त है। उनकी काव्य भाषा अनुभूतिमय होती है। रहस्यवादी होने पर भी वह अपनी भाषा को संस्कृत शब्दों के प्रयोग से दुरूह और क्लिष्ट बनाने की चेष्टा नहीं करते। उनकी साहित्यिक भाषा सरल, सरस, कोमल और बोधगम्य है। उसमें आरम्भ से अन्त तक स्वाभाविक प्रवाह बना रहता है। शब्दों के समुचित प्रयोगों तथा व्याकरण की शुद्धता में भी वह सर्वथा शुद्ध है। मुहावरों का प्रयोग भी उन्होंने बड़ी सुन्दरता से किया है।

वर्माजी की शैली

वर्माजी की शैली बड़ी गम्भीर, प्रभावोत्पादक और प्रवाहपूर्ण होती है। काव्य में उनकी शैलियाँ हैं : (१) इतिवृत्तात्मक और (२) गीतात्मक। इन दोनों शैलियों में उन्होंने अधिकतर ऐसे नये छन्दों का प्रयोग किया है जिनमें कहीं-कहीं अलंकारों की भाँति उनके शब्द भी परम्परा की पूर्ति करते हैं। सुकमीर, सुगत, सुप्रवाह सुगत्न-जैसे प्रयोग इस बात के सूचक हैं। उनकी भाषा गरिमामय है जिसके द्वारा भावों को युक्तियुक्त बनाने का प्रयत्न लक्षित होता है। उनकी कविताओं में ध्वन्यात्मक व्यंजना बहुत है। अलंकारों में उपमा और रसों में शृंगार उन्हें अधिक प्रिय है।

वर्माजी ने अपने गद्य-साहित्य में कई शैलियों का प्रयोग किया है। उनकी भावात्मक शैली के दो रूप हमें मिलते हैं : एक तो उनके गद्य-गीतों में और दूसरा उनके नाटकों के संवादों में। गद्य-गीतों में उनकी भावात्मक शैली अत्यन्त सरस, कल्पना-प्रधान और अनुभूतिमय है। इसमें उनके हृदय का प्रयोग अधिक, मस्तिष्क का चमत्कार कम है। इसका दूसरा रूप पात्रों के कथोपकथन में पाया जाता है। इसमें वाक्य छोटे, सरस और भावना-प्रधान हैं। हम बता चुके हैं कि वर्माजी अपने संवादों में पात्रों की योग्यता तथा उनकी प्रकृति के अनुकूल भाषा का निर्माण करते हैं।

इसलिए उनके संवादों की शैली अत्यन्त स्वाभाविक, मर्मस्पर्शी और चुटीली होती है। उनके एकांकियों में विषय के अनुरूप कहीं भावात्मक, कहीं विश्लेषणात्मक, कहीं आलंकारिक और कहीं व्यंग्यात्मक शैली पायी जाती है। प्रेम के प्रसंगों में भावात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। ऐसे स्थलों पर वर्माजी की भाषा में स्निग्धता और माधुर्य पाया जाता है। मनोभावों के सूक्ष्म विश्लेषण में विश्लेषणात्मक शैली मिलती है। इसमें विचारों की गंभीरता रहती है और वाक्य चुस्त तथा गठे हुए रहते हैं। भावात्मक शैली के अन्तर्गत आलंकारिक शैली मिलती है। इस शैली में अनुभूति और कल्पना का संयोग रहता है। गत घटनाओं का परिचय-मात्र देते समय परिचयात्मक शैली मिलती है। यह साधारण शैली है, पर इसमें भी नाटकीय तत्त्व रहते हैं। व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग ऐसे अवसरों पर किया गया है जहाँ पात्र अपने-अपने संवादों में एक-दूसरे पर व्यंग्य करते हैं। अधिकांश वैदग्ध्यात्मक व्यंग ही उनके संवादों में मिलते हैं। निबन्धों में उनकी शैली दो प्रकार की है, (१) विचारात्मक और (२) आलोचनात्मक। इन दोनों शैलियों में साहित्यिक भाषा का प्रयोग हुआ है जो विषयानुसार कहीं सरल और कहीं अपेक्षाकृत गंभीर है। वर्माजी विषय के अनुरूप भाषा का शृंगार करने में दक्ष हैं। इससे स्पष्ट है कि भाषा पर उनका पूरा अधिकार है। उनकी शैली का उदाहरण लीजिए :—

'नाटक को साहित्य से भिन्न स्थान देने के लिए मचवालों का दूसरा विरोध यह है कि नाटक का कोई अवतरण साहित्यिक दृष्टि से चाहे जितना ही सुन्दर और मनोहर क्यों न हो, पर मंच के अनुसार परीक्षा लेने पर यह ज्ञात हो जायगा कि उसमें नाटकीय तत्त्व बिलकुल नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि अमुक अवतरण काव्य की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है, किन्तु वह नाटक के कार्य व्यापार को आगे बढ़ाने में कितनी सहायता देता है ?'

: २६ :

हजारीप्रसाद द्विवेदी

जन्म सं० १९६४

जीवन परिचय

हजारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म श्रावण शुक्ल ११, सं० १९६४ को बलिया जिले के अन्तर्गत आरत दुबे का छपरा नामक ग्राम के एक सरयूपारीण ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उनका कुल ज्योतिष-विद्या के लिए विख्यात था। उनके प्रपितामह ने २८ वर्ष तक काशी में रहकर ज्योतिष का गंभीर अध्ययन किया था। उनके पिता पं० अनमोल द्विवेदी भी प्रसिद्ध पंडित हैं। उनकी माता श्रीमती ज्योतिष्मती देवी कन्हौली के विख्यात पंडित स्व० देवनारायण की पुत्री थीं। इस प्रकार बालक द्विवेदी के रक्त में आचार्यत्व के संस्कार विद्यमान थे।

द्विवेदीजी की प्रारम्भिक शिक्षा बसरिकापुर के मिडिल स्कूल में हुई। वह आरम्भ से ही विद्या-प्रेमी थे। उनके चाचा पं० बंकि दुबे उनकी बड़ी देख-रेख रखते थे। एक प्रकार से वही उनके विद्यार्थी-जीवन के निर्माता थे। उनकी प्रेरणा से ही द्विवेदीजी ने उक्त स्कूल से सं० १९७७ में मिडिल की परीक्षा पास की। इसके बाद सं० १९७६ से उन्होंने कुल-परम्परा के अनुसार संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया। संस्कृत की प्रवेशिका परीक्षा पास करने के पश्चात् सं० १९८० में हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में उनका नाम लिखाया गया। वहाँ से उन्होंने सं० १९८४ में एडमिशन की परीक्षा पास की। इसी वर्ष उनका विवाह भी हुआ। संस्कृत-साहित्य की अपेक्षा ज्योतिष में उनकी विशेष अभिरुचि थी। उन्होंने सं० १९८७ में इंटर और आचार्य की परीक्षाएँ पास कीं। सं० १९९० तक वह बी० ए० की परीक्षा

महादेवी वर्मा

जन्म सं० १९६४

जीवन परिचय

महादेवी वर्मा का जन्म सं० १९६४ में फर्रुखाबाद में हुआ था। उनके पिता श्री गोविन्दप्रसाद वर्मा एम० ए०, एल० एल० बी० भागलपुर के एक कालेज में प्रधानाध्यापक थे। उनकी माता श्रीमती हेमरानी देवी हिन्दी-प्रेमी और भक्त-महिला थीं। कभी-कभी वह कविता भी किया करती थीं। महादेवी के नाना ब्रजभाषा के कवि थे। इस प्रकार महादेवीजी ने शिक्षित परिवार में जन्म लेकर साहित्यकारों का रक्त पाया है।

महादेवी की प्रारम्भिक शिक्षा इन्दौर में हुई। वहाँ उन्होंने छठी कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। घर पर सङ्गीत और चित्र-कला की शिक्षा प्राप्त करने के साथ-साथ उन्होंने अपनी माता की देख-रेख में सूर, तुलसी और मीराँ की रचनाओं का अध्ययन किया। जब वह ग्यारह वर्ष की हुईं तब उनका विवाह डा० रूपनारायण वर्मा के साथ हुआ। इससे उनकी शिक्षा का क्रम टूट गया। उनके श्वसुर लड़कियों की शिक्षा के विरुद्ध थे। महादेवीजी उस समय अबोध और परवश थीं, परन्तु उनमें उच्च शिक्षा प्राप्त करने की प्रबल कामना थी। इसलिए अपने श्वसुर की मृत्यु के पश्चात् सं० १९७७ में उन्होंने प्रथम श्रेणी में मिडिल की परिक्षा पास की। प्रान्त भर में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करने के कारण उन्हें राजकीय छात्रवृत्ति भी मिली। इससे प्रोत्साहित होकर सं० १९८१ में उन्होंने प्रथम श्रेणी में इंट्रेंस की परीक्षा पास की। इस बार भी उन्हें छात्रवृत्ति मिली। सं० १९८३ में उन्होंने इंटरमीडिएट और सं० १९८५ में बी० ए० की परीक्षा क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज, प्रयाग से पास की। सं० १९९० में उन्होंने प्रयाग विश्व-

विद्यालय में संस्कृत लेकर एम० ए० किया। इस प्रकार उनका विद्यार्थी जीवन आरम्भ से अन्त तक अत्यन्त सफल रहा। बी० ए० की परीक्षा में उनका एक विषय दर्शन भी था। इसलिए उन्होंने भारतीय दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। बौद्ध-दर्शन से वह अधिक प्रभावित हुईं। बुद्ध की करुणा ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया। एम० ए० पास करने के पश्चात् ही वह प्रयाग-महिला विद्यापीठ की प्रधानाचार्या नियुक्त हुईं और अब भी वह उसी पद की शोभा बढ़ा रही हैं।

महादेवीजी हिन्दी की प्रसिद्ध कवयित्री हैं। कविता करने की ओर उनका आकर्षण बचपन से ही रहा है। आरम्भ में वह अपनी माता के पदों में अपनी ओर से कुछ पद जोड़ दिया करती थीं। स्वतन्त्र रूप से भी वह तुकबन्दियाँ किया करती थीं परन्तु उन्हें पढ़कर वह प्रायः फेंक दिया करती थीं। उनकी यह काव्य-रुचि उनकी शिक्षा के साथ-साथ विकसित होती गई और वह अच्छी कविता करने लगीं। उनकी आरम्भिक रचनाएँ 'चाँद' में प्रकाशित होती थीं। इसी पत्र-द्वारा हिन्दी-जगत में उनका प्रवेश हुआ। कुछ दिनों बाद वह 'चाँद' का सम्पादन करने लगीं। अपने सम्पादन-काल में उन्होंने कई कविता-पुस्तकों की रचना की। उन्होंने साहित्य-संसद' नाम की एक संस्था भी स्थापित की। इस समय वह इस संस्था की उन्नति में लगी हुई हैं। उन्हें 'नीरजा' पर ५०० रु० का 'सेकसरिया-पुरस्कार' और 'यामा' पर १२०० रु० का 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' मिला है। ५०० रु० का 'सेकसरिया पुरस्कार' उन्होंने 'महिला विद्या पीठ' को देकर अपनी दानशीलता और उदारता का परिचय दिया है। वह उत्तर-प्रदेश की विधान-परिषद की सदस्या हैं और राष्ट्रपति-द्वारा 'पद्मभूषण' पदक प्राप्त कर चुकी हैं।

महादेवीजी की रचनाएँ

महादेवीजी की रचनाओं की संख्या अधिक नहीं है। उन्होंने लिखा कम, मनन और चिन्तन अधिक किया है। वह हिन्दी की प्रमुख कवयित्री हैं

और शैलीकार थीं। इसलिए उनकी रचनाएँ हमें दो रूपों में मिलती हैं : (१) पद्य और (२) गद्य। उनकी समस्त रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) कविता संग्रह—नीहार (सं० १९८७), रश्मि (सं० १९८९), नीरजा (सं० १९९२), साँध्यगीत (सं० १९९३) और दीपशिखा (सं० १९९९) 'यामा' में 'नीहार', 'रश्मि' और 'नीरजा' की कविताएँ संकलित हैं।

(२) रेखाचित्र तथा संस्मरण—अतीत के चल चित्र (सं० १९९८) स्मृति की रेखाएँ (सं० २००१) और पथ के साथी (सं० २०१३)।

(३) निबन्ध-संग्रह—शृङ्खला की कड़ियाँ (सं० १९९९), महादेवी का विवेचनात्मक गद्य (सं० १९९९) और क्षणदा (सं० २०१३)

महादेवीजी की गद्य-साधना

महादेवी वर्मा हिन्दी की रहस्यवादी कवयित्री हैं। उन्होंने कविता के क्षेत्र में उस समय प्रवेश किया जब हिन्दी-छायावाद अपने पूर्ण यौवन पर था। आरम्भ में वह मैथिलीशरण गुप्त से प्रभावित थीं, पर जब छायावादी रचनाओं का उनपर प्रभाव पड़ा तब वह छायावाद की ओर झुकीं। उन्होंने छायावाद और रहस्यवाद का गम्भीर अध्ययन किया और उस अध्ययन के अनुरूप ही उन्होंने अपनी कविताओं का शृङ्गार किया। छायावाद के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—'बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव भूमि पर उसने प्रकृति पर बिखरी हुई सौंदर्य सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत, सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, छायावाद और अनेक नामों का भार सम्भाल सकी।' इसी प्रकार 'यामा' की भूमिका में उन्होंने रहस्यवाद के सम्बन्ध में लिखा है—'मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक वह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से उस (प्राकृतिक) अनेक रूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप कर उसके निकट आत्म-निवेदन क

देना इस काव्य (छायावाद) का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्य-रूप के कारण रहस्यवाद का नाम दिया गया।' उनकी उक्त दोनों परिभाषाओं को यदि नपे-तुले शब्दों में व्यक्त करना हो तो कहा जायगा कि 'प्रकृति के विविध सौंदर्यपूर्ण अंगों में व्यापक चेतन-सत्ता की छाया का भाव होना छायावाद और उस व्याप्त विराट सत्ता के प्रति आकर्षण के फलस्वरूप पथ खोजने की तीव्र अभिलाषा रहस्यवाद है। इस प्रकार महादेवीजी के अनुसार छायावाद और रहस्यवाद, दो भिन्न-भिन्न काव्य-शैलियाँ हैं। वह 'प्रकृतिपरक व्यष्टि सौंदर्य-दृष्टि को आध्यात्मिक समष्टि सौंदर्य-दृष्टि की प्राथमिक सीढ़ी मानती हैं।' अपनी इस अन्तर्दृष्टि के कारण वह उपनिषदों की अद्वैत-मूलक भावना से प्रभावित होते हुए भी उससे भिन्न हैं। साथ ही वह अपने रहस्यवाद में कबीर, जायसी और मीराँ से भी प्रभावित नहीं हैं। उनका रहस्यवाद इन सब के रहस्यवाद की विशेषताओं से युक्त होने पर भी अलग है। उसकी अपनी निजी विशेषता है। और वह विशेषता यह है कि उनकी रहस्य-भावना कबीर की निराकारोपासना और मीराँ की विरह-वेदना से प्रभावित होने पर भी संसार से विरक्त नहीं है। उनकी साधना में दुःख स्वसंवेद्य है। 'रश्मि' की भूमिका में वह लिखती हैं—'अपने दुःख के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना आवश्यक जान पड़ता है। सुख और दुःख धूप-छाहीं डोरों से बुने हुये जीवन में मुझे केवल दुःख ही गिनते रहना क्यों इतना प्रिय है, बहुत लोगों के आश्चर्य का कारण है। इस 'क्यों' का उत्तर दे सकना मेरे लिए भी किसी समस्या के सुलझा डालने से कम नहीं है। संसार जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है। वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, परन्तु उस पर दुःख की छाया नहीं पड़ सकी। कदाचित् यह उसकी प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।' 'यामा' की भूमिका में अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करती हुई वह यह भी लिखती हैं—'दुःख मेरे निकट जीवन का एक ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे

असख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूंद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर, बनाए बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुःख सब को बाँटकर। विश्वजीवन में अपने जीवन को, विश्व वेदना में अपनी वेदना को, इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।' इस प्रकार उनका दुःखवाद विश्व-दुःख की प्रतिच्छाया है। उनके दुखवाद के दो रूप हैं:(१) आध्यात्मिक और (२) सामाजिक। उनका आध्यात्मिक दुखवाद उनके काव्य में चित्रित हुआ है और उनका सामाजिक दुखवाद उनके गद्य में। इसीलिए उनका गद्य उनके काव्य से भिन्न प्रतीत होता है। उनका काव्य उनकी व्यक्तिगत अनुभूतियों पर आश्रित है और उनका गद्य उनकी सामाजिक प्रवृत्तियों से अनुप्राणित है। तात्पर्य यह कि उनका काव्य आत्म-केन्द्रित है और उनका गद्य समाज-केन्द्रित। उनके गद्य की विविध विधाएँ इस प्रकार हैं:—

(१) महादेवीजी के रेखा चित्र—रेखा-चित्र गद्य की एक विशेष विधा है। जिस प्रकार एक चित्रकार कुछ टेढ़ी-मेढ़ी, कहीं बारीक और कहीं मोटी रेखाओं-द्वारा, किसी वस्तु का बिना सम्पूर्ण चित्र बनाए उससे सम्बन्धित पूरा भाव स्पष्ट कर देता है उसी प्रकार रेखा-चित्रकार घटना, पात्र, वातावरण अथवा किसी कथा का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किए बिना ही गद्य के माध्यम-द्वारा उससे सम्बन्धित भाव को पूर्णतः चित्रित कर देता है। इस प्रकार उसकी कला कहानी-कला से कुछ भिन्न होती है। डा० नगेन्द्र के अनुसार रेखा-चित्र का विषय एकात्मक होता है। उसमें एक व्यक्ति अथवा एक वस्तु ही उद्दिष्ट रहती है। कहानी का विषय एकात्मक नहीं रहता। उसमें द्वैत-भाव रहता है। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ कहानी में एक व्यक्ति अपने में कहानी नहीं बन सकता वहाँ रेखा-चित्र में एक ही व्यक्ति पर्याप्त होता है, उसे दूसरे की सापेक्षता की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके अतिरिक्त द्वैत-भाव के कारण कहानी में रेखा-चित्र की अपेक्षा रस अधिक रहता है। कहानी समाज-सापेक्ष्य होती है, इसलिए उसमें रेखा-चित्र की

अपेक्षा सामाजिकता भी अधिक होती है। फलतः कहानी का आनन्द सब लूटते हैं, रेखा-चित्र सब के आनन्द की वस्तु नहीं है। रेखा-चित्र के पाठकों का क्षेत्र सीमित होता है। एक अन्तर और है। कहानी गत्यात्मक होती है, रेखा-चित्र स्थिर होता है। रेखा-चित्र में कोई कथानक नहीं होता। उसमें लेखक के केवल भाव-चित्र होते हैं। इन भाव-चित्रों से जिज्ञासा जाग्रत हो जाती है, परन्तु उसकी तृप्ति नहीं होती। कहानी में जिज्ञासा की परितृप्ति हो जाती है। यही रेखा-चित्र और कहानी में अन्तर है। आप महादेवीजी-कृत 'स्मृति की रेखायें' और 'अतीत के चलचित्र' पढ़िए, आपको यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा। महादेवीजी की उक्त दोनों रचनाओं में अत्यन्त सुन्दर रेखा-चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। 'अतीत के चल-चित्र' में पहला चित्र 'रामा' भृत्य के जीवन का चित्र है और दूसरा एक ऐसी मारवाड़ी युवती विधवा का है जो पारिवारिक अत्याचारों से पीड़ित है। तीसरा चित्र मातृहीन बालिका 'बिन्दा' का है। बिन्दा विमाता के दुर्व्यवहार से दुखी है। इनके अतिरिक्त पितृहीन 'घीसा', पतिपरित्यक्ता 'सबिया', नेत्रहीन 'अलोपी', विधुर 'बदलू' कुम्हार आदि के अत्यन्त करुणापूर्ण चित्र हैं। 'स्मृति की रेखायें' में कुल सात चित्र हैं। इनमें पहला चित्र एक भक्तिन का और दूसरा एक परम दुखी चीनी फेरी वाले का है जो अपनी खोई हुई बहिन की खोज में कपड़ा बेचता फिरता है। इनके अतिरिक्त 'जोड़ियाल जंगबहादुर', 'मुन्नू' और उसकी माई, 'ठकुरी बाबा', 'बिबिया' धोबिन, और 'गुंगिया' तेलिन के चित्र हैं। ये सभी चित्र सरलता, करुणा और ममता की सहज प्रतिमायें हैं और वास्तविकता से पूर्ण हैं।

(२) महादेवीजी के संस्मरण—महादेवीजी ने संस्मरण भी लिखे हैं। संस्मरण भी गद्य की एक आधुनिक विधा है। इसमें किसी स्थान, किसी घटना, किसी प्रसिद्ध व्यक्ति अथवा किसी यात्रा से संबंधित मधुर स्मृतियों का अंकन होता है। इस प्रकार यह रेखा-चित्र से एक भिन्न गद्य-शैली है। रेखा-चित्र में जहाँ व्यक्ति अपरिचित अथवा काल्पनिक होता है वहाँ संस्मरण में वह वास्तविक होता है। महादेवीजी के संस्मरणों से यह अन्तर स्पष्ट झलकता है। उन्होंने आत्म-संस्मरण भी लिखे हैं और

अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों, घटनाओं और यात्राओं के सबंध में भी। उनके दोनों प्रकार के संस्मरण सजीव हैं। 'पथ के साथी' में कुल सात संस्मरण हैं जिनमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मैथिलीशरण गुप्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत और सियारामशरण गुप्त के सम्बन्ध में उनकी स्मृतियाँ जाग उठी हैं। इनके अतिरिक्त 'क्षणदा' में संगृहीत 'स्वर्ग का एक कोना' और 'सुई दो रानी डोरा दो रानी' भी उनके संस्मरण हैं जो कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट, सजीव और काव्यमय हैं।

(२) महादेवीजी के निबन्ध—महादेवीजी ने निबन्ध भी लिखे हैं जो 'क्षणदा', 'शृंखला की कड़ियाँ' और 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' में संगृहीत हैं। 'क्षणदा' में उनके दस निबन्ध हैं और 'विवेचनात्मक गद्य' में कुल छः। ये उनके साहित्यिक विषयों से सबंधित निबन्ध हैं। 'शृंखला की कड़ियाँ' में उन्होंने नारी-जीवन की समस्याओं पर विचार किया है। इसलिए उनका विषय सामाजिक है। इनके अतिरिक्त उनके कुछ निबन्ध भूमिकाओं के रूप में भी मिलते हैं। इस प्रकार उनके कुल निबन्धों की दो श्रेणियाँ हैं : (१) साहित्यिक और (२) सामाजिक। उनके साहित्यिक विषयों के निबंधों में भूमिकाओं के अतिरिक्त काव्य-कला, छायावाद, रहस्यवाद, गीति-काव्य, यथार्थ और आदर्श, सामयिक समस्या, अभिनय-कला, हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या आदि विवेचनात्मक निबंध हैं। इन से महादेवीजी की मननशीलता और अध्ययनशीलता का परिचय मिलता है। करुणा का सन्देश वाहक, संस्कृति का प्रश्न, कसौटी पर, हमारा देश और राष्ट्रभाषा, साहित्य और साहित्यकार आदि उनके विचारात्मक निबंध हैं। अपने सामाजिक निबंधों में उन्होंने केवल नारी-जीवन की समस्याओं पर ही विचार किया है। उनकी दृष्टि में नारी वर्ग अत्यन्त दुखी है। इसलिए इस वर्ग के प्रति उनके हृदय में सच्ची सहानुभूति और करुणा जाग उठी है। पतिता की दुर्दशा, विधवा की विवशता और सामान्य रूप से स्त्री-जाति की हीनावस्था पर उन्होंने अत्यन्त गंभीर दृष्टि से विचार किया है। उनके ऐसे सभी निबन्ध अत्यन्त मार्मिक और

भाव-व्यंजक हैं। प्रभाकर माचवे के शब्दों में 'उनके निबंधों की विशेषता है, उनकी भाव विभोर गहरी चिन्तनशील प्रवृत्ति जिसके कारण वे विवरण में जाकर वर्णन बहुत चित्रोपम करती हैं। काव्यमयता उनके निबंधों की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है।'

महादेवीजी की भाषा

महादेवीजी की भाषा संस्कृत-गर्भित खड़ीबोली है। हिन्दी में उनकी भाषा बेजोड़ है। उसमें कहीं भी कर्कशता और शुष्कता नहीं है। वह स्निग्ध और सरल है। अपने शब्द-चयन में वह बहुत सतर्क हैं। उनके शब्द छोटे, भाव व्यंजक और अर्थ गौरव से भरे रहते हैं। विदेशी शब्द उनकी भाषा में नहीं मिलते। वह शुद्ध साहित्यिक हिन्दी लिखती हैं। इसलिए उनका गद्य आदर्श गद्य है। उसमें भावों का एक तारतम्य तथा उत्तरोत्तर दृढ़ निबन्धन है। उनकी भाषा के दो रूप हैं: (१) सरल और (२) क्लिष्ट। उनके रेखा-चित्रों में भाषा सरल तथा निबंधों में क्लिष्ट हो गई है। इन दो प्रकार की भाषाओं पर उनके काव्यमय व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। प्रसादपूर्ण, प्रभावशाली, अलंकृत, चित्रमयी, संयत और शुद्ध भाषा लिखने में वह अत्यन्त पटु हैं। प्रसादजी की भाषा में ओज अधिक है और महादेवीजी की भाषा में नारी सुलभ स्निग्धता जो बरबस पाठकों का हृदय करुणा और ममता से भर देती है।

महादेवीजी की शैली

महादेवीजी की शैली उनकी अपनी शैली है। उनकी शैली के तीन रूप हैं: (१) विवेचनात्मक, (२) विचारात्मक और (३) भावात्मक। अपने विवेचनात्मक गद्य तथा भूमिकाओं में उन्होंने विवेचनात्मक शैली का प्रयोग किया है। उनकी यह शैली गंभीर, चिन्तन-प्रधान और विश्लेषणात्मक है। वाक्य अवसरानुकूल कहीं छोटे और कहीं बड़े हैं। 'शृंखला की कड़ियाँ' में उनकी विचारात्मक शैली है। इसमें उनकी करुणा और ममता का सहज सौंदर्य होने के साथ-साथ चिन्तन की गहराई भी है। वाक्य प्रायः छोटे, भावपूर्ण और ललित हैं। इस शैली के अन्तर्गत कहीं-

कहीं उनकी भावात्मक शैली भी मिलती है। कलात्मक अथवा आलंकारिक शैली में उनके रेखा-चित्र और संस्मरण हैं। उनकी यह शैली अधिक काव्यमय और सरल है। मुहावरों, लोकोक्तियों, उपमा और रूपक के विधान से अनुरंजित उनकी इस शैली में उनके हृदय की वाणी मिली है। इसमें उन्होंने मानवीय आकृतियों और व्यापारों के अत्यन्त सुन्दर चित्र उतारे हैं। इसलिए चित्रोपमता इस शैली का विशिष्ट गुण है। उनकी शैली के दो उदाहरण लीजिए :—

'जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता। अपने व्यक्त सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अव्यक्त सत्य के साथ वह जो कुछ होने की संभावना कर सकता है वह उसका स्थूल और सूक्ष्म है और यदि इनका एक संतुलन हो सके तो हमें एक परिपूर्ण मानव ही मिलेगा।

× × ×

दुखरी की बहू अपने कर्कशापन के लिए प्रसिद्ध है। बिखरे हुए बालों में रूखी और मैली कुचैली लटों में से एक दो उसके पपड़ी पड़े हुए ओठों पर लटकी रहती हैं। पक्के रंग का श्याम शरीर धूल के अनेक आवरणों में छिपकर इतना धूसरित हो उठता है कि मटमैली धोती उसका एक अंश ही जान पड़ती है। गोबर रूपी मेंहदी से लिप्त रंजित हाथों की प्रत्येक रेखा दुख के अनेक रहस्यमय संकेत छिपाये रहती है।